# १८वीं शताब्दी में अवध के समाज एवं संस्कृति के कतिपय पक्ष

*(SOME ASPECTS OF SOCIETY AND CULTURE OF AWADH IN 18th CENTURY)*

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

१९८९


शोधकर्त्ता

**अखिलेश जायसवाल**

शोध निर्देशिका

**डा० (श्रीमती) रीता जोशी**

रीडर, मध्य/ आधुनिक इतिहास विभाग


**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**
**इलाहाबाद**

इलाहाबाद | जून १९८९

# 18 वीं शताब्दी में अवध के समाज एवं संस्कृति के कतिपय पक्ष

## प्राक्कथन

18 वीं शताब्दी में पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक क्षेत्रीय स्वतंत्र राज्यों का अभ्युदय हुआ, जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण राज्य, अवध का था, जो तत्कालीन समय में अल्प काल में ही भारत का एक प्रमुख सामाजिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था । अभी तक अवध राज्य का मूल्यांकन राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जाता रहा । परन्तु अवध के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष का निष्पक्ष मूल्यांकन करने का अल्प प्रयत्न ही किया गया । निःसन्देह 18 वीं शताब्दी में अवध के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को भारतीय इतिहास के अध्याय में अनदेखा नहीं किया जा सकता । अवध की सभ्यता और संस्कृति ने न केवल अवध वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज एवं संस्कृति को प्रभावित किया, इसका प्रभाव आज तक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध " 18 वीं शताब्दी में अवध के समाज एवं संस्कृति के कतिपय पक्ष " में अवध के समाज एवं संस्कृति के पक्षों का एक विहंगम अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के एक महत्वपूर्ण अध्याय के अभाव की भी अभिपूर्ति करती है ।

प्रस्तुत शोध विषय पर कार्य करने की प्रेरणा मेरी शोध निर्देशिका आदरणीय श्रद्धेया डॉ० (श्रीमती) रीता जोशी, रीडर, मध्य/आधुनिक इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने ही प्रदान की । श्रद्धेया जोशी जी के प्रोत्साहन, उत्साहवर्धन, कुशल निर्देशन, अकथनीय परिश्रम एवं

स्नेहाशिर्वाद से ही यह शोध प्रबन्ध अति अल्प काल में, मात्र दो वर्षों में ही सम्पूर्ण हुआ । अतः सर्वप्रथम मैं अपने श्रद्धा सुमन उन्हीं के पावन चरणों में अर्पित करता हूँ । इसके अतिरिक्त मध्य/आधुनिक इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष प्रोफेसर राधेश्याम एवं समस्त गुरूजन वृन्द, ईश्वर शरण डिग्री कालेज के डा० जयशंकर त्रिपाठी, ए० डी० सी०, मध्य इतिहास विभाग के प्रवक्ता श्री दिलीप द्विवेदी का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित किया तथा अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया । मैं अपने विभाग के वरिष्ठ लिपिक श्री जगदीश चन्द्र मिश्रा सहित अन्य कर्मचारियों को भी शोध प्रबन्ध की पूर्णता हेतु धन्यवाद देता हूँ ।

किसी भी शोध प्रबन्ध की पूर्णता में पुस्तकालयों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है । अतः प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भी विभिन्न पुस्तकालयों का महत्वपूर्ण योगदान रहा । इस सन्दर्भ में अलीगढ़, मुस्लिम विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय , नदवतुल-उल्मा, लखनऊ तथा गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ सहित अन्यान्य शैक्षणिक संस्थाओं के प्रबन्धकों के प्रति भी मैं आभार ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने अपने ग्रंथालयों में संरक्षित महत्वपूर्ण ग्रंथों तथा पाण्डुलिपियों का अध्ययन करने की अनुमति प्रदान की । इसके अतिरिक्त मैं सर्व श्री शमीम अहमद, इफ्तेखार अहमद अजीजुर्रहमान, के०पी० जायसवाल आदि का भी आभारी हूँ, जिन्होंने इस शोध कार्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रंथों तथा पाण्डुलिपियों के अनुवाद कार्य में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया । मैं श्री राजबहादुर पटेल

तथा श्री विनोद कुमार खन्ना को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अति कुशलता से अल्प समय में ही टंकण कार्य सम्पन्न किया । मैं अपने पूज्य पिता स्व0 श्री सरयू प्रसाद जायसवाल एवं अपनी पूज्य माता श्रीमती चन्दा देवी के पावन चरणों में भी अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ, जिन्होंने सदैव अध्ययनरत रहने की प्रेरणा प्रदान की । अंत में, मैं अपने अंतरंग मित्र एवं भ्राता तुल्य श्री संजय कुमार का आजीवन ऋणी रहूँगा, जिसके तन-मन-धन तीनों के सक्रिय सहयोग से अत्यन्त दुरूहतम तथा दुष्कर शोध-कार्य सुगमता से सम्पन्न हो सका, मैं इनके इस सहयोग का आभार शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकता ।

जून- 1989,
इलाहाबाद,

अखिलेश जायसवाल
मध्य० / आधुनिक इतिहास विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ,

## विषयानुक्रम

भूमिका -

इतिहास का अर्थ सम्राटों की जीवनगाथा अथवा उनके द्वारा सम्पन्न संग्रामों का अध्ययन करना ही नहीं है, वरन् इतिहास का अर्थ अतीत के उन लुप्त तथ्यों को उद्घाटित करना है, जिनकी प्रासंगिकता वर्तमान में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इतिहास का तात्पर्य उन उत्कृष्ट तत्वों का प्राकट्यीकरण है जो सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मूल्य एवं जीवन के उच्चादर्शों को निर्धारित कर विभिन्न व्यवस्थाओं को जन्म देते हैं ।

विभिन्न वंशों और व्यवस्थाओं के परिवर्तन से सामाजिक जीवन अप्रतिम रूप से प्रभावित होता रहा है, और शनैः शनैः एक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न होती है । किन्तु जब यह परिवर्तन की गति असाधारण रूप से तीव्र हो जाती है, तब क्रांति का प्रस्फुरण होता है । जिसके परिणामस्वरूप समाज, राष्ट्र परिवेश, तथा संस्कृति में आमूल-चूल परिवर्तन होता है और इसी परिवर्तन का विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण वर्तमान परिप्रेक्ष्य में करना ही इतिहास कहालाता है । इस प्रकार इतिहास की सीमायें इतनी व्यापक हो जाती हैं कि, उनमे मानव समाज की धारा के परिवर्तन एवं परिवर्धन को प्रभावित करने वाले समस्त तत्व सम्मिलित हो जाते हैं ।

18 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब महान मुगल साम्राज्य शताब्दियों की उन्नति और प्रतिभा के पश्चात विनाश की ओर उन्मुख था और दिल्ली पर निरन्तर एक के बाद एक गहरे आघात पड़ रहे थे तो ऐसी परिस्थिति

में अनेक विभिन्न क्षेत्रीय रियासतों का उदय होना प्रारम्भ हुआ, उदाहरणार्थ अवध, अजीमाबाद, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, और बाद में रामपुर आदि ।[1] इनमें से कुछ तो थोड़े ही दिन में अपनी बहार दिखा कर समाप्त हो गए लेकिन कुछ ने विशेष ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व प्राप्त कर लिया ।

इन्हीं परिस्थितियों में 18वीं शताब्दी में पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत "अवध राज्य" का सन् 1740 ई0 में उत्कर्ष हुआ जो 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक स्वतंत्र राज्य का स्वरूप प्राप्त कर चुका था । इस नवीन राज्य के अभ्युदय ने न केवल अवध के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के प्रभावित किया, वरन् समस्त भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक धारा को एक नवीन दिशा प्रदान की । जिस समय भारतीय मानचित्र पर "अवध" का उत्कर्ष हुआ, उस समय भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा अत्यन्त चिन्तनीय थी और जिसे भारत की अस्थिर राजनीति ने स्पष्ट रूप से प्रभावित किया । ऐसे अस्थिर परिवेश में एक व्यवस्थित, संगठित तथा विकसित सामाजिक और सांस्कृतिक राज्य का उत्कर्ष निश्चय ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी । ऐसे अवध राज्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का अध्ययन एवं विश्लेषण वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

अवध एक अति प्राचीन राज्य था । आदिकाल में अवध सूर्यवंशी राजाओं का केन्द्र था । प्राचीन काल में इसे "कोसल" कहा जाता था । हिन्दू शास्त्रों के अनुसार, मनु ने सर्वप्रथम इसी को बसाया था और अयोध्या कोसल या अवध की

---

1. खान, अमजद अली- तवारीख -ए- अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0- 54,

राजधानी थी और यह सरयू नदी के तट पर स्थित थी ।[1] सन् 1847-48 ई0 में लखनऊ रेजीडेन्ट के सहायक मेजर बर्ड ने भी अपनी पुस्तक में बाल्मीकि रामायण का उदाहरण देकर अवध की महत्ता सिद्ध की । मेजर बर्ड के अनुसार नवाबों के आधीन अवध ( सन् 1855 ई0 ) का क्षेत्रफल 24000 वर्गमील था तथा जनसंख्या लगभग पचास लाख थी ।[2] परन्तु इसके पूर्व अवध का क्षेत्र और भी विस्तृत था । मुगल काल में अवध के अनेक क्षेत्र " सूबा इलाहाबाद " मे थे । सन् 1526 ई0 से सन् 1707 तक सूबा इलाहाबाद में निम्न लिखित क्षेत्र थे-चुनार, गाजीपुर, कालिंजर, कड़ा, इलाहाबाद, बलियाँ बाँदा, फतेहपुर जौनपुर, कानपुर , मिर्जापुर, प्रतापगढ़ , रायबरेली, सुल्तानपुर, मानिकपुर , जाजमऊ, कोटा, मुंगेर, भदोई तथा जलालाबाद इत्यादि । इनमें से इलाहाबाद, बनारस, जौनपुर, गाजीपुर, और मिर्जापुर अत्यन्त महत्वपूर्ण नगर थे ।[3] सन् 1801 ई0 तक अवध में इटावा, कोड़ा, कड़ा, फर्रुखाबाद, खैरागढ़, व कंचनपुर , रेहुर , अजीमगढ़, गोरखपुर, बुटवल, इलाहाबाद, बरेली, मुरादाबाद, बिजनौर , बदाँयू, पीलीभीत, शाहजहाँपुर, नवाबगंज, मोहवल, लखनऊ के अन्तर्गत दरियाबाद, उन्नाव, फैजाबाद के अन्तर्गत सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, खैराबाद के अन्तर्गत हरदोई, सीतापुर, लखीमपुर खीरी तथा बहराइच के अन्तर्गत गोंडा और मल्लावा इत्यादि क्षेत्र थे । किन्तु सन् 1801 ई0 में अंग्रेजों और अवध के नवाबो के मध्य संधि के पश्चात अवध का एक बड़ा भाग अंग्रेजो के पास चला गया और अवध का क्षेत्र सीमित हो गया । इस समय अवध में केवल निम्नलिखित क्षेत्र ही रह गए थे - लखनऊ -

---

1. खान, अजमद अली- तवारीज-ए- अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0- 53,
2. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-पृ0-47
3. वर्मा, वीरेन्द्र कुमार- सूबा इलाहाबाद - पृ0- 139

लखनऊ, दारियाबाद, उन्नाव, 2- फैजाबाद- सुल्तानपुर, फैजाबाद खास, प्रतापगढ़ खास, 3- खैराबाद-हरदोई, सीतापुर, लखीमपुर खीरी, 4- बहराइच- बहराइच, गोंडा, मल्लावाँ आदि ।[1]

अवध के पूर्व में बिहार का सूबा, पश्चिम में अकबराबाद सूबा में कन्नौज की सरकार थी, दक्षिण में इलाहाबाद की मानिकपुर की सरकार थी और उत्तर में हिमालय की पर्वत श्रेणियाँ थी । यह क्षेत्र घाघरा, सई, गोमती आदि नदियों से सिंचित था ।[2] सूबा अवध पाँच सरकारों में बँटा था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सूबा अवध की राजधानी पहले फैजाबाद थी जो अयोध्या के पास था । फैजाबाद के विकास का श्रेय नवाब शुजाउद्दौला को ही प्राप्त है । नवाब शुजाउद्दौला ने फैजाबाद में बहुत सी इमारतों का निर्माण करवाया । फैजाबाद में बहुत सी सुन्दर इमारतों का निर्माण हुआ । यहाँ का मुख्य उद्योग काष्ठ कला था।फैजाबाद का विकास नवाब शुजाउद्दौला के ही काल में अधिक हुई। किन्तु जब सन् 1775 ई0 में नवाब आसफउद्दौला ने अपनी राजधानी लखनऊ स्थानान्तरित कर ली तो फैजाबाद के प्रमुख लोग फैजाबाद छोड़ कर लखनऊ आ गए परिणाम-स्वरूप फैजाबाद का पतन होने लगा तथा लखनऊ तथा लखनऊ की संस्कृति व सभ्यता की प्रगति प्रारम्भ हो गई ।[3] लखनऊ अवध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नगर

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन पृ0- 63, देखिये चित्र संख्या - 1,
2. हई, सैय्यद अब्दुल- इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल-पृ0- 44,
3. खान, अमजद अली- तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0- 55

और राजधानी थी जो गोमती नदी के तट पर स्थित है । गोमती नदी के किनारे बसे लखनऊ का क्षेत्रफल 961 वर्गमील है। सूबे में रामपुर के बाद यह सबसे छोटा जिला है। किन्तु सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर है । इसके उत्तर में सीतापुर और उत्तर-पश्चिम में हरदोई, पूरब में बाराबंकी, दक्षिण पूर्व में रायबरेली और दक्षिण पश्चिम मे उन्नाव है । कहा जाता है कि, भगवान श्री राम बनवास के लौटने के बाद लखनऊ को अपने भाई लक्ष्मण को दे दिया और लक्ष्मण जी यहाँ कुछ रहे भी जहाँ लक्ष्मण जी रुके, वह कालांतर में " लक्ष्मण टीला" के नाम से प्रसिद्ध हो गया । इसमें ब्राह्म्मणों की भी अच्छी जनसंख्या थी । इसी ग्राम के नाम पर इस नगर का नाम लखनऊ हो गया । मिर्जा अली अजहर विरसात" लखनऊ की तहजीबी मीरास" में यह लिखते है कि, इमामबाड़ा आसफउद्दौला के उत्तर में नदी के पास जिस टीले पर आलमगीर औरंगजेब द्वारा बनवाई मस्जिद है जिसे टीले वाली मस्जिद या 'शाहपीर मोहम्मद साहब का टीला' कहते है, इसी का नाम पहले 'लक्ष्मण टीला' था । लखनऊ गोमती नदी के दाहिनी ओर स्थित है। पहले यहाँ ब्राह्म्मणों और राजपूतो की ही संख्या अधिक थी। लेकिन सन् 1160 ई० में शेख आदि सैय्यद सालार मसूद गाजी के साथ आए और लखनऊ पर अधिकार करके शासन करने लगे ।[2] मुगल बादशाह हुमायूँ सन् 1540 मे शेरशाह से परास्त होने के बाद कुछ समय के लिए ठहरा था और लखनऊ मे लोगों ने बड़ी संख्या से धन और घोड़े हुमायूं को दिया ।[3] जिससे लखनऊ की

---

1. खान, अमजद अली- तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0- 62,
2. हई, सैय्यद अब्दुल- इण्डिया इयूरिंग मुस्लिम रूल -पृ0- 45,
3. खान, अमजद अली- तवारीख ए- अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0-64,

समृद्धता का पता चलता है । बाबर की मृत्यु के पश्चात हुमाँयू और अफगानों के मध्य लखनऊ सदैव विवाद का प्रमुख कारण रहा । अकबर के काल में लखनऊ को विशेष स्थान प्रदान किया गया और शेख अब्दुर्रहीम जौनपुरी को अवध का सूबेदार नियुक्त किया । शेख जौनपुरी ने "पंचमहल" अपनी पाँच पत्नियों के लिए बनवाया । अकबर के ही काल में शहजादा सलीम ने भी लखनऊ की यात्रा की सन् 1574 में अवध के सूबेदार जवाहर खाँ के नायब कासिम महमूद बिलग्रामी ने महमूद नगर और शाहगंज मोहल्ले बसाये और चौक के दाहिनी ओर " अकबरी दरवाजे" का निर्माण करवाया । शाहजहाँ के काल में सुल्तान अली शाह कुली खाँ अवध के सूबेदार बने, इनके पुत्रों कामिल और मंसूर ने चौक के पश्चिम में "कामिल नगर" और "मंसूर नगर" का निर्माण करवाया । औरंगजेब जब अयोध्या से लौटते समय जब लखनऊ आया तो उसने 'लक्ष्मण टीले' पर एक मस्जिद बनवाई जो टीले वाली मस्जिद" के नाम से प्रसिद्ध है । औरंगजेब ने आलमनगर भी बसवाया था । शेख अब्दुर्रहीम जौनपुरी के पुत्र शेखजादे कहलाते थे इन्होनें लखनऊ में अपने को सुदृढ़ता से स्थापित कर लिया । यद्यपि शेखजादो के पास सूबेदारी नही रही लेकिन शेखों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता रहा । वे बड़ी शानोशौकत से रहते थे । सन् 1720 में नवाब सआदत खाँ बुरहानुल्मुल्क जब "अवध" के सूबेदार बने तो उन्होनें सर्वप्रथम इन शेखजादो की शक्ति तथा प्रभाव को समाप्त करने का कार्य किया । नवाब सफदरजंग ने शेखजादो के गढ़ पंचमहल और किला अपने अधिकार में कर लिया और इसका नाम " मच्छी भवन" रखा गया । नवाब ने पंचमहल की सभी इमारतों के प्रत्येक द्वार पर दो-दो मछलियाँ बनवा दी।[1]

---

1. वर्मा परिपूर्णानन्द- वाजिद अली- शाह और अवध राज्य का पतन- पृ0- 84

इसी समय से यह प्रथा प्रारम्भ हो गई कि लखनऊ मे प्रत्येक मकान के मुख्य द्वार पर दो-दो मछलियाँ बनवाई जायें ।[1] लेकिन लखनऊ में वास्तविक उन्नति तब प्रारम्भ हुई जब सन् 1785 ई0 में नवाब आसफउद्दौला ने लखनऊ को राजधानी बनवाया और लखनऊ के विकास को देखकर मीर हसन देहलवी यह कहने पर विवश हो गए कि -

रहे . नित आसफउद्दौला सलामत कि जिसने की यहाँ सरे अकामत ।
इमारत की यहाँ वह उसने बुनियाद कि नजारे से हो जिसके जहाँ शाद ।
मिटा दी उसने सब यहाँ की कुदूरत।बुराई।बना दी लखनऊ की एक सूरत ।

नवाब आसफउद्दौला ने अपना इमामबाड़ा दौलतखाना, रेजीडेंसी, और ऐशबाग इत्यादि इमारते बनवाई ,[3] और बर्तन की कला के लिए यह एक प्रसिद्ध नगर था । लखनऊ बहुत से प्रसिद्ध संतो और विद्वानों का गृह नगर था, उदाहरणार्थ - शेख मोहम्मद आजमशाह, शाह मोहम्मद मीना, शेख अब्दुल कादिर, मुल्ला निजामुद्दीन और उनके पुत्र मुल्ला बहरूल उलूम आदि ।[4]

" बहराइच" भी एक अच्छा नगर था और यहाँ सैय्यद सालार मसूद गाजी की मजार थी । "गोरखपुर" हिमालय के दक्षिण में तराई में स्थित है । गोरखपुर से " साखू" की लकड़ी का निर्यात किया जाता था । लखनऊ

---

1. खान, अमजद अली- तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0- 64,
2. खान, अमजद अली- तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा, पृ0- 64,
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन- पृ0 85,
4. हई, सैय्यद अब्दुल- इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल- पृ0- 47,

की सरकारों में " उन्नाव" एक नया कस्बा था जो पहले एक गाँव था और ग्राम से कस्बे के रूप में विकसित हुआ था । "घोसी" गोरखपुर से संलग्न एक कस्बा था । 'बिलग्राम' कन्नौज के पास एक प्रसिद्ध नगर था जो 18 वीं शताब्दी में प्रसिद्ध विद्वानों का जन्म स्थान था । उदाहरणार्थ, मौलाना सैय्यद गुलाम अली आजाद तथा अल्लामा सैय्यद मुर्तजा आदि । लखनऊ सरकार के अंतर्गत एक कस्बा" हरदोई" था। बिलग्राम के पास "गोपामऊ" नामक कस्बा था जो काजी मुबारक और मुफ्ती वजीउद्दीन जैसे धार्मिक नेताओं की जन्म-स्थली थी, जिनका अवध के निवासियों पर अत्यन्त गहरा प्रभाव था । "बाराबंकी" के पास "पिहानी" नामक एक कस्बा था जहाँ शेख कुतुबुद्दीन अंसारी पैदा हुए थे । " फतेहपुर " पिहानी के पास एक कस्बा था जहाँ प्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान शेख हसन, शेख अब्दुल गनी, तथा मौलाना कमालुद्दीन आदि उत्पन्न हुए । बाराबंकी के ही पास " बनसा" नामक एक बड़ा कस्बा था जहाँ प्रसिद्ध संत अब्दुल शाह, अब्दुर्रज्जाक आदि उत्पन्न हुए । " खैराबाद" एक घनी जनसंख्या वाला महत्वपूर्ण नगर था जो अवध का एक प्रमुख प्रशासनिक केन्द्र भी था । यहाँ भी अनेक विद्वान उत्पन्न हुए, उदाहरणार्थ- शेख सादुद्दीन मुहद्दिस , शेख अब्दुल हक आदि । अमेठी भी लखनऊ का एक प्रसिद्ध कस्बा था । लखनऊ के दक्षिण में बिजनौर घनी जनसंख्या वाला कस्बा था, दरियाबाद, काकोरी, संडीला आदि भी प्रसिद्ध कस्बे थे ।[1] इस प्रकार अवध की राजधानी पहले फैजाबाद थी लेकिन नवाब आसफउद्दौला के काल में अवध की राजधानी लखनऊ हो गई

---

1. हुई, सैय्यद अब्दुल- इण्डिया ड्युरिंग मुस्लिम रूल-पृ0- 47,

और लखनऊ तब से आज तक उत्तर प्रदेश की राजधानी है । अवध में फैजाबाद और लखनऊ के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण नगर तथा कस्बे थे जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इनमे बहुतायत मात्रा में हिन्दू-मुसलमान सभी रहते थे, और अवध एक समृद्ध, एवं घनी जनसंख्या वाला सूबा था।

सूबा "अवध" की सूबेदारी तथा " नवाब वजीर" का पद मुहम्मद अमीन सआदत खां को सन् 1732 ई० मे ही प्राप्त हुआ था । मुहम्मद अमीन नैशापुर के ईरानी सौदागर थे । परवर्ती मुगल बादशाह मुहम्मदशाह से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया और मुगल दरबार में इनके प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती गई । परिणामस्वरूप शीघ्र ही इन्हे आगरा तथा अवध की सूबेदारी प्राप्त हो गई और सन् 1732 ई० में सआदत खाँ को "नवाब बुरहानुल्मुल्क" की उपाधि प्राप्त हुई । सन् 1739 ई० में नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात नवाब बुरहानुल्मुल्क ने आत्महत्या कर ली ।[1]

नवाब बुरहानुल्मुल्क की मृत्यु के बाद नवाब सफदरजंग ने 17 वर्ष तक शासन किया । इनका काल सुख और शांति का काल था । नवाब सफदरजंग को हिन्दुओं से कोई परहेज नहीं था । संभवतः इसी कारण नवाब सफदरजंग ने इटावा के निवासी नवल राय को इलाहाबाद का प्रधान बनाया था । इसके अतिरिक्त महाराजा टिकयतराय, महाराजा झाऊलाल, राजा खुशहाल राय, टीकाराम, मंगलसेन, कुँवरसेन बख्शी भोलानाथ आदि प्रमुख उच्च अधिकारी थे जो हिन्दू थे ।[2]

---

1. खान, अमजद अली-तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0- 7।
2. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-पृ0- 86,

तत्पश्चात सन् 1756 ई0 में अवध में तृतीय नवाब शुजाउद्दौला गद्दी पर बैठे । नवाब शुजाउद्दौला को बक्सर की पराजयके बाद सन् 1765 में अंग्रेजो से एक संधि करनी पड़ी और वास्तव में इसी संधि के पश्चात ही अवध राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया और आर्थिक रूप से अवध दुर्बल होता चला गया। क्योंकि इस संधि के अनुसार अवध के नवाब शुजाउद्दौला को 50 लाख रूपया युद्ध क्षति के रूप मे देना पड़ा तथा "इलाहाबाद" मुगल बादशाह को देना पड़ा और अवध में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट रखना स्वीकार करना पड़ा । मेजर बर्ड के अनुसार, सन् 1765 की संधि से लेकर सन् 1856 तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अवध से पचास करोड रूपया प्राप्त किया था ।[1] इस प्रकार नवाब शुजाउद्दौला के ही काल से अंग्रेजों का अवध में हस्तक्षेप बढ़ने लगा जिसकी परिणति सन् 1856 ई0 के अवध के अधिग्रहण के रूप में हुई। नवाब शुजाउद्दौला ने सन् 1775 तक राज्य किया ।[2]

नवाब शुजाउद्दौला के पश्चात उसका पुत्र नवाब आसफउद्दौला सन् 1775 ई0 मे अवध के नवाब बने । अवध के प्रथम नवाब सआदत खाँ बुरहानुल्मुल्क ने आगरा के बाद अपनी राजधानी फैजाबाद को बनाया था । वे लखनऊ भी आए थे उस समय लखनऊ गोमती नदी के तट का एक छोटा सा कस्बा था । नवाब बुरहानुल्मुल्क को यह जगह पसन्द आ गई और उन्होनें कुछ बाग लगवाय तथा अनेक महलों का भी निर्माण करवाया । इन्होनें कालान्तर

---

1. वर्मा पुरिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-88
2. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन- 88
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन- 88

में लखनऊ को राजधानी बनाने का निश्चय कर लिया था किन्तु उनकी आकस्मिक मृत्यु और राजनैतिक अस्थिरताओं के कारण अवध की राजधानी लखनऊ स्थानान्तरित न हो सकी । किन्तु नवाब आसफउद्दौला के काल में जब स्थिति में कुछ सुधार हो गया तो नवाब ने अपनी राजधानी फैजाबाद से लखनऊ सन् 1775 से स्थानान्तरित की । फलतः फैजाबाद के स्थान पर लखनऊ विकसित होने लगा ।[1] सन् 1797 में नवाब आसफउद्दौला के मृत्योपरान्त उनके पुत्र मिर्जा अली उर्फ वजीर अली अवध के नवाब बने किन्तु एक वर्ष के बाद ही इनकी मृत्यु हो गई । तत्पश्चात् सन् 1798 ई0 में नवाब सआदत अली खाँ अवध के नवाब बने जिन्होंनें सन् 1814 ई0 तक शासन किया । नवाब सआदत अली खाँ के पश्चात सन् 1814 से 1827 तक बादशाह गाजीउद्दीन हैदर, सन् 1827 से सन् 1837 ई0 तक नसीरूद्दीन हैदर, सन् 1837 से सन् 1842 ई0 तक मुहम्मद अली शाह, सन् 1842 से 1847 तक अमजद अली शाह, अवध के नवाब बने । अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह थे जिन्होंनें सन् 1847 से 1856 तक अवध पर राज्य किया और अंत में जब अंग्रेजो ने 1856 में अवध राज्य छीन लिया तो नवाब को कलकत्ता मे मटियाबुर्ज में बन्दी बना लिया । जहां उनकी मृत्यु भी हो गई । नवाब वाजिद अली अवध के ग्यारहवें नवाब थे । पिछले पाँच नवाब "बादशाह" का खिताब पा चुके थे । अवध में नवाब वजीर या बादशाहत अर्थात नवाबी शासन कुल 136 वर्ष तीन माह और चौबीस दिन रहा । इस युग में बादशाहत 37 वर्ष रही । नवाब वजीर गाजीउद्दीन हैदर को अंग्रेजों ने रूपये की लालच

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द-वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन- 88.

में सन् 1819 ई0 में "बादशाह" का खिताब दे दिया था ।[1]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैने अवध के सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है । भारतीय मुस्लिम संस्कृति का प्रारूप मुगल काल में प्रायः सुनिश्चित हो चुका था और भारतीय मुस्लिम संस्कृति इसी काल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी । परन्तु 18 वीं शताब्दी में जब मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हुआ और क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हुई तो भारतीय मुस्लिम संस्कृति के विभिन्न केन्द्र स्थापित हो गए जिनमे अवध सर्व प्रथम था । अवध के नवाब न केवल मुगल सामान्त थे वरन् मुगल सांस्कृतिक परम्परा से भी भली-भाँति परिचित थे, उनके साथ और कालान्तर में अनेक वरिष्ठ राजनेताओं के साथ-साथ विद्वान साहित्यकार, कलाकार आदि भी अवध में आ बसे । स्वाभाविक था कि, मुगल संस्कृति का विशेष प्रभाव इस राज्य पर पड़ा था । किन्तु मुगल परम्परा का समावेश स्थानीय परम्पराओं मे हुआ और धीरे-धीरे एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ । जिसे कुछ लोगों ने " लखनवी संस्कृति" का नाम दिया । नवाबों को संगीत, नृत्य और उर्दू साहित्य में विशेष अभिरूचि थी । इन क्षेत्रो में अनेक प्रयोग किए गए जिससे अवध का सांस्कृतिक विकास इतनी तीव्रता से होना सम्भव हुआ ।

अवध के नवाब शिया मतावलम्बी थे इसलिए सुन्नी और शिया मतावलम्बियों के मध्य टकराव की सम्पूर्ण सम्भावना थी । अवध में 18 वीं

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-90,

शताब्दी में सुन्नी और शिया मतावलम्बियों के अतिरिक्त हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म के लोग भी उपस्थित थे ।[1] राजनैतिक अस्थिरता के काल में धार्मिक अराजकता की संभावना थी । अंग्रेजों की उपस्थिति ने न केवल राजनैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न की थी वरन् अपने साथ जो पाश्चात्य सभ्यता लाए थे, उनका भी धीरे-धीरे प्रभाव बढ़ रहा था। इस प्रकार अवध के राज्य में 18 वीं और 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की विवेचना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । इन सभी कठिनाइयों के बावजूद अवध एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में उभरा, जिसकी की चर्चा आज तक की जाती है । इस प्रकार 18 वीं शताब्दी का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास बहुत रोचक प्रतीत होता है, जिसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है।

---

1. सीताराम, अवधवासी- अयोध्या का इतिहास- पृ0- 113-14.

# भाग - एक

## 18 वीं शताब्दी मे अवध का समाज

अध्याय - 1

मुस्लिम हिन्दू समाज का वर्गीकरण -
---

किसी भी देश के समाज का स्तर उस काल के लोगों के खान-पान, वेशभूषा तथा रहन-सहन, नैतिक आचरण, जीवन का उपभोग करने के लिए समुचित सुविधाओं की उपलब्धियों, यातायात के साधनों, उनके आचार-विचार में परिवर्तनों, उनके जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा, रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं शिक्षा एवं साहित्य, सभ्यता के स्तर को देखकर ही आँका जा सकता है । प्रदेशक देश के निवासियों की सभ्यता एवं संस्कृति वहाँ की जलवायु, प्राकृतिक साधनों, भूमि की उर्वरता, भौगोलिक स्थिति व विभिन्न प्रदेशों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों व वाह्य देशों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करती हैं । यह सभी बातें भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के रहने वाले बहुभाषी, अनेक मतावलम्बी, विधि वेशभूषा वाले, बहुजातीय तथा विभिन्न संस्कारों, रीति-रिवाजों का पालन करने वाले हिन्दू-मुस्लिम समाज के विभिन्न वर्गों, जातियों के लोगों पर लागू होती है, जिसके कारण भारतीय समाज व संस्कृति निरन्तर बहुरंगी, परिवर्तनशील तथा गतिशील रही । भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की महान विशेषता विविधता में एकता है ।

प्रत्येक समाज सदैव से अनेक वर्गों में विभक्त रहा, विशेषता दो भागों में । समाज का एक वर्ग अत्यधिक प्रभावशाली होता था और दूसरा वर्ग

जो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा होता था । यहाँ वर्ग वह वर्ग है, जिसके जीवन में कोई चमक-दमक नहीं होती, खुशहाली नहीं होती थी । इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन शहरों तथा ग्रामीण वर्ग में भी विभक्त होते हैं । नगरीय समाज में परिवर्तन ग्रामीण समाज की अपेक्षाकृत कहीं अधिक तीव्र होता है । 18 वीं शताब्दी के अवध में समाज का यही स्वरूप था।

अवध राज्य के संस्थापक नवाब सआदत बुरहानुल्मुल्क सन् 1719 ई0 में अवध के सूबेदार बने और इनका वंश सन् 1857 तक सत्ता में स्थापित रहा ।[1] इस काल में अवध के सामाजिक जीवन का केन्द्र पहले तो फैजाबाद था किन्तु बाद में लखनऊ बन गया ।[2] अवध में अवधी भाषा बोली जाती थी जो 18 वीं शती में उन्नति के पथ पर थी और अवध में अच्छा साहित्य उपस्थित था। यह अवध के हिन्दुओं और मुसलमानों की संयुक्त भाषा थी और अवध के कस्बों और शहरों में बोली जाती थी ।[3] नवाबी राज्य की स्थापना के पूर्व यहाँ भी एक विशिष्ट संस्कृति विद्यमान थी।[4] तथा इनके अपने अलग रीति-रिवाज थे । ये रीति-रिवाज चार-पाँच सौ वर्षों से अवध की खनकाहों, शिक्षा केन्द्रों तथा कस्बों के दरबारों के कारण अत्यन्त सुदृढ़ तथा उन्नतशील हो गई थी । किन्तु जब ईरान से आए हुए नवाबों की संस्कृति का आगमन हुआ तो ऐसा प्रतीत होता है कि, अवध में भारी उथल-पुथल हुआ होगा । अवध के सम्बन्ध में मौलाना अब्दुल हलीम शरर का यह कथन है कि अवध का भी दरबार एक ऐसा दरबार था जो बहुत ही अजीबोगरीब तरीके से बना और अतिशीघ्र समाप्त हो गया, अवध भारत में पूर्वी सभ्यता का अन्तिम उदाहरण है ।[5]

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द-वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-पृ0-76,
2. खान, अमजद अली- तवारीख-ए- अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0-47,
3. हई, सैय्यद अब्दुल-इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल-पृ0-62,
4. शरर, अब्दुल हलीम-गुजिश्ता लखनऊ- पृ0-8,
5. शरर, अब्दुल हलीम-गुजिश्ता लखनऊ- पृ0-8.

मौलाना शरर का यह कथन यद्यपि अतिशयोक्ति पूर्ण है, किन्तु फिर भी इस कथन से अवध के समाज और संस्कृति की महत्ता स्पष्ट होती है ।

चूँकि 18 वीं शताब्दी में सिपाहियाना शौक समाप्त हो गया था अतः अवध के दरबारी और अमीर अपना समय संगीत, नृत्य, गायन एवं चुटकुलों आदि में व्यतीत करने लगे । अवध का उमरावर्ग भी राज्य की शान्ति एवं व्यवस्था के प्रति उदासीन हो गया क्योंकि इसके लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना उपस्थित थी । इसलिए दरबार के रखरखाव पर अत्यधिक धन व्यय किया जाने लगा । लखनऊ की जागीरदाराना संस्कृति ने ईरानी, मुगल तथा भारतीय मिश्रण से एक नवीन समाज की रचना की जिसमे बनावट, सजावट, लचक और रंगीनी के साथ-साथ खोखलापन भी था ।[1]

शाही वर्ग -

अवध के संस्थापक नवाब सआदत खान बुरहानुल्मुल्क [ सन् 1720 ई0- सन् 1739 ई0 ] और नवाब अबुल मंसूर खॉं सफदरजंग [ सन् 1739ई0- सन् 1756 ई0] का अधिकतर समय दिल्ली और वहॉं की राजनीति में ही व्यतीत हुआ । उन्होनें अपने राज्य की व्यवस्था अपने नायबों के द्वारा ही संचालित की तथा उन्हें अनेक युद्धों में संलग्न रहना पड़ा । इसलिए उन्हें शान्तिपूर्ण ढंग से जीवन व्यतीत करने का समय ही नही मिला । परन्तु अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला [ सन् 1756 ई0- सन् 1775 ई0] का सम्बन्ध दिल्ली की राजनीति से न के बराबर रहा और मुगल बादशाह शाहआलम ने शुजाउद्दौला को वजीर-उल-मुल्क नियुक्त कर दिया था । इस समय तक शाह आलम चूँकि अंग्रेजों के प्रभाव में था, अतः राज्य की शासन व्यवस्था से उसका कोई सक्रिय सम्बन्ध नही रह गया था। ऐसी परिस्थिति में यद्यपि वजीर उलमुल्क का पद प्रभावहीन हो गया था, किन्तु फिर भी नवाब शुजाउद्दौला ने इस पद को

1. बारी. डॉ0सैयद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरीवसकाफती पस मंजर-पृ0-103

स्वीकार किया, जिससे अवध की जनता में उसका प्रभाव बढ़ सके । इसी लिए नवाब शुजाउद्दौला का अधिकतर समय अपने राज्य में व्यतीत होता था, और वह स्वयं शासन प्रबन्ध का संचालन करता था । नवाब शुजाउद्दौला प्रातः काल ही सैनिक छावनियों में सिपाहियों की परेड, घुड़सवार दस्ते तथा तोपखाने का निरीक्षण करते थे । तत्पश्चात नौ बजे दरबार लगता था, उसके पश्चात दरबार की समाप्ति पर नवाब जनानखाने में जाते और बहू बेगम के साथ भोजन करते । तत्पश्चात सायंकाल घूमने जाते तथा कभी-कभी शिकार पर भी जाते थे ।[1] नवाब शुजाउद्दौला को भ्रमण करने एवं शिकार पर जाने का अत्यधिक शौक था । वह छः माह अपने राज्य में भ्रमण करने व शिकार करने में व्यतीत किया करते थे । वर्षा ऋतु में नवाब शुजाउद्दौला फैजाबाद में ठहरते थे ।[2] नवाब ने फैजाबाद में शिकारगाह का प्रबन्ध किया था ।[3]नवाब शुजाउद्दौला को " जंग-ए-फिलान" नामक खेल देखने का बहुत शौक था । एक बार जब शुजाउद्दौला यह दृश्य देख रहे थे तो इसमें लगभग पचास हजार दर्शक उपस्थित थे और जब विजयी हाथी ने पराजित हाथी का पीछा किया तो वह हाथी दर्शक दीर्घा में आ गया जिसके परिणामस्वरूप अनेक दर्शक मारे गए थे ।[4] इस घटना से यह सिद्ध होता है कि यह खेल अवध के लोकप्रिय खेलों में

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद-" 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद, पृ0- 480
2. रामपुरी , नजमुलगनी खाँ- तवारीख-ए-अवध- पृ0- 156,
3. बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-6, अंग्रेजी अनुवाद-विलियम हई,
4. दास, हरचरन-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0-194-201,

से एक था ।

नवाब शुजाउद्दौला को स्त्रियों का साथ बहुत पसन्द था अतः नवाब के लिए एक मीनाबाजार का भी प्रबन्ध किया जाता था । यह मुगल परम्परा थी, मुगल काल के अनेक समकालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में इस प्रकार के मीनाबाजार का स्पष्ट उल्लेख है, जिसमें शासक उपस्थित होता था और स्त्रियाँ दुकानदार के रूप में होती थीं । हरचरन दास का कथन है कि, एक बार शाबान की अठारह तारीख और 1184 हिजरी को नवाब तथा उनके अमीर-उमरा जब घूमने निकलें तो इस अवसर पर वेश्याओं, भाण्डों, नर्तकियों तथा संगीतकारों की भी भीड़ साथ में होती थी ।[1] नवाब शुजाउद्दौला को नृत्य एवं गायन से भी बड़ी रूचि थी । फैजाबाद में बड़ी संख्या में ऐसी नर्तकियाँ थीं जो नवाब शुजाउद्दौला के दरबार से सम्बद्ध थी ।[2] नवाब की रूचि की यह चरम परिणति थी कि, यात्रा के समय भी नर्तकियाँ नवाब के साथ होती थीं ।[3] हरचरन दास के अनुसार, नवाब शुजाउद्दौला के महल में बहुत सी स्त्रियाँ " निकाही "[4] और " मुताई "[5] थीं । इनके अतिरिक्त नवाब की सेवा में लगभग दो हजार सेविकायें भी थीं ।[6] नवाब शुजाउद्दौला भोग-विलास में अत्यधिक लिप्त रहते थे । कुछ "कुटनियाँ" भी नवाब ने

---

1. दास, हरचरन-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 202,
2. मोहम्मद फैजबख्श-तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-9-10, अंग्रेजी अनुवाद-डब्ल्यू. हई,
3. दास, हरचरन-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 201,
4. निकाही-निकाही वह स्त्रियाँ थी, जिनसे नवाब ने निकाह किया था ।
   - श्रीवास्तव, हेमलता-भारतीय समाज की संरचना- 301,
5. मुताई- मुताई वह स्त्रियाँ होती थीं जो रखैल की भाँति होती थी ।
   - श्रीवास्तव, हेमलता भारतीय समाज की संरचना- 301,
6. दास, हरचरन-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0-221-222,

नियुक्त कर रखे थे, जो स्थान-स्थान से सुन्दर स्त्रियाँ नवाब के लिए लाती थीं। अत्यधिक भोग-विलास के ही कारण नवाब शुजाउद्दौला अन्तिम समय में अस्वस्थ रहने लगे और इसी में उनकी मृत्यु भी हो गई।[1] जार्ज फोस्टर नामक विदेशी भी यह लिखते है कि, नवाब शुजाउद्दौला भोग विलास में लिप्त रहता था उसके हरम की संख्या आठ सौ के लगभग थी और इसमें से पचास वैध सन्तानें थी।[2] इन पत्नियों में से एक पत्नि का स्थान श्रेष्ठ और सम्मान जनक होता था, उदाहरणार्थ बहू बेगम। नवाब आसफउद्दौला बहू बेगम के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, शेष सन्तानें दूसरी पत्नियों से हुई थीं।[3]

नवाब शुजाउद्दौला के मृत्योपरान्त उसका पुत्र नवाब आसफउद्दौला [सन् 1775 ई0- सन् 1797 ई0] गद्दी पर बैठा। नवाब आसफउद्दौला भी भोग-विलास तथा मदिरापान, नृत्य-गायन और इसी प्रकार के आमोद-प्रमोद में लिप्त थे।[4] समकालीन लेखक मोहम्मद फैजबख्श यह लिखते है कि, नवाब दिन-रात विलासिता में लिप्त रहते थे, वे दरबार से बेखबर रहते थे तथा भविष्य की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं था।[5] नवाब आसफउद्दौला के भोग-विलास का उल्लेख समकालीन लेखक खुब चन्द जका ने भी

---

1. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ - तवारीख-ए- अवध - पृ0- 6-15,
2. ट्यूनिंग, थामस- ट्रैवल्स इन इण्डिया-पृ0- 213-214,
3. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ-तवारीख-ए-अवध-पृ0-305-310,
4. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआनिरात मीर का अहद, पृ0- 640
5. बख्श, मोहम्मद, फैज-तारीख-ए- फरहबख्श-पृ0- 24-103-अनुवाद- डब्ल्यू हई,

अपने ग्रंथ में किया है ।[1] यद्यपि नवाब विलासी था लेकिन फिर भी नवाब राजकाज में भी समय देते थे । नवाब प्रातः देर से उठते थे क्योंकि उन्हे अफीम खाने की भी लत थी । नवाब उठने के बाद सैर-सपाटे पर निकल जाते थे । नवाब को शिकार का भी शौक था और उनके शिकार पर जाने का ढंग भी बहुत मनोरंजक होता था । उनके हर ठहराव पर ऐसा लगता था मानो लखनऊ शहर ही बस गया हो, इस अवसर पर लाखों रुपया खर्च किए जाते थे । दो बार तो समकालीन अवध के प्रख्यात शायर मीर तकी मीर भी उनके साथ गए और उन्होनें अपने शिकारनामे में विस्तार से नवाब के शिकार पर जाने का विवरण प्रस्तुत किया है ।[2] नवाब को प्रारम्भ से ही मदिरापान का शौक था, बाद में वह भाँग और अफीम भी खाने लगे थे और इसी कारण वह प्रशासनिक कार्यों को सुचारू रूप से नहीं देख पा रहे थे ।[3] यद्यपि समकालीन अंग्रेज लेखक ट्युनिंग ने यह लिखा है कि नवाब को स्त्रियों में कोई दिलचस्पी नहीं थी लेकिन फिर भी तत्कालीन प्रथा के अनुरूप नवाब के हरम में पाँच सौ सुन्दर स्त्रियाँ थी ।[4] बहुत सी पत्नियाँ होने के कारण नवाब की संताने भी बहुत थी ।[5]

नवाब आसफउद्दौला के पश्चात नवाब वजीर अली गद्दी पर बैठे

---

1. जका, खूबचन्द- अय्यारुल-शोयरा-पृ0- 4,
2. अमर , डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद, पृ0- 480
3. राम्पुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध- पृ0- 275,
4. ट्युनिंग, थामस, ट्रैवल्स इन इण्डिया- पृ0- 311,
5. लन्दनी, अबुतालिब- तफजीहुल गाफलीन - पृ0- 135,

[ सन् 1797 ई0-सन् 1798 ई0] इनका काल बहुत अल्प था । इनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि, नवाब वजीर अली का चरित्र और भी खराब था तथा यह अयोग्य और अलोकप्रिय शासक था ।[1] नवाब वजीर अली के पश्चात नवाब सआदत अली खाँ [ सन् 1798 ई0-सन् 1814 ई0] गद्दी पर बैठे । नवाब सआदत अली खा भी विलासी प्रकृति थे और इनकी विलासिता का वर्णन समकालीन अवध के शायर इंशा उल्ला खाँ इंशा ने अपनी रचनाओं में विस्तार से किया है ।[2] इंशा के अनुसार, नवाब को कबूतरबाजी का भी बहुत शौक था और सन् 1800 ई0 के लगभग प्रतापगढ़ की यात्रा के समय तो नवाब के ससाथ पूरा कबूतर खाना ही था ।[3] नवाब सआदत अली खाँ को घुड़सवारी का भी बहुत शौक था । ईरानी, तुर्किस्तानी, अरबी, आदि विभिन्न प्रकार के उच्चकोटि के घोड़े नवाब सआदत अली खाँ के अस्तबल में थे । उनके रख-रखाव पर लाखों रूपया व्यय किया जाते थे । अपने घोड़ों के लिए नवाब विशेष रूप से विलायती घास मँगवाते थे तथा उनकी खेती भी करवाते थे इन घोड़ों के बच्चों को गाय का दूध पिलाया जाता था तथा दाना दूध में भिगो कर खिलाया जाता था ।[4] इस प्रकार नवाब सआदत अली खाँ को घोड़ों में विशेष रूचि थी । सुबह उठ कर सर्वप्रथम नवाब घुड़सवारी करते थे । घुड़सवारी के समय नवाब अंग्रेजी वस्त्र पहनते थे । घुड़सवारी के समय दो विशेष चोबदार उनके दायें तथा बाँए चलते थे और साथ में कुछ शिकारी कुत्ते भी होते थे । तत्पश्चात

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद पृ0- 48।
2. इंशा, इंशाउल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 258,
3. इंशा, इंशाउल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 41,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ-तवारीख-ए-अवध-पृ0-46-47,

लगभग नौ बजे नवाब स्वल्पाहार लेते, इस अवसर पर उनके विशेष दरबारी शमशादउद्दौला, मिर्जा मंझू, मिर्जा मोहम्मद तकी खाँ, नवाब मिर्जा अली खाँ, इंशा उल्ला खाँ, "इंशा" तथा मीर अबुकासिम खान तथा ख्वाजा सरा आदि उपस्थित रहते थे, बाहर बरामदे में अंग्रेजी बैन्ड बजता था ।[1] इस अवसर पर अंग्रेजी बैण्ड एवं अंग्रेजी वस्त्रों के प्रयोग से आंग्ल प्रभाव दृष्टिगोचर है । स्वल्पाहार के पश्चात दरबार लगता और लगभग ग्यारह बजे दरबार स्थगित हो जाता । तत्पश्चात कुछ समय के लिए नवाब विश्राम करते तथा महल सरा में बैठ कर हुक्का पीते थे । तत्पश्चात् लगभग बारह बजे पुनः दरबार लगता और नवाब आय-व्यय के कागजात का निरीक्षण करते थे । सायंः नवाब पुनः बग्घी पर घूमने निकलते थे, कभी-कभी कोचवान के स्थान पर स्वयं बग्घी चलाने लगते[2] जो उनकी घुड़सवारी के प्रति शौक का ही द्योतक है ।वर्ष में दो बार रेजीडेंसी में ब्रिटिश सम्राट की सालगिरह तथा क्रिसमस के समारोह होते थे जिसमें नवाब बड़े उत्साह से भाग लेते और साठ-सत्तर हजार रूपया व्यय करते थे । नवाब सआदत अली खाँ के समय शुक्रवार के दिन अर्थात् "जुमे" के दिन दरबार-ए-आम लगता था ।[3] नवाब सआदत अली खाँ

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद - पृ०- 477-78,
2. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ०- 477-482,
3. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-रुक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ०-92,

को शिकार का भी अत्यधिक शौक था और वह अक्सर अमेठी तथा इलाहाबाद में शिकार खेलने जाते थे तथा इस अवसर उनके साथ हजारों आदमियों का काफिला साथ होता था ।[1] इंशा उल्ला खाँ इंशा ने भी दो शिकारनामें नवाब सआदत अली खाँ के सन्दर्भ में लिखे हैं ।[2] नवाब सआदत अली खाँ नशाबन्दी के समर्थक थे और उनके समय में शहर में मुहर्रम या होली जैसे त्यौहारों पर पाँच कोस के ईर्द गिर्द शराब नहीं बिक सकती थी । एक बार नगर के एक मुंशी ने इस नशाबन्दी के विरोध में एक शेर नवाब के पास लिख भेजा कि -

" कुफमंय अयुयामे होली के कहो क्या कीजिये ।
जी में आता है कि इस सूरत को कंठी लीजिये ।।
गर तमाशा कायथों का देखना मंजूर हो ।
शाह दो दिन के लिए हमको इजाजत दीजिए ।।

मुंशी जी की इस प्रार्थना पर नवाब ने लिखा कि, "मुहतसिवरा दोरूने खाना चिकार" अर्थात कोतवाल का काम घरों के अन्दर जाना नहीं है, अर्थात् घर में बैठ कर पीने की इजाजत है ।[3] इस प्रकार नवाब यह चाहते थे कि उनके राज्य में त्यौहारों पर किसी प्रकार की अराजकता और अशान्ति न हो और इसी कारण से उन्होंने नशाबन्दी लागू की ।

अवध के नवाबों में अन्ध विश्वास भी व्याप्त था, वह ज्योतिषियों

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-रूक्कात-ए- मिर्जा कतील-पृ0- 40,
2. जायर , मिर्जा मोहम्मद मीर- कैसरूत्तवारीख- पृ0- 180-181,
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन= पृ0- 105,

पर अत्यधिक विश्वास करते थे, उदाहरणार्थ नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग की ज्योतिषशास्त्र में गहरी रूचि थी वह कोई नया काम करते या रणभूमि में जाकर युद्ध करते तो अपने ज्योतिष से अवश्य परामर्श करते थे ।[1] नवाबों में एक अन्य अंधविश्वास यह प्रचलित था कि, जब किसी नवाब की मृत्यु हो जाती थी तो उनका उत्तराधिकारी कभी भी शव के साथ कब्रगाह तक नहीं जाता था। इसीलिए नवाब प्राय: अपने "वली अहद"[2] के लिए महल बनवा देते थे । यह प्रथा नवाब आसफउद्दौला के काल से प्रारम्भ हुई थी ।[3] इसके अतिरिक्त अवध के नवाबों में गोद लेने की भी प्रथा प्रचलित थी । नवाब आसफउद्दौला का कोई पुत्र नही था अत: उन्होनें एक निर्धन लड़के को गोद लिया और उसका नाम वजीर अली रखा, तत्पश्चात् और भी लड़को को गोद लिया उदाहरणार्थ- रजा अली, शुजाअली और दयानत अली आदि । परन्तु इनमें से वजीर अली अधिक योग्य और प्रतिभा सम्पन्न निकला और वही नवाब आसफउद्दौला के पश्चात गद्दी पर भी बैठा ।[4]

शाही हरम :

अवध के नवाबों के हरम के सम्बन्ध में और स्त्रियों के सम्बन्ध में समकालीन ग्रंथों में बहुत कम विवरण प्राप्त होता है, संभवत: इसका मुख्य कारण

1. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया पृ0- 38,
2. वली अहद- शासकों के उत्तराधिकारी को वली अहद कहा जाता था।
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द-वाजिदअलीशाह और अवध राज्य का पतन - पृ0- 19,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ -तवारीख-ए-अवध- पृ0- 282-83,

मुस्लिम समाज में अत्यधिक परदा प्रथा होना है । समकालीन लेखक मोहम्मद फैज बख्श ने नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग की पत्नी सद्रउन्निसा बेगम के सम्बन्ध में यह लिखा है कि, बेगम सद्रउन्निसा का जीवन अत्यन्त सादा था और वह परदे का इतना अधिक ध्यान रखती थी कि, उनके भाई आगा खाँ को भी बिना पूर्वानुमति के महल में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी और जब वह अपने भाई से मिलती भी थी तो इस बात का पूरा ध्यान रखती थीं कि उनके शरीर का कोई अंग दिखाई न पड़ रहा हो ।[1] नवाब आसफउद्दौला के हरम में काश्मीरी स्त्रियाँ भी थी । हरम के चारो ओर कड़ा पहरा होता था और हरम की सुरक्षा के लिए महिला सिपाहियों की भी नियुक्ति होती थी, जो सैनिक वेशभूषा में शस्त्र सहित जनानी ड्योढ़ियों पर पहरा देती थीं । इन महिला सैनिकों की प्रतिदिन परेड भी कराई जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध क्षेत्र में भी भाग ले सके । इसके अतिरिक्त महिला कहारिनों की भी नियुक्ति होती थी जो शाही हरम में बेगमों की पालकियों को उठाने का कार्य करती थी । बेगमों की सेवा के लिए सुन्दर सेविकायें नियुक्त होती थीं, जिनमें से कुछ तो ऐसी थी जो कई पीढ़ी से हरम की सेवा कर रही थीं । इसके अतिरिक्त कुछ निर्धन परिवार की भी स्त्रियाँ थी जो सुन्दरता के कारण ही ली जाती थी।[2] मुगल हरम की भाँति अवध के शाही हरम में भी ख्वाजा सरा होते थे और इन्हें

---

1. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0- 253,
2. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ-तवारीख-ए-अवध-पृ0- 94,

विशेष स्थान प्राप्त होते थे । इन ख्वाजा सरॉं लोगों को हरम में कभी भी किसी भी समय जाने की अनुमति थी । ये ख्वाजा सरॉं हरम में बेगमों की भली-भाँति सेवा करते थे । नवाब शुजाउद्दौला के समय इन ख्वाजा सरॉंओं कोउन्नति के विशेष अवसर प्राप्त हुए, इनमें से कुछ तो अमीर के पद तक पहुँच गए और उन्होंनें दरबार में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था । इन ख्वाजा सरॉंओं में जवाहर अली खाँ, इमामबख्श, गुलाम बच्चा आदि ने उच्च पद प्राप्त किए थे । [1]

शाही हरम की स्त्रियाँ हरम में बड़ी शानो शौकत तथा विलासिता से अपना जीवन व्यतीत करती थीं । इनके कमरों में बड़े-बड़े झाड़-फनूस लगे होते थे, जो बहुत ही सुन्दर तथा भव्य होते थे । नवाब के प्रत्येक महल की अपनी अलग-अलग डयोढ़ियाँ थी । प्रत्येक महल में मेहमानों के लिए अलग कमरें होते थे, उनके बरामदे, आँगन और दालान सभी कुछ अलग-अलग होते थे । शाही बेगमों और उनकी सेविकायें बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण पहनती थी तथा अन्य विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करती थीं ।[2] नवाबों के शाही जुलूसों के साथ शाही बेगमों की भी सवारियाँ होती थीं तथा इनसवारियों के साथ नौबत और नक्कारा भी होता था ।[3] नवाब वाजिद अली ने स्वयं अपनी एक मसनवी में शाही हरम के सम्बन्ध में यह लिखा है कि, शाही हरम की जिन्दगी ऐशो-इशरत और

---

1. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध - पृ0- 94,
2. देहलवी, मीर हसन अली- मजमुआ मसनवियात और हसन - पृ0- 20-26,
3. देहलवी, मीर हसन अली- मजमुआ मसनवियात मीर हसन-

जश्न के अतिरिक्त कुछ न थी, कभी बच्चे का जश्न तो कभी शादि-बारात के जश्न की रोशनी, तो कभी नृत्य गायन की महफिलें।[1] इसके अतिरिक्त महलकी स्त्रियाँ अन्य साधनों से भी अपना मनोरंजन करती थी, यह स्त्रियाँ ताश भी खेलती थीं।[2] इस प्रकार शाही हरम की स्त्रियाँ बड़ी शानोशौकत से अपना जीवन व्यतीत करती थी। वास्तव में अवध के नवाबों के स्वभाव का प्रभाव हरम पर भी पड़ा, नैतिकता के दृष्टिकोण यह स्थिति अत्यन्त दयनीय थी।

जहाँ तक नवाबों की प्रवृत्ति का प्रश्न है, कुछ नवाब तो दानी, विचारशील योग्य और प्रशासनिक क्षमता सम्पन्न थे तो दूसरी ओर अवध के अधिकांश नवाब विलासी, आरामतलब, खर्चीले तथा राजकाज से विमुख रहते थे। नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग एक दानशील तथा उदार हृदय का था तो निर्धनों की उदार हृदय से सहायता करता था। इसने बड़े पैमाने पर वजीफे आदि बाँट रखे थे।[3] जब अवध की राजधानी फैजाबाद से लखनऊ स्थानान्तरित हो गई तो बड़े-बड़े व्यापारी, सराफ, महाजन, साहूकार, और उद्यमी भी लखनऊ आ गए। वास्तव में अवध की आर्थिक स्थिति का पतन नवाब शुजाउद्दौला के सिंहासनारोहण से (सन् 1756 ई0) से प्रारम्भ होती है।[4] यद्यपि बक्सर के युद्ध (सन् 1764 ई0) के

---

1. शाह, नवाब वाजिद अली- मसनवी वाजिद अली शाह-पृ0 133-34,
2. देहलवी, मीर हसन अली- मजमुआ मसनवियात मीर हसन-पृ0- 70
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 445,
4. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर

पश्चात नवाब को उनके सूबे वापस कर दिए गए किन्तु अंग्रेजों ने इलाहाबाद और कड़ा ले लिया तथा नवाब को पचास लाख रुपया क्षतिपूर्ति भी देना पड़ा । यही नही एक अंग्रेजी फौजी दस्ता भी अपने खर्च पर रखना पड़ा और बनारस का क्षेत्र राजा चेतसिंह को दे दिया था ।[1] इन्हीं कारणों से अवध की आय काफी घट गई और अत्यधिक विलासिता के कारण व्यय में अपार वृद्धि हुई । इसके अतिरिक्त राज्य की मण्डियों में भ्रष्टाचार काफी बढ़ गया था, व्यापारियों को सरकारी कर्मचारी परेशान करने लगे । यूरोप और बंगाल से अवध आने वाली वस्तुओं पर भारी मात्रा में कर लगाया गया । इन कारणों से अवध की व्यापारिक स्थिति भी दुर्बल होने लगी ।[2] इसके अतिरिक्त नवाब शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों को संधि के अनुसार अपनी आमदनी का छः आना भाग अंग्रेजों को दे दिया, जिससे राजकोष लगभग रिक्त हो गया। यहाँ तक कि कर्मचारियों का वेतन भी कई-कई माह तक नही दिया जा सका । यद्यपि नवाब सआदत अली खाँ ने अवध की आमदनी को बढ़ाने का काफी प्रयत्न किया और वित्त विभाग को सुसंगठित किया जिसके परिणामस्वरूप नवाब सआदत अली खाँ की मृत्यु के समय ( सन् 1814 ई0) राजकोष में नौ करोड़ रूपया था ।[3] परन्तु धीरे धीरे अवध की आर्थिक स्थिति बिगड़ती ही चली गई, क्योंकि 18वीं शती के अंत तक धन और व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पकड़ बढ़ती जा रही थी ।[4]

---

1. ग्रोवर, बी0एल0- आधुनिक भारत- पृ0- 81-82,
2. उमर, डा0 मोहम्मद-18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 445,
3. उमर, डा0 मोहम्मद-18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 445,
4. बारी, डा0 सैय्यद अब्दुल-लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती

पश्चात नवाब को उनके सूबे वापस कर दिए गए किन्तु अंग्रेजों ने इलाहाबाद और कड़ा ले लिया तथा नवाब को पचास लाख रूपया क्षतिपूर्ति भी देना पड़ा । यही नही एक अंग्रेजी फौजी दस्ता भी अपने खर्च पर रखना पड़ा और बनारस का क्षेत्र राजा चेतसिंह को दे दिया था ।[1] इन्हीं कारणों से अवध की आय काफी घट गई और अत्यधिक विलासिता के कारण व्यय में अपार वृद्धि हुई । इसके अतिरिक्त राज्य की मण्डियों में भ्रष्टाचार काफी बढ़ गया था , व्यापारियों को सरकारी कर्मचारी परेशान करने लगे । यूरोप और बंगाल से अवध आने वाली वस्तुओं पर भारी मात्रा में कर लगाया गया । इन कारणों से अवध की व्यापारिक स्थिति भी दुर्बल होने लगी ।[2] इसके अतिरिक्त नवाब शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों की संधि के अनुसार अपनी आमदनी का छः आना भाग अंग्रेजों को दे दिया, जिससे राजकोष लगभग रिक्त हो गया। यहाँ तक कि कर्मचारियों का वेतन भी कई-कई माह तक नही दिया जा सका । यद्यपि नवाब सआदत अली खाँ ने अवध की आमदनी को बढ़ाने का काफी प्रयत्न किया और वित्त विभाग को सुसंगठित किया जिसके परिणामस्वरूप नवाब सआदत अली खाँ की मृत्यु के समय । सन् 1814 ई0। राजकोष में नौ करोड़ रूपया था ।[3] परन्तु धीरे धीरे अवध की आर्थिक स्थिति बिगड़ती ही चली गई, क्योंकि 18वीं शती के अंत तक धन और व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पकड़ बढ़ती जा रही थी ।[4]

---

1. ग्रोवर, बी0एल0- आधुनिक भारत- पृ0- 81-82,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद-18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 445,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद-18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात , मीर का अहद पृ0- 445,
4. बारी, डॉ0 सैय्यद अब्दुल-लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर- पृ0- 51,

वस्तुतः 18 वीं सदी का उत्तरार्ध भारतीय इतिहास का कृष्णा काल था । राजनैतिक अव्यवस्था देश को विनाश की ओर ले जा रही थी । किन्तु अवध के नवाबों ने इसकी गम्भीरता को नजरअन्दाज कर जीवन के अनावश्यक पहलुओं जैसे भोग-विलास और आमोद-प्रमोद पर ही अपना अधिकांश समय व्यतीत किया। यहाँ तक कि अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति को दरबारी आचरण में शामिल कर लिया जो अत्यन्त निन्दनीय कार्य था ।

उच्च वर्ग या सामन्त वर्ग-

नवाबों के जीवन का प्रभाव उनके अमीरों पर भी पड़ा । नवाब आसफउद्दौला के एक अमीर मिर्जा जाफर के सम्बन्ध में अबूतालिब ने यह लिखा है कि, नवाब के अमीर मिर्जा जाफर तथा हैदर बेग खान अत्यन्त विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे तथा प्रजा का शोषण कर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते थे ।[1] इसी सन्दर्भ में आगे चल कर एक स्थान पर अबूतालिब सन् 1783-84 ई0 के भयंकर अकाल का वर्णन करते हुए यह लिखते है कि, एक ओर तो लोग अकाल से मर रहे थे तो दूसरी ओर अमीर-उमरा सुरा-सुन्दरी में डूबे रहते थे ।[2] इसी प्रकार एक अन्य अमीर मुख्तारुद्दौल था जो अत्यधिक मदिरापान करता था । तथा जुआ भी खेलता था ।[3] नवाब

1. लन्दनी, अबूतालिब- तफजीहुल गाफलीन- पृ0- 121.
2. लन्दनी, अबूतालिब- तफजीहुल गाफलीन- पृ0- 121.
3. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0- 23, अंग्रेजी- अनुवादक- विलियम हई.

कासिम अली खाँ सदैव सैर व शिकार में ही व्यस्त रहता था ।[1] इसी प्रकार अमीर जवाहर अली खाँ को भी नृत्य, गायन एवं अन्य विलासितापूर्ण साधनों में बड़ी रूचि थी ।[2] नवाब शुजाउद्दौला का एक अन्य अमीर झाऊलाल था जो फैजाबाद का निवासी था और अत्यन्त निम्न श्रेणी का था । नवाब आसफउद्दौला के युग में इसने अत्यधिक उन्नति कर ली, यह इतना अधिक विलासी था कि, भोजन करते समय भी स्त्रियों का नृत्य-गायन देखता था ।[3] परन्तु इन अमीरों में कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के भी अमीर होते थे जैसे- एक अमीर ऐनुद्दीन खा की यह दिनचर्या थी कि, प्रतिदिन सायंकाल एक बड़े मैदान के हजारों दीन-दुखियों को एकत्र कर स्वयं अपने हाथों से धन बाटता तथा विधवाओं, सैय्यदों और फकीरों को प्रत्येक माह रूपया भेजा करता था । ऐनुद्दीन खाँ ने बहराइच के सैय्यद सालार मसूद गाजी की मजार के पास एक भव्य सराय का निर्माण करवाया था, इसी प्रकार बरेली में एक ईदगाह भी बनवाया था ।[4]

यद्यपि उच्च वर्ग का उल्मा वर्ग धार्मिक प्रकृति का होता था किन्तु अनेक मौलवी लोग विभिन्न प्रकार की बुराइयों में लिप्त होते थे उदाहरणार्थ- शाहजहाँनाबाद का मौलवी अली अकबर हास्य कविता किया करता था तथा मीर जैनुल आबदीन नामक एक लड़के से इसका शारीरिक सम्बन्ध

---

1. दास, हरचरन- चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 148,
2. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-अवध-पृ0- 334,
3. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ - तारीख-ए-अवध -पृ0- 334,
4. सिंधानी , हरनाम, तारीख-ए- सआदत जावेद-पृ0- 408,

था, यह लड़का एक खत्री परिवार का था जो दिल्ली का निवासी था, मौलवी साहब ने इस लड़के को मुसलमान बना लिया था और तभी से वह मौलवी साहब के ही साथ रहता था ।[1] शेख कलन्दर बख्श जुर्रत ने भी एक व्यक्ति की विलासिता तथा मदिरापान का वर्णन किया है।[2] ख्वाजा हसन मौइदी के यहाँ नृत्य एवं गायन का वर्णन भी जुर्रत ने किया है, ख्वाजा हसन मौइदी भी "बख्शी" नामक एक वेश्या से प्रेम करते थे और अपनी कविता के हर मक्ते[3] में बख्शी का नाम अवश्य लिखते थे । जुर्रत ने ख्वाजा हसनव "बख्शी" की प्रेम कथा भी लिखी है[4], ख्वाजा हसन मौइदी अवध के प्रख्यात सूफी सन्तों मे से एक थे ।

अवध के नवाबों की ही भाँति अवध के दरबारी भी आलसी और विलासी हो गए थे । उन्हें सदैव इस बात का भय बना रहता था कि, नवाब कहीं उनके धन को जब्त न कर ले । इसलिए ये अमीर अपनी आय का अधिकांश भाग मेलो, खान-पान, नौकरों अर्थात् शानोशौकत , विलासिता और भवनों के निर्माण में व्यय कर देते थे ।[5]

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीरका अहद- पृ0- 646,
2. जुर्रत, शेख कलन्दर बख्श- कुल्लियात-ए- जुर्रत -पृ0- 451,
3. मक्ता- कविता की अंतिम पंक्ति जिसमें कवि अपना नाम डालता था ।
   उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास -पृ0- 303,
   लेखक- प्रो0 एहतेशाम हुसैन,
4. उमर,,डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात-मीर का अहद- पृ0- 647,
5. बख्श , मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श -पृ0- 97,
   अंग्रेजी अनुवाद-विलियम हई,

मुस्लिम समाज में उच्च स्थान उन मुसलमानों को प्राप्त था जो बाहर से आए हुए थे और नगरों में रहते थे । यह लोग सेना तथा प्रशासन में उच्च पदों पर स्थापित थे और कोई दूसरा व्यवसाय नहीं अपनाते थे । यही वर्ग अवध के सामाजिक जीवन का विशेष केन्द्र था । इस वर्ग के लोग तीन जातियों में बँटे हुए थे प्रथम- सैय्यद और अफगान, द्वितीय शेख अफगान और तृतीय शेखजादे आदि । शेखजादों की एक बड़ी संख्या लखनऊ में उपस्थित थी ।[1] नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग के साथ जो ईरानी और तुर्क आए थे वहां फैजाबाद और लखनऊ में बस गए थे । [2] मुसलमानों में सैय्यद वर्ग का अत्यन्त महत्वपूर्ण और सम्मानित स्थान था ।[3] समकालीन लेखक मिर्जा मोहम्मद हसन कतील ने हफ्त तमाशा में यह लिखा है कि, अवध में सैय्यदों की विभिन्न श्रेणियाँ उपस्थित थीं, जो स्वयं सैय्यद बन गए थे और इसी आधार पर समाज में उच्च स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे । उदाहरणार्थ, यदि कोई सैय्यद की लड़की से विवाह कर लेता तो उनका वंशज स्वतः सैय्यद हो जाता था । कुछ लोग अमीरों में सम्मानजनक स्थान प्राप्त करने के लिए अपने नाम के आगे 'मिर्जा' लिखते थे और इसी दावे के साथ सैय्यद बन जाते थे । काश्मीरियों का वह वर्ग जो अपने नाम के आगे

---

1. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर-पृ०- 30.
2. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर- पृ०- 30.
3. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो, अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर- पृ०- 30.

'मीर' लिखते थे अवध में आकर इसका लाभ उठाते हुए 'मीर' को अपने नाम के प्रारम्भ में लिख कर सैय्यद बन जाते थे। कुछ लोग व्यवसाय प्राप्त करने के लिए मर्सिया पढ़ते और कुछ लोग शिक्षा तथा धन प्राप्त कर कालान्तर में सैय्यद बन जाते। इसके अतिरिक्त सैय्यद बनने का सबसे सरल तरीका शिया मत अपना कर सैय्यद बन जाने का था। सैय्यदों को मुस्लिम समाज में वही स्थान प्राप्त है जो हिन्दू समाज में ब्राह्मणों को प्राप्त था।[1] इसके अतिरिक्त अफगान और शेखजादे अवध में राजनैतिक कारणों से पिछड़ गए थे किन्तु समाज में अभी भी उनका प्रभाव बना रहा। इस वर्ग के लोग सैन्य-कला में बड़े दक्ष होते थे।[2] मुस्लिम समाज में अंतिम स्थान उन निम्न श्रेणी के मुसलमानों का था जो हिन्दू समाज के शूद्रों की भाँति होते थे और उनको मुस्लिम समाज के उच्च वर्ग के लोग हेय दृष्टि से देखते थे।[3]

इस काल के आर्थिक प्रबन्ध का सम्बन्ध भी जाति पाँति और ऊँच नीच के प्रभाव से सम्बद्ध था। कुछ व्यवसाय सम्मान के प्रतीक समझे जाते थे तो कुछ व्यवसाय निम्नता और पिछड़े हुए माने जाते थे। कुछ व्यवसाय तो ऐसे थे जो बाजार से दरबार में पहुँच जाने पर सम्मानित हो जाते थे- उदाहरणार्थ - साइस, बावर्चीगीरी और चिलम भरने का व्यवसाय समाज में अत्यन्त निम्न श्रेणी का समझा जाता था, परन्तु किसी नवाब या दरबार के बावर्चीखाने या अस्तबल की देखरेख करना काफी सम्मानित कार्य समझा

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0-132, उर्दू अनुवाद - डॉ0 मोहम्मद उमर,
2. खान, अमजद अली-तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0- 79,
3. खान, अमजद अली- तवारीख-ए- अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0-79,

जाता था । अफगानों में अगर कोई मौलवी और वैद्य बन जाता था तो ऐसे लोगों को सैनिक पेशा अपनाने वालों की अपेक्षा निम्न श्रेणी का समझा जाता था ।[1] इसी प्रकार रस्म रिवाज के अनुसार न चलने वालों को भी निम्न वर्ग का समझा जाता था। मिर्जा कतील के अनुसार अवध के मुस्लिम समाज के उच्च वर्ग में लोग हिन्दुओं की भाँति अपनी विधवा पुत्री का विवाह नही करते थे और अगर कोई ऐसा करता था तो उसे अत्यन्त निम्न श्रेणी का समझा जाता था और उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था ।[2] इसके अतिरिक्त व्यवसाय से भी लोग अपने स्तर में वृद्धिकर लेते थे किन्तु निम्न श्रेणी के व्यवसाय के कारण जाति का प्रभाव समाप्त हो जाता था इसलिए उच्च जाति का व्यक्ति निर्धनता व अशिक्षा के कारण कभी - कभी अमीरों के यहाँ नौकरी करने लगता था तो उसके पद के कारण उसे उसके उच्च जाति के होने का कोई लाभ नहीं मिलता था । अक्सर ऐसा होता था कि, उच्च जाति के लोग निर्धन होने के कारण सेवक और फर्राशी का भी काम स्वीकार कर लेते थे, ऐसी परिस्थिति से उच्च वर्ग के लोग उनका सामाजिक बहिष्कार कर देते थे । इसी प्रकार हुक्काबरदार, कबाबी, नानबाई और पीलवान भी पिछड़े वर्ग का व्यवसाय था जो उच्च जाति के लोग भी अपनाते थे यद्यपि बादशाह का पीलवान या महावत एक सैयद ही हो सकता था।[3] ग्राम्य क्षेत्रों में लोगों का रहन सहन

---

1. बारी, डॉ0 सैय्यद अब्दुल -लखनऊ के शेरो अदब का मआशिरी व सकाफती पसमंजर, पृ0- 47,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा -पृ0-38, उर्दू अनुवाद- डॉ0 मोहम्मद उमर,
3. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ0-111, उर्दू अनुवाद- डॉ0 मोहम्मद उमर,

शहर के लोगों के जीवन स्तर से गिरा हुआ होता था और "देहाती" कहलाना निन्दनीय समझा जाता था । इसका एक राजनैतिक कारण यह भी था कि अवध के विस्तृत क्षेत्रों में शेखजादे फैले हुए थे और वे अवध के शासकों का कड़ा विरोध कर रहे थे । ये शेखजादे बातचीत और लहजे में अवधी भाषा का मातृभाषा के रूप में प्रयोग करते थे, जब कि फैजाबाद और लखनऊ में उर्दू भाषा को मान्य भाषा के रूप में प्रयुक्त किया जाता था ।[1] इस प्रकार भाषा की दृष्टि से भी एक अन्तर ग्राम्य तथा शहरी समाज में उत्पन्न हो गया था । लखनऊ के मसखरों, फिकराबाजों और नाजुक मिजाजों का अन्दाज अवध के कस्बों के जीवन पर भारी पड़ता था और किसी भी व्यक्ति को सभ्य बनने के लिए "लखनवी अन्दाज" का अपनाना अति आवश्यक था अन्यथा वह असभ्य माना जाता था ।[2] इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में वही व्यक्ति सर्वाधिक सम्मानित समझा जाता था जिसकी भाषा, वेशभूषा और रहन-सहन " लखनवी सभ्यता" से मिलती हो ।

18 वीं शताब्दी में मुसलमानों में जाति के साथ-साथ व्यवसाय पर भी अधिक ध्यान दिया जाता था और अगर निम्न श्रेणी के परिवार में कोई व्यक्ति उन्नति करके समाज में उच्च स्थान पा जाता था तो वह अपनी जाति को छिपाने लगता था । जैसे 18 वीं शती के अवध के प्रख्यात

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0-111, उर्दू अनुवाद-डॉ0 मोहम्मद उमर,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन - हफ्त तमाशा-पृ0- 112, उर्दू अनुवाद-डॉ0 मोहम्मद उमर,

शायर "मुसहफी" "कलाल" जाति के थे जिनका मुख्य व्यवसाय बादशाह की सेवा, या करौंदी या शराब बनाना और बेचना होता था किन्तु शायर मुसहफी सदैव अपनी जाति छिपाने का प्रयत्न करते । स्वयं मीर तकी मीर के सैयद होने के दावे को उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने चुनौती दी थी क्योंकि उनके पूर्वज नानबाई का काम करते थे । इसी प्रकार प्रख्यात शायर इमामबख्श नासिख पर भी अपनी जाति छिपाने का आरोप लगाया जाता था ।[1] इन सभी घटनाओं से यह ज्ञात होता है कि, 18 वीं शताब्दी के अवध में निम्न श्रेणी के लोग अगर किसी प्रकार सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर लेते थे तो वे अपनी जातियों को छिपाने का प्रयत्न करते थे ताकि उनके सम्मान को क्षति न पहुँचे । उच्च वर्ग में अधिकतर सेना और प्रशासन में ही नौकरी करना अधिक अच्छा समझते थे या फिर धार्मिक पदों पर कार्य करना ।[2] इस प्रकार उच्च वर्ग के लोग जो संख्या में बहुत कम थे किन्तु अत्यन्त समृद्ध और प्रभावशाली थे और बड़ी शानौशौकत से अपना जीवन व्यतीत करते थे ।

उच्च वर्ग के अतिरिक्त अवध में एक और वर्ग था जिसे " मध्यम वर्ग" कहा जा सकता है, इसमें व्यापारियों, छोटे लिपिकों, राजकर्मचारियों और सैनिकों का वर्ग था । व्यापारी तथा छोटे जमींदार कम खर्चीले व कंजूस प्रकृति के थे किन्तु लिपिक सैनिक तथा राजकर्मचारी अपना जीवन आसानी से व्यतीत करते थे ।[3]

---

1. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल-लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर-पृ०- 47,
2. बारी० डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर- पृ०- 47,
3. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ०- 474

शायर मुशहफी "कलाल" जाति के थे जिनका मुख्य व्यवसाय बादशाह की सेवा, या फराशी या शराब बनाना और बेचना होता था किन्तु शायर मुशहफी सदैव अपनी जाति छिपाने का प्रयत्न करते । स्वयं मीर तकी मीर के सैय्यद होने के दावे को उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने चुनौती दी थी क्योंकि उनके पूर्वज नानबाई का काम करते थे । इसी प्रकार प्रख्यात शायर इमामबख्श नासिख पर भी अपनी जाति छिपाने का आरोप लगाया जाता था ।[1] इन सभी घटनाओं से यह ज्ञात होता है कि, 18 वीं शताब्दी के अवध में निम्न श्रेणी के लोग अगर किसी प्रकार सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर लेते थे तो वे अपनी जातियों को छिपाने का प्रयत्न करते थे ताकि उनके सम्मान को क्षति न पहुँचे । उच्च वर्ग में अधिकतर सेना और प्रशासन में ही नौकरी करना अधिक अच्छा समझते थे या फिर धार्मिक पदों पर कार्य करना ।[2] इस प्रकार उच्च वर्ग के लोग जो संख्या में बहुत कम थे किन्तु अत्यन्त समृद्ध और प्रभावशाली थे और बड़ी शानोशौकत से अपना जीवन व्यतीत करते थे ।

उच्च वर्ग के अतिरिक्त अवध में एक और वर्ग था जिसे " मध्यम वर्ग " कहा जा सकता है, इसमें व्यापारियों, छोटे लिपिकों, राजकर्मचारियों और सैनिकों व कंजूस प्रकृति के थे किन्तु लिपिक सैनिक तथा राजकर्मचारी अपना जीवन आसानी से व्यतीत करते थे ।[3]

---

1. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआशिरी व सकाफती पसमंजर- पृ०- 47.
2. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआशिरी व सकाफती पसमंजर- पृ०- 47.
3. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ०- 474.

नवाब अबुल मंसूर खाँ सफ्दरजंग के समय ( सन् 1739-56 ई0 ) घुड़सवार सैनिकों को पैंतीस से पचास रूपये तथा पैदल सैनिकों को दस रूपये मासिक वेतन मिलता था जब कि नवाब सआदत अली खाँ के समय ( सन् 1798 ई0- सन् 1814 ई0 ) यह वेतन घटा दिया गया और घुड़सवार सैनिकों को तीस रूपये मासिक तथा पैदल सैनिकों को आठ रूपये मासिक वेतन दिया जाता था । इसके अतिरिक्त राजपूत मुखियों, मुसलमान जमींदारों तथा अधिकारियों के अन्तर्गत सैनिकों का वेतन इससे कम था ।[1] लेकिन फिर भी इतना वेतन था कि वे भली-भाँति सरलता से अपना जीवन-यापन कर सकें । मध्यम वर्ग के अन्य लोग जैसे व्यापारी और कर्मचारी भी सुखमय जीवन व्यतीत करते थे ।[2]

सर्वाधिक शोचनीय दशा निम्न वर्ग की थी । 18 वीं शताब्दी के अवध का निम्न वर्ग गन्दी मिट्टी की झोपड़ियों में रहता था जिनकी छतें पुआल की बनी होती थीं, वे मोटा अनाज खाते थे तथा कम से कम कपड़े पहनते थे ।[3] निम्न वर्ग के सम्बन्ध में आगरा की डच फैक्टरी के प्रमुख फ्रांसिस्को पेलसार्ट यह लिखते हैं कि, उनके घर मिट्टी के बने होते थे जिनकी छतें पुआल की बनी होती थीं । फर्नीचर या तो बहुत कम या फिर बिल्कुल नहीं होता था । भोजन बनाने के लिए अति आवश्यक कुछ बर्तन होते थे तथा दो बिस्तरे होते थे । इनके बिस्तर भी बहुत कम होते थे, मात्र

---

1. श्रीवास्तव-आशीर्वादी लाल-द फर्स्ट टू नवाब्स आफ अवध - पृ0 253,
2. श्रीवास्तव, आशीर्वादी लाल द फर्स्ट टू नवाब्स आफ अवध- पृ0- 253
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर की अहद- पृ0- 475,

एक या दो चादरें जो कि ओढ़ने व बिछाने दोनो के काम में आती थी। ग्रीष्म ऋतु के लिए तो यह बिस्तर पर्याप्त था किन्तु शीतऋतु में इन लोगों को अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता था, और वे गोबर के कण्डों की आग से अपने को गर्म रखने का प्रयत्न करते थे।[1] लेकिन राहत की बात केवल एक ही थी कि अनाज सस्ता होने के कारण लोगों को भूखा नही मरना पड़ता था।[2] लेकिन फिर भी आम मुसलमानों को अत्यन्त परिश्रम से अपना जीवन यापन करना पड़ रहा था जैसे- जुलाहे, हज्जाम आदि ।[3] छोटे धन्धे करने वाले लोग अशिक्षित और निर्धन होते थे, उनकी एक बड़ी संख्या ग्रामों में रहती थी जो खेतिहर श्रमिक होते थे और या तो अमीर उमराओं की ड्योढ़ियों में नौकर-चाकर के रूप में काम करते थे। यह लोग फूस की छप्पर वाले झोपड़े में रहते थे और मोटे अनाज तथा कपड़ो पर अपना जीवन व्यतीत करते थे, जो पेलसार्ट के उल्लेख से ज्ञात होता है। इन श्रमिकों की मजदूरी भी बहुत कम थी इसीलिए धनी और नवाबों की हवेलियों में नौकरी के लिए भीड़ लगी रहती थी। जुलाहे जो कीमती वस्त्र बुनते और कसीदाकारी का काम करते थे, वह भी तीन या चार रूपये माहवार ही कमा पाते थे। कुली, चपरासी, और शहरी श्रमिकों को दो रूपया तेरह आना मिलता था जब कि ग्रामों में इनको एक रूपये चौदह

---

1. श्रीवास्तव, प्रो0 आशीर्वादी लाल-द-फर्स्ट टू नवाब्स आफ अवध-पृ0- 255,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद, पृ0- 475,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद, पृ0- 475,

आने मिलता था, मिस्त्री को दो रूपये तेरह आना माहवार मिलता था। मजदूरी का यह प्रबन्ध 18 वीं शती के अंतिम दशक तक चलता रहा।[1] इस प्रकार अवध की आर्थिक स्थिति कोई विशेष अच्छी नहीं थी।

हिन्दू समाज -

18 वीं शताब्दी के अवध के समाज में जनसंख्या का एक बड़ा भाग हिन्दुओं का था जिसमे बहुमत राजपूतों का ही था। इसके अतिरिक्त अवध में ब्राह्म्मण, वैश्य, शूद्र और कायस्थ भी थे। हिन्दुओं में जातीय भेदभाव अत्यधिक था। " ब्राह्म्मणों" को समाज में उच्च स्थान प्राप्त थे परन्तु 18 वीं शताब्दी में परिस्थितियों से विवश होकर वह भी व्यवसाय और खेती करने लगे थे। हिन्दू समाज का दूसरा वर्ग "क्षत्रिय" था जो सैन्य ज्ञान में अत्यधिक रूचि लेते थे और शासन में भागीदार होकर उच्च पदों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते थे। ब्राह्म्मणों के पश्चात समाज में दूसरा सम्मानित स्थान क्षत्रियों को ही प्राप्त था। तृतीय वर्ग " वैश्यो " का था जिनका व्यापार पर एकाधिकार था। यह वर्ग धनी होने के कारण समाज में सम्मानित जीवन व्यतीत करता था। एक अन्य वर्ग कायस्थों का था जो जाति के दृष्टि कोण से पिछड़े हुए थे किन्तु शिक्षा और प्रशासनिक योग्यता के कारण समाज में उच्च स्थान रखते थे। यहाँ तक कि कुछ कायस्थ प्रधान मंत्री तक बन गए थे। उदाहरणार्थ, इटावावासी कायस्थ नवलराय जो

1. श्रीवास्तव, आशीर्वादी लाल-द-फर्स्ट टू नवाब्स ऑफ अवध- पृ0- 122.

अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग का प्रधानमंत्री था । समाज का निम्न वर्ग "शूद्रों" का था जिसका समाज में कोई स्थान नहीं था, इनका कार्य उच्च वर्ग के लोगों की सेवा करना था । यह अशिक्षित थे और अत्यधिक श्रम करने के बावजूद भी भरपेट भोजन तक नहीं प्राप्त कर पाते थे ।[1] इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य जातियाँ अवध में उपस्थित थी जो निम्न श्रेणी की थी । उदाहरणार्थ "पासी" जाति जो अवध के समीपवर्ती जिलों - इलाहाबाद, बनारस और शाहजहाँपुर आदि में पाए जाते थे । पहले 'पासी' लोग सिपाहियों में भरती होते थे बाद में ग्रामों में चौकीदारी करने लगे । अवध के पासी तीर चलाने मे बड़े सिद्धहस्त थे और सेना में भरती होते थे । ऐसी ही एक जाति "थारू" थी जो माँसाहारी और मदिरापान करते थे । "डोम" जाति के लोग भी अवध में थे । "अवध गजेटियर" के अनुसार अवध मे "भर" जाति के लोग भी पाए जाते हैं जो अवध के पूर्वी जिलों इलाहाबाद और मिर्जापुर में रहते थे ।[2] कुछ लोग इन्हें क्षत्रिय मानते हैं किन्तु यह क्षत्रिय नहीं थे । "भर" जाति के लोग पहले राजा भी थे, अवध में अब भी "भर" जाति के गढ़ों के भग्नावशेष पाये जाते हैं ।[3] ऐसा जान पड़ता है कि, अवध के पश्चिम में "पासी", पूर्व और मध्य में "भर" तथा गोरखपुर और बनारस के कुछ भाग में "थारू" जाति के राजा एक ही समय में राज्य करते थे । आर्यों ने इन्हे परास्त करके भगा दिया था। यह लोग

---

1. बारी, डॉ० सैयद अब्दुल-लखनऊ के गैरों अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर- पृ०- 81,

2. अवध गजेटियर - पृ०- 78,

3. राम, श्रीसाता-अयोध्या का इतिहास-पृ०- 54-55,

आर्यों से पराजित होने के बाद लूट-पाट करने लगे और धीरे-धीरे लूट-पाट करना इनका व्यवसाय ही बन गया । अवध गजेटियर के अनुसार, मिर्जापुर के पूर्व के पहाड़ी प्रान्त में 18 वीं शताब्दी तक " भर" जाति के राजा थे ।[1] एक अंग्रेज लेखक मि0 नेसफील्ड के अनुसार, उनकी गद्दियों, उनके नामों और उनके विषय में जनश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि, डोम, डोमकटार, डोमड़े या डोंबर भारत में किसी समय अत्यन्त शक्तिशाली थे, विशेषकर घाघरा के उत्तर जिलों में पूर्णरूप से स्थापित थे, इन्हीं में से कुछ तो भाट और ब्राह्मण से मिलकर और हिन्दुओं के आचार विचार सीख कर क्षत्रिय बन गये, शेष उनसे बहुत ही नीचे रहे । इनमे से कुछ लोग भंगी का काम करने लगे, कुछ धोबी हो गए, कुछ धानुक हो गए, कुछ बुनकर बन कर डोम मीरासी हो गए तथा कुछ जल्लाद बन गए ।[2]

अवध के हिन्दू समाज में जातीय भेदभाव के अतिरिक्त दहेज प्रथा भी प्रचलित थी। उदाहरणार्थ सन् 1849 ई0 में राजा भदरी की पुत्री एक लाख रूपया दहेज देकर रीवां नरेश के एकमात्र पुत्र से ब्याही गई थी । प्रतापगढ़ के राजा शिव रतन सिंह के भाई गुलाब सिंह ने पचास हजार रूपया देकर अपनी लड़की की उसी लड़के से शादी की । एक अन्य राजपूत जमींदार हनुमन्त सिंह बिसेन ने भी इसी लड़के से अपनी लड़की की शादी की और पचास हजार रूपया टीका और पचहत्तर हजार रूपया देकर गौना किया था । इस प्रकार

---

1. अवध गजेटियर- पृ0- 76,
2. नेसफील्ड - ब्रीफ रिव्यू आफ द कास्ट सिस्टम्स आफ द नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध- पृ0- 101,

रीवाँ नरेश ने अपने राजकुमार की पाँच-छः शादियाँ रूपये के लोभ में की । ब्राह्म्मणों में भी लड़की के विवाह के अवसर पर काफी लेन-देन होता था ।[1] स्लीमन के अनुसार, लगभग सारे हिन्दू समाज में इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी ।[2] किन्तु यह कथनपूर्णतः सत्य नहीं है, दहेज प्रथा उच्च वर्ग में और वह भी राजपूतों ही तक व्यापक रूप से प्रचलित था। कर्नल स्लीमन अवध में प्रचलित एक अन्य प्रथा का भी उल्लेख करते हैं, इनके अनुसार, अवध के अन्तर्गत राजपूत जमींदार अपनी पुत्रियों की जन्म होते ही हत्या कर देते थे और हत्या के तेरह दिन बाद ब्राह्म्मण से प्रायश्चित हेतु विभिन्न कर्मकाण्ड करवाते थे । इस प्रायश्चित के अवसर परब्राह्म्मण कोई दक्षिणा नहीं लेता था वरन् वह साथ में केवल भोजन करते थे । स्लीमन के मतानुसार यह प्रथा अवध में चारो ओर फैली थी ।[3] किन्तु स्लीमन का यह कथन तार्किक नहीं- प्रतीत होता क्योंकि अगर सभी जगह ऐसी प्रथा होती तो स्लीमन ही स्थान-स्थान पर राजपूतों की कन्याओं में दहेज देने की प्रथा का वर्णन क्यों करते । ऐसा प्रतीत होता है कि, यह प्रथा कहीं-कहीं होती रही होगी और यह कहना कि, यह घृणित प्रथा सम्पूर्ण अवध में प्रचलित थी अतार्किक प्रतीत होती है । इस प्रकार हिन्दू समाज भी रूढ़िवादी था और अनेक अन्ध विश्वासों से ग्रसित था ।

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य कापतन- पृ0 - 99,
2. वर्मा परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और "अवध राज्य का पतन" पृ0 - 34,
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और "अवध राज्य का पतन" पृ0- 34,

अवध के शाही वर्ग और उच्च वर्ग का आम जनता का प्रभाव -

नवाबों तथा अमीरों के जीवन का प्रभाव आम जन साधारण पर भी पड़ा, क्योंकि अवध का सूबा विनाश से सुरक्षित था । यह क्षेत्र मराठों, सिक्खों, जाटों और अब्दालियों के आक्रमणों से सुरक्षित था । 18 वीं शताब्दी में अवध अपने धन और वैभव के कारण सारे भारत वर्ष में प्रसिद्ध था । लखनऊ के अधिकांश निवासी दिल्ली से ही आए हुए थे । जैसा कि इंशा भी यह लिखते हैं कि, सिपाही, बुटकुने बाज, नकल करने वाले, गाने बजाने वाले, किस्सा सुनाने वाले जो लखनऊ में हैं, वे सभी दिल्ली से आए हुए हैं ।[1] लखनऊ के शाही और उच्च वर्ग का जीवन अत्यन्त विलासितापूर्ण था जिसे दिल्ली वालों ने और भी तीव्र किया । नृत्य एवं गायन की महफिलों का प्रत्येक समारोह में आयोजन आवश्यक समझा जाता था। पतंग बाजी और बटेरबाजी तथा अन्य प्रकार के खेल तमाशे अपनी पूर्णता पर थे ।[2] परिणामस्वरूप अवध की जनता इस वातावरण के प्रभाव से बच न सकी और उनमे भी विभिन्न प्रकार की बुराइयाँ आने लगी थीं । यही कारण है कि, मिर्जा कतील जैसा विद्वान भी नृत्य एवं गायन की महफिलों में उपस्थित होता था । मिर्जा कतील ने अपने ग्रंथ मे ऐसी ही एक महफिल का वर्णन करते हुए नर्तकियों एवं संगीतकारों के नृत्य एवं गायन की आलोचना

1. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए-लताफत-पृ0-116-17.
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ-दरिया-ए-लताफत-पृ0 - 116-17.

की थी ।[1] अवध की सेना में भी भ्रष्टाचार और विलासिता व्याप्त थी । समकालीन लेखक मोहम्मद फैज बख्श अवध की शाही सेना के सम्बन्ध में यह लिखते है कि, शाही सेना के सवार व पैदल सैनिक बिना किसी भय के विलासिता में डूबे रहते थे ।[2] विदेशी यात्री जार्ज फोस्टर ने एक अपने अफगान मित्र की विलासिता का वर्णन किया है जो उसी के साथ यात्रा कर रहा था और लखनऊ से वापस अपने देश जा रहा था । उस अफगान ने अपने धन-दौलत का अधिकांश भाग लखनऊ में वेश्याओं तथा मदिरापान पर ही व्यय कर दिया था। वह इतना अधिक मदिरापान करता था कि वह ढाई घंटे में दो बोतलें शराब पी जाता था । इस विलासी मुस्लिम के साथ एक वेश्या भी थी । आगे वर्णन करते हुए वह लिखते है कि, उस अफगान ने घर पहुँचने से पूर्व सारे पैसों की शराब खरीद ली, यहां तक कि उसने अपनी खान-दानी प्लेट भी तीन रूपये में बेच दी ।[3] इसी प्रकार शायर महजूर ने अपने एक शेर में यह वर्णित किया है कि एक पिता तथा पुत्र दोनों ही एक वेश्या के यहाँ छिप-छिप कर जाते थे ।[4] इसी प्रकार समकालीन अवध के शायर जुर्रत ने एक स्त्री के सम्बन्ध में यह लिखा है कि, उसने अपने सौन्दर्य से अनेक लोगों का जीवन नष्ट कर दिया था ।[5] इसके अतिरिक्त अवध में अत्यधिक मदिरापान,

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रूक्कात-ए- मिर्जा कतील-पृ0- 23,
2. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-10, अंग्रेजी अनुवाद- विलियम हई,
3. फोस्टर, जार्ज-ट्रैवल्स इन इण्डिया- पृ0- 104,
4. महजूर, सदरुद्दीन-दीवान-ए- महजूर-पृ0- 13-14,
5. जुर्रत, शेख कलन्दर बख्श- कुल्लियात-ए- जुर्रत-पृ0- 170.

गाँजा, चरस तथा अफीम का भी बड़ी मात्रा में प्रयोग होता था ।[1] वास्तव में उपरोक्त सभी बुराइयाँ शाही तथा उच्च वर्ग में थी जिसका गहरा प्रभाव समाज के अन्य वर्गों पर पड़ा ।

18 वीं शताब्दी के अवध के समाज में अंध विश्वास भी अत्यधिक व्याप्त था । उदाहरणार्थ- बच्चों को बुरी नजर से बचाने के लिए माथे पर टीका लगाया जाता था ।[2] इसके अतिरिक्त प्रत्येक खुशी के अवसर पर "बलैया लेने " की भी प्रथा थी ।[3] बलैया लेने के बाद निछावर उतारा जाता था और गरीबो तथा मोहताजों और यतीमों में बाट दिया जाता था । किसी मित्र, रिश्तेदार या बच्चों की बीमारी से स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से खैरात मे अनाज और धन निर्धनों में वितरित किया जाता था ।[4] नवाब आसफउद्दौला जब एक बार अस्वस्थ हुए तो अवध के नायब-ए-सल्तनत हैदरी बेग खान ने पच्चीस प्याले रोगन स्याह और बीस मन मास, एक हाथी व पाँच सौ रुपया नगद दान दिया था, इसी प्रकार अन्य अमीरो ने भी अपने स्तर के अनुरूप रुपया और सामान खैरात के रूप में भेजा ।[5] मीर

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद पृ०- 694,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए- इंशा -पृ०- 261,
3. इंशा, इंशा उल्ला खा- कुल्लियात-ए-इंशा -पृ०- 261,
4. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद पृ०- 692,
5. दास, हरचरन, बहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ०- 254,

हसन अली था यह लिखते है,कि,खैरात और दान देने का आम रिवाज था, लोग अक्सर शाम को किसी गरीब व फकीर को भोजन कराते थे ।[1] इसके अतिरिक्त दिल्ली की भाँति लखनऊ में भी " गण्डो" और ताबीजों का अत्यधिक प्रचलन था, जैसे बीमारी से छुटकारा पाने के लिए, सन्तान के लिए भूत-प्रेत से छुटकारा पाने के लिए लोग सोने का छल्ला और मोर पंख का प्रयोग करते थे ।[2] दाँयी आँख का फड़कना और छींकना अपशकुन समझा जाता था ।[3] अवध के निवासी जादू-टोने तथा भूत-प्रेत पर भी विश्वास रखते थे । वे लोग परी, सब्ज परी, जर्द परी, स्याह परी, आसमानी परी, दरिया परी, नूर परी आदि चुड़ैलों को मानते थे, इनकी भिन्न-भिन्न कहानियाँ भी प्रचलित थी ।[4] बिलग्राम में भूत प्रेत से ग्रस्त व्यक्तियों को काली मिर्च पीस कर पेड़ की छाल तथा पत्तियों में मिलाकर खिलाया जाता था । यदि किसी औरत पर चुड़ैल आ जाती थी तो उसकी मुक्ति के लिए बैठक की जाती थी । बैठक एक निर्धारित समय पर होती थी और पड़ोस की औरतें उस औरत के आस-पास बैठते, उस औरत को बहुत अच्छा वस्त्र पहनाया जाता , जेवरों से सजाया जाता तथा चुड़ैल भगाने का प्रयत्न किया जाता था ।[5] अवध

---

1. देहलवी, मीर हसन अली- मजमुआ मसनवियात मीरहसन-पृ0- 139,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 117,
3. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 209,
4. इंशा- इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 183,
5. अली, श्रीमती मीरहसन- आब्जरवेशन्स ऑन द मुसलमान्स ऑफ इण्डिया-पृ0- 156-58,

के निवासी अपने बच्चों को बुरी-नजर से बचाने के लिए काला धागा शाह मदार के उर्स के अवसर पर पहनते थे ।[1]

अवध के मुसलमानों में कुछ अन्य प्रकार के भी टोने और टोटके प्रचलित थे - उदाहरणार्थ- यात्रा पर जाते समय पानी की बाँह पर इमाम जामिन का रुपया सुरक्षा के लिए बाँधा जाता था ।[2] दुःख मुसीबत में अवध के लोगों में मन्नतें भी मांगने की प्रथा थी । इसके अतिरिक्त "चन्द्रमा" के सम्बन्ध में भी लोगों में विभिन्न प्रकार के अंधविश्वास प्रचलित थे जैसे - पूरा चाँद विवाह के लिए शुभ समझा जाता था ।[3] प्रत्येक शुभ कार्य को प्रारम्भ करने के लिए ज्योतिषियों से ज्ञात किया जाता था कि, वह किस ग्रह पर है । लखनऊ में चाँद को लेकर एक और आश्चर्यजनक प्रथा प्रचलित थी जो " एक घूट में चाँद पीना" कहलाती थी । इसके अन्तर्गत एक पानी से भरे बर्तन को इस प्रकार रखा जाता था कि उसमे पूर्ण चाँद दिखाई दें, जिसको वह पानी पिलाया जाता था वह टकटकी बाँध कर उस बर्तन में चाँद को देखता था फिर आँख बन्द कर उस पानी को एक घूट में पी जाय । यह भी विश्वास प्रचलित था कि, अगर कोई व्यक्ति पूर्ण चाँद के अवसर पर ईश्वर को याद करें तथा दुआ मांगे तो उसकी इच्छा अवश्य पूरी होती थी । इसके अतिरिक्त चौदहवीं के चाँद के दिन गण्डे और ताबीज बनाये जाते तथा बच्चों के गले में

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ0- 693,
2. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 102,
3. सरूर, मिर्जा रजब अलीबेग-फसाना-ए- आजाएब-पृ0- 102,

डाले जाते थे ।[1] अवध के मुसलमानों में यह भी विश्वास था कि, उनके घरों में यदि कोई बीमार पड़े तो अगर घर में पिंजड़े में बन्द पक्षी को मुक्त कर दिया जाय तो उसका मर्ज भी उड़ जाता था । यही कारण था कि, जब कोई नवाब या शाही खानदान का कोई व्यक्ति बीमार पड़ता था तो गुलामों को आजाद कर दिया जाता था ।[2] अवध के निवासी ज्योतिषियों और नक्षत्रों ग्रहों पर भी विश्वास करते थे । नवाब आसफउद्दौला का नायब-ए-सल्तनत हैदर बेग खान ज्योतिषियों पर अत्यधिक विश्वास करता था ।[3] नए भवन में प्रवेश करने के लिए भी ज्योतिषियों की राय ली जाती थी ।[4] लखनऊ के बाजारों में ज्योतिषी अपनी दुकान सजा कर बैठते थे और लोग अपने भविष्य के बारे में जानने के लिए उनकी सेवा में जाया करते थे ।[5] अवध के उच्च वर्ग के मुसलमानों में एक अन्य प्रथा यह प्रचलित थी कि, जिस भवन में कोई अमीर की मृत्यु हो जाती थी तो कोई दूसरा अमीर उस मकान में नहीं रहता था । यही कारण है कि, दरब अली खाँ नामक अमीर ने उस मकान को इमाम बाड़े में बदल दिया जिसमे उसके पिता जवाहर अली खाँ की मृत्यु हो गई थी ।[6] इसके अतिरिक्त अवध के मुस्लिम समाज में पुत्री का जन्म होना शुभ नहीं समझा जाता था और पुत्री के जन्म होने पर घर में भोजन तक नहीं पकाया जाता था।[7]

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन - आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया-पृ0 156-58
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरत, मीर का अहद पृ0- 696,
3. लन्दनी, अबुतालिब- तफजीहुल गाफलीन- पृ0- 190,
4. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रुक्आत-ए-मिर्जा-कतील-पृ0- 47,
5. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध-पृ0- 316,
6. बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख-ए- फरहबख्श-पृ0-666, अंग्रेजी अनुवाद विलियम हई,
7. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ0- 142, उर्दू अनुवाद, डॉ0 मो0 उमर

इस सम्बन्ध में मिर्जा कतील आगे यह लिखते है कि, कई बार तो इस डर से कि, लड़की न हो स्त्री का गर्भ गिरा दिया जाता था। मीर हसन ने पीलू की पत्तियों का उल्लेख किया है जिसको खाने से स्त्री का गर्भ गिर जाता था।[1] यद्यपि विधवाओं को दोबारा निकाह करने की छूट थी लेकिन स्त्रियों की दशा दयनीय ही थी, अमीर और धनवान बहुत ही व्यभिचारी थे। और स्त्रियों के प्रति कोई सम्मान न था।[2] मिर्जा कतील के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि स्त्रियों का समाज में कोई सम्मानजनक स्थान नहीं था।

अवध में लखनऊ फैजाबाद तथा अवध के अन्य क्षेत्रों में जिनाऽ अवैध सम्बन्ध । की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी।[3] मिर्जा कतील ने इस प्रथा पर प्रकाश डालते हुए यह लिखते है कि कुछ स्त्रियाँ अमीरों की नौकरानियों के माध्यम से तथा कुछ लौंडियों के माध्यम से लोगों के घरों में आना जाना शुरू कर देती थीं जो उन लोगों के साथ बैठकर मदिरापान और नृत्य करती थीं। कभी-कभी धन की लालच में माताएँ स्वयं अपनी पुत्रियों को आधी रात को किसी बुजुर्ग की मजार के दर्शन के बहाने या किसी और बहाने से उनके चाहने वालों के पास भेज देती थी। मेलों ठेलों आदि से भी अक्सर पुरूष और स्त्रियां अपने शारीरिक सम्बन्धों की इच्छापूर्ति करती थीं।[4]

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0- 142 उर्दू, अनुवाद डा0 मो0 उमर,
2. उमर, डा0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद - पृ0 - 708,
3. उमर, डा0 मोहम्मद - 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ0- 709,
4. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा -उर्दू अनुवाद- डा0 मोहम्मद उमर,

इसी प्रकार मोहर्रम की तिथि को इमामबाड़ो में मजलिसे व मर्सिया का आयोजन होता तो स्त्रियाँ और पुरुष दोनो ही एकत्रित होते थे और इस अवसर का लाभ उठाती थी ।[1]

हिन्दू समाज के प्रभाव के परिणामस्वरूप मुसलमानों में भी सूर्य व चन्द्र ग्रहण के अवसर को विशेष स्थान प्रदान किए गए । हिन्दुओं की भांति मुसलमानो में भी सूर्य ग्रहण लगने की औपचारिक रूप से घोषणा की जाती थी और ग्रहण का समय परेशानियों का समझा जाता था इसीलिए मुसलमान आमतौर पर रोजा रखते और विशेष नमाज पढ़ते थे । ग्रहण के पश्चात निर्धनों तथा अमीरों को अनाज, तेल, धन आदि खैरात के रूप में वितरित करते थे । लड़की अपने होने वाले शौहर को भेंट स्वरूप एक बकरी का बच्चा भेजा करती थी जिसे ग्रहण के समय शौहर की चारपाई के पाये से बांध कर रखा जाता था । गर्भवती महिलाओं और जानवरों को ग्रहण से सुरक्षित रखने के लिए भिन्न-भिन्न रस्में अदा की जाती थी ।[1] अवध के निवासियों में "शीतला माता" की पूजा कीभी प्रथा प्रचलित थी । चेचक की बीमारी पर शीतला माता को प्रसन्न करने के लिए धन और सिन्नी चढ़ाया जाता और भवानी देवी से मुरादे माँगी जाती थी ।[2]

इस प्रकार अवध के समाज में व्यापक रूप से अंध विश्वास और रूढ़िवादी विचारधाराएं विद्यमान थीं ।

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन्स आन द मुसलमान ऑफ इण्डिया पृ0- 158-61,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी मे हिन्दुस्तानी मआशिरत मीर का अहद पृ0- 694,

अध्याय - 2

मुस्लिम हिन्दू संस्कार (जन्म से मृत्यु तक) :-

साधारणतया रीति-रिवाजों के क्रियान्वयन में उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्गों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता, किन्तु उनके स्तर में धनी और निर्धन का अन्तर अवश्य परिलक्षित होता है । यद्यपि समकालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में वर्णित रीति-रिवाज उच्च वर्गों के है, जहाँ अधिकाधिक ऐश्वर्य प्रदर्शन ही मुख्य उद्देश्य था तथापि समाज के अन्य वर्गों के लोग भी अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप इन्हीं रिवाजों को अपनाए हुए थे । यद्यपि इन रीति-रिवाजो पर दिल्ली का गहरा प्रभाव पड़ा, किन्तु फिर भी इन रीति-रिवाजों में हमें एक नया अन्दाज दिखाई पड़ता है, जिसे " लखनवी अन्दाज" कहा जाता है । लखनऊ वालों ने दिल्ली की इन रस्मों को आलंकारिक स्वरूप प्रदान कर उनमें चमक दमक पैदा करने का प्रयत्न किया ।[1]

रस्म-रिवाज प्रत्येक समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है । लखनऊ में बच्चे के जन्म से लेकर विवाह तक का उत्साव अत्यन्त खुशी तथा उल्लास से मनाया जाता था । बच्चे के जन्म के सम्बन्ध में दिल्ली और अवध की रस्मों में कोई अधिक अन्तर न था अपितु उनमे काफी समानता पाई जाती थी । प्रख्यात शायर मिर्जा कतील तथा सआदत यार खाँ रंगीन (18 वीं शताब्दी के अवध के) ने अपनी कविताओं में जन्म से लेकर मृत्यु

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाएब-पृ0-337-338,

ता की सभी रस्मों का चिन्ताकर्षक विवरण प्रस्तुत किया है ।[1] इंशा के अनुसार, बच्चे के जन्म के समय लखनऊ में दाई की सहायता ली जाती थी, जैसा कि, इंशा ने अपनी एक कविता की एक पंक्ति में उल्लेख किया है-

लड़का जो निगोड़ा, जने भूत का काला ।[2]
ऐ दाई जनाई, परछाई अरी बी ।।"

बच्चे के जन्म के पश्चात बच्चे के कान में " अजान" देकर रस्म की शुरूआत कर दी जाती थी ।[3] तत्पश्चात बच्चे के जन्म के छठवें दिन"छठी का उत्सव" मनाया जाता था । छठी एक ऐसे उत्सव का नाम है, जब जन्म के बाद बच्चे और माँ को सर्वप्रथम स्नान कराया जाता था । गरम पानी से स्नान कराना माँ के स्वास्थ्य के लिए वैसे भी लाभदायक होता है, किन्तु इसे उत्सव का स्वरूप प्रदान कर एक अनिवार्य प्रथा बना दिया गया । चूँकि यह उत्सव बच्चे के जन्म के छः दिन बाद मनाया जाता था, इसलिये इसे "छठी" कहा गया । इस समारोह मे माँ और बच्चे के बाद सभी मेहमानों और रिश्तेदारों की औरतें एक के बाद एक स्नान करती थीं । माँ और बच्चे को नये-नये वस्त्र उपहार स्वरूप प्रदान किये जाते थे । किंचित परिवर्तन के साथ प्राय: विभिन्न नगरों और कस्बों के परिवारों में'छठी' इसी प्रकार मनायी जाती थी । नये कपड़ों का जोड़ा माँ और बच्चे के लिए, तथा हार, हसुँली आदि अन्य जेवर और खिलौने मायके से तथा बाजे

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद-।8वीं सदी मे हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद पृ0- 499,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 217
3. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया, पृ0- 210-211,

गाजे के साथ जुलूस के साथ आता था, साथ में खाने-पीने की वस्तुएँ भी रहती थीं। महिलाओं की सभा में नृत्य गायन का प्रबन्ध किया जाता था। यदि कोई व्यक्ति धनाभाव के कारण पेशेवर गवैयों को नहीं बुला पाता था तो घर की ही औरतें अपने हाथ से ढोलक बजा-बजा कर नाचती गाती थीं। बीसवें और चालीसवें दिन भी इसी प्रकार का उत्सव मनाया जाता था। किन्तु बीसवें और चालीसवें दिन के उत्सव को धनी व्यक्ति ही मनाया करते थे। यह प्रथा 18 वीं शती तक अपने इसी रूप में चलती रही।[1] किन्तु कालान्तर में नवाब गाजीउद्दीन हैदर की बेगम ने अपनी पसन्द की एक विशेष ढंग की "छठी" मनाने की प्रथा शुरू की। बेगम ने इस प्रथा को हजरत इमाम अली के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए प्रत्येक वर्ष शाबान के महीने में मनाना प्रारम्भ किया और इसमे वह अत्यधिक धन व्यय करती थी।[2] किन्तु यह प्रथा मात्र गाजीउद्दीन हैदर की ही बेगम मनाती थीं, आम जन साधारण ने इसमें कोई रुचि नही की, परिणामस्वरूप सम्पूर्ण नवाबी शासन में पहले की ही भाँति "छठी" की रस्म मनाई जाती रही।[3]

छठी की रस्म के पश्चात उसके दूसरे या तीसरे दिन या कभी-कभी उस वर्ष के किसी सुविधाजनक दिन मुण्डन या "अकीका" की रस्म पूर्ण की जाती थी। "अकीका" के अन्तर्गत यदि पुत्र होता तो दो बकरे और यदि पुत्री होती तो एक बकरी की कुर्बानी (बलि) की जाती थी। परन्तु शर्त

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ:द पास्ट फेज आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ०- 203-204, अनुवाद-डॉ०-एस०हारकोर्ट फाकिर हुसैन,
2. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध-भाग- पृ०- 131,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजिश्ता लखनऊ- पृ०- 332,

यह होती थी कि, इन जानवरों के शरीर का कोई भी अंग अविकृत न हो। मुण्डन के दिन बच्चे के सिर के बाल मूंडे जाते थे और उन बालों के भार के बराबर चाँदी गरीबों तथा दुखियों में खैरात के रूप में बाँट दी जाती थी। तत्पश्चात् बच्चे को उपहार दिए जाते थे।[1]

"अकीका" के पश्चात "खीर चटाई" का उत्सव मनाया जाता था, यह वह उत्सव था जब बच्चे को प्रथम बार माँ दूध के अतिरिक्त कुछ खाद्य-पदार्थ दिए जाते थे। जब बच्चा पाँच माह का हो जाता था तब "खीर चटाई" का उत्सव मनाया जाता था। इस अवसर पर महिला रिश्तेदारों और पड़ोसियों की उपस्थिति में बच्चे को ओंठ पर "चावल की खीर" लगाई जाती थी और तब महिलायें उसे आशीर्वाद देती थीं तथा बच्चे को पैसे और उपहार देती थी। "खीर चटाई" के बाद "दूध बरहाई" का भी उत्सव मनाया जाता था। यह वह उत्सव था जिसमें बच्चे से माँ का दूध छुड़ाया जाता था। इस अवसर पर मिठाई आदि बनाई जाती थी और जब बच्चा दूध के लिए जिद करता तो मिष्ठान उसके हाथ पर रख दिया जाता था। "दूध बरहाई" का उत्सव प्रायः बच्चे के दो वर्ष हो जाने पर किया जाता था। सुन्नियों के एक रूढ़िवादी वर्ग के अनुसार, बच्चे को ढाई वर्ष तक माँ के दूध पर रखा जा सकता है, किन्तु इसके बाद नहीं। यह उत्सव भी बहुत उल्लास से मनाया जाता था तथा इस अवसर नृत्य और गायन का भी आयोजन कराया जाता था।[2]

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ0-500,
   " शरर, अब्दुल हलीम-गुज़िश्ता लखनऊ- पृ0- 332,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0- 500,

जब बालक चार वर्ष, चार माह और चार दिन का हो जाता था तो "बिसमिल्लाह" नामक उत्सव मनाया जाता था । चार के अंक को इस उत्सव में इतना महत्व प्रदान किया गया कि, इसमे चार घंटे और चार मिनट भी सम्मिलित कर लिया गया ।[1] उच्च वर्ग में इस अवसर पर खुशियाँ मनाई जाती थी तथा एक समारोह का भी प्रबन्ध होता था । जिसमें अमीर तथा गरीब फकीर सभी उपस्थित होते थे । सर्वप्रथम बच्चे को कुरान की शिक्षा दी जाती थीं और बच्चे के माता-पिता अपने आर्थिक स्तर के अनुसार भोजन बनवा कर दीन-दुखियों को खिलाते थे ।[2] यह दिन बालक की शिक्षा का प्रारम्भिक दिन माना जाता था। सात वर्ष की उम्र में बच्चे को नमाज पढ़ना सिखाया जाता था और दस वर्ष की उम्र में बच्चे को नमाज पढ़ने को कहा जाता था । वयस्क होने के पूर्व "खतना" की भी एक महत्वपूर्ण रस्म अदा की जाती थी ।[3] साधारणतया यही विचारधारा लोगों में प्रचलित है कि "खतना" के पश्चात ही बालक पूर्ण मुसलमान हो जाता है, इसीलिए इस प्रथा को "मुसलमानी" भी कहा जाता है । इस उत्सव में "खतना" अभ्यस्त नाई द्वारा किया जाता था। इस अवसर पर सगे-सम्बन्धी आमंत्रित किए जाते थे और आनन्द मनाया जाता तथा मिष्टान वितरित किए जाते थे । साधारणतः यह रस्म लोग बालक के छठे या चालीसवे दिन मनाया करते थे जबकि कुछ लोग बालक के सातवें वर्ष की समाप्ति पर मनाया करते थे । "खतना" के पश्चात एक अन्य उत्सव "रोजा कुशाई" । व्रत तोड़ना। मनाया जाता

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 334,
2. "मआरिफ- माह दिसम्बर- 1970, पृ0- 409-441,
3. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए- फरहबख्श- पृ0- 306,

था । " रोजा कुशाई" का उत्सव तब मनाया जाता था जब बच्चा नौ या दस वर्ष का हो जाता था । इस प्रथा के अन्तर्गत बच्चा सर्वप्रथम रोजा ( उपवास ) रखता था । इस अवसर पर सगे-सम्बन्धियों को इसलिए आमंत्रित किया जाता था कि वह बच्चे के साथ मिल कर व्रत तोड़ें । लड़की अपना रोजा स्त्रियों के साथ तोड़ती थी । चूँकि यह एक धार्मिक उत्सव होता था इसलिए इसमें नृत्य तथा गायन प्रतिबन्धित होता था किन्तु कुछ लोग इस अवसर पर भी आनन्द मानते थे ।[1] इस प्रकार "छठी" से लेकर " खतना" तक के सभी उत्सव बहुत ही उल्लास से मनाये जाते थे । इन अवसरों पर रिश्तेदार और पास-पड़ोस के लोग एकत्र होते थे, स्त्रियों की महफिलें सजती थीं । रात भर मुजरे होते, डोमनियां नकलें करती थी । इस अवसर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन बनते और मेहमानों को परोसे जाते । और सुबह होने पर मस्जिद में जाकर " ताक भरते" थे ।[2] इन अवसरो पर यही बातें देहात में भी होती थी, परन्तु वहाँ वे बेढ़ंगे तरीके से सम्पन्न होती थी इसके विपरीत शहरी स्त्रियाँ स्वच्छता और सलीके से मनाती थी।[3]

जब लड़के और लड़की वयस्क हो जाते थे तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण रस्म " निकाह" सम्पन्न की जाती थी । जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त संस्कारो में "निकाह" सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार होता था। मुस्लिम समाज में वैवाहिक बन्धन को ही" निकाह" कहा गया । "निकाह" का शाब्दिक अर्थ

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ- पृ0- 334-35,
2. ताक भरने मे गुलगुले और रहम ( चावल, दूध, शक्कर, तथा मेवे को मिलाकर लड्डू बनाया जाता था उसी को रहम कहते थे ) आदि विशेष वस्तुएं होती थी - गुजश्ता लखनऊ -पृ0- 330
3. शरर, अब्दुल हलीम गुजश्ता लखनऊ- पृ0- 331,

होता है - दो विषमलिंगीय व्यक्तियों का मिलन । स्पष्टतः "निकाह" एक संविदा है जिसका उद्देश्य लौकिक सहवास तथा प्रजनन को वैधानिक स्वीकृति प्रदान करना । कुरान के दूसरे पारा में वर्णित है कि, शिर्क वाली औरतें जब तक ईमान न लाएँ, उनसे निकाह मत करो । स्पष्टतः मुस्लिम समाज में विवाह पर पुरुषों का प्रभुत्व रहता है। वास्तव में मुस्लिम विवाह स्थायी बन्धन न होकर केवल शिष्ट सामाजिक समझौता माना गया है । अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि, भारतवर्ष में प्रचलित मुस्लिम विवाह के सभी प्रकार मूलतः अरब समाज की प्रारम्भिक अवस्था में प्रचलित थे, इस संस्था पर स्त्रियों का आधिपत्य था किन्तु जब धीरे-धीरे पुरुष प्रधान धारणाओं ने जन्म लिया और स्त्री को " महर" का अधिकार दे कर शेष सारे अधिकार पुरुषों ने अपने पास रख लिए ।[1] ऐसी परिस्थिति में 18 वीं शती में स्त्रियों के सामाजिक स्तर में परिवर्तन हुआ विशेष कर अवध में जहाँ निकाह जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार में स्त्रियों को समुचित आदर व सम्मान प्रदान किया गया जो अवध में प्रचलित " निकाह" की महत्त्वपूर्ण रस्मों के अध्ययन से ज्ञात होता है।

18 वीं शती के अवध में "निकाह" की रस्मों के अन्तर्गत "साचक" "मेंहदी" तथा " निकाह" की रस्में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती थीं ।[2]

---

1. श्रीवास्तव, हेमलता, भारतीय समाज की संरचना-पृ0- 301.
2. कतील , मिर्जा मोहम्मद हसन- रुक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 41.

वैवाहिक सम्बन्ध प्राय: "मसाटा" [1] के माध्यम से निश्चित किये जाते थे। परन्तु कभी-कभी वैवाहिक सम्बन्ध बच्चों के जन्म के समय ही निश्चित हो जाते थे। ऐसे समय में किसी "मसाटा" की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। प्रारम्भिक अनुमति के पश्चात प्राय: लड़का, लड़की के घर आमंत्रित किया जाता था ताकि उसे लड़की दिखाई जा सके। लड़का अपने अंतरंग मित्रों के साथ लड़की के घर जाता था और लड़के को ऐसे निश्चित स्थान पर बिठाया जाता था जहाँ घर की औरतें भली-भाँति परदे से झाँक कर देख सकें। लड़की के घर वाले लड़के से मिलते और बातें करते। इसी प्रकार लड़के की माँ और बहनें निश्चित दिन लड़की के घर जाती और उसे मिष्ठान आदि देकर लड़की देखती। कुछ मुसलमानों में लड़के को घर बुलाने की प्रथा नहीं थी। इस प्रकार जब दोनों पक्ष संतुष्ट हो जाते तब "सगाई" की रस्म अदा की जाती। लड़के के परिवार वाले मिष्ठान, फूलों के आभूषण और एक सोने की अंगूठी आदि महिला सम्बन्धी के द्वारा लड़की को देते थे। इस प्रकार 'सगाई' के अवसर से लेकर विवाह तक दोनों परिवार सभी त्योहारों या उत्सवों पर भोजन मिष्ठान और उपहार आदि भेजते थे। जो वस्तु लड़की या लड़के के लिए होती थी उसे विशेष ढंग से सजाया जाता था। इसके

---

1. मसाटा- 18वीं शताब्दी में लगभग सभी बड़े नगरों में औरतों का एक ऐसा वर्ग उपस्थित था, जिनका व्यवसाय ही शादी ब्याह कराना होता था। यह औरतें अपने फन में बहुत माहिर होती थीं, और जब लड़के का वर्णन लड़की वालों के समक्ष करती तो उनके वैभव और गुणों का अतिरंजित बखान करती। इसी प्रकार जब लड़के वालों के समक्ष लड़की के बारे में बताती तो उसकी सुन्दरता तथा हावभाव का ऐसा वर्णन करती, मानो किसी राजकुमारी का कर रही हो- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 335,

अतिरिक्त सूखे खाद्य-पदार्थ, गरी, पान, सुपारी तथा सिल्क का बटुआ भी भेजे जाते थे।[1]

विवाह की रस्में एक ही दिन में पूर्ण नहीं होती थी, अपितु कई दिनों पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाती थी। विवाह के कभी ग्यारह, कभी नौ या सात दिन पूर्व से ही विवाह की रस्मे प्रारम्भ हो जाती थी। विवाह की एक प्रथम रस्म " माझे पर बैठाना"[2] कहलाती थी। इस दिन दुल्हन को लाल वस्त्र पहनाया जाता था और विशेष परिस्थितियों को छोड़कर दुल्हन का कमरे से बाहर निकलना प्रतिबन्धित कर दिया जाता था, जिससे कि दुल्हन पर किसी की दृष्टि न पड़ सके। इसी दिन से दुल्हन को प्रतिदिन उबटन मला जाता था। दुल्हन के प्रथम दिन का झूठा उबटन, उसकी झूठी मेंहदी तथा पेडिये[3] थाल में रखकर दुल्हा के घर जुलूस के रूप में भेजा जाता था। इसके साथ और भी सामान होता था, जैसे- माझे का लाल वस्त्र, एक रंगीन नक्काशीदार चौकी और लोटा तथा कटोरा भी होता था। लोटा और कटोरा चौकी पर रख कर धागे से बाँध दिया था। जुलूस मे यह वस्तुएँ इस प्रकार से रखी होती थी कि, बैण्ड बाजे वाले और जुलूस के अन्य व्यक्तियों के पश्चात चौकी होती थी तत्पश्चात बड़े-बड़े थालों में अनेक किस्मों की पेडियो के थाल होते थे। दुल्हन की छोटी बहने तथा दुल्हन की सहेलियाँ डोलियों पर बैठ कर जाती थी और दुल्हे के घर पहुँच

---

1. इस रस्म में दुल्हन को स्नान आदि कराकर माझे पर अर्थात पलंग पर बिठा दिया जाता था। -फसाना-ए- आजायब-पृ0- 338,
2. पेंडियो एक प्रकार का लड्डू होता था जो मैदे को घी में भून कर उसमे खाण्ड और मेवा मिलाकर बनाया जाता था। -फसाना-ए-आजायब, पृ0- 338,

कर एक पेंडी और मिश्री के सात-सात टुकड़े करके दूल्हे को खिलाती थी ।[1]
अब्दुल हलीम शरर के अनुसार, यह प्रथा शुद्ध भारतीय प्रथा थी, क्योंकि
माँझे और इसके साथ कँगने की शुरूआत भारत के अतिरिक्त कहीं नही होती
थी ।[2] जिस दिन दुल्हन माँझे पर बैठती थी आमतौर पर उसी दिन दूल्हे
को भी माँझे पर बिठाया जाता था और दुल्हन का झूठा उबटन दूल्हे को
मला जाता था । इसके साथ ही दूल्हे तथा दूल्हे की हम उम्र लड़कियाँ, उसकी
बहनें और अन्य रिश्तेदार संयुक्त रूप से "सुहाग" का गाना गाती थी।
वर्तमान समय की भाँति उस समय भी दुल्हन के घर स्त्रियाँ गाना गाती थी,
जिसमे बड़े उत्साह के साथ दूल्हे का उल्लेख किया जाता था ।[3]

"माँझे" के पश्चात द्वितीय महत्वपूर्ण रस्म "साचक"[4] की अदा
की जाती थी । मौलाना अब्दुल हलीम शरर के अनुसार, साचक की रस्म
तुर्क व मुगल अपने साथ भारत लाए ।[5] साचक रस्म के अन्तर्गत दूल्हे के घर से
दुल्हन के घर अनेक वस्तुएँ भेजी जाती थी जिनमे दुल्हन के लिए वस्त्र, दुल्हन
के लिए सुनहरे रँग का सेहरा, चाँदी का छल्ला, सोने की अँगूठी तथा
वह आभूषण होता था जिसको पहन कर दुल्हन बिदा होती थी । इसके

---

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 339,
2. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 456,
3. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग -फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 339,
4. "साचक" विवाह की द्वितीय महत्वपूर्ण रस्म होती थी जिसमे विवाह के कुछ दिन पूर्व रात्रि के समय कुछ नक्काशीदार घड़े जिसमें मेवा और मेंहदी इत्यादि वस्तुएँ होती थीं, दुल्हन के घर भेजी जाती थी - फसाना-ए- आजाएब-पृ0- 340 ,
5. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 475,

साथ फूलों के गहनें और शक्कर तथा मेवे इत्यादि भी भेजे जाते थे। "साचक" के लिए विशेष रूप से रंगे हुए और रंगीन घड़े तैयार कराये जाते थे, फिर बाँस और कागज के रंग-बिरंगे तख्तों पर चार-चार घड़े लगाकर चौखटे बना दिये जाते थे और आर्थिक स्तर के अनुरूप इन चौखटों की संख्या बढ़ती जाती थी। जुलूस में उन सब घड़ों के आगे चाँदी की मटकी में दही भर कर रखी जाती थी, जिसका मुँह "सोहानारा" [लाल रंग का धागा- जिसे कलाई नारा या कलावा भी कहते हैं] से कस कर बाँध दिये जाते थे। इन घड़ों के गले में सगुन के लिए दो एक मछलियाँ[1] भी बाँधी जाती थी। यह वस्तुयें जब दुल्हन के घर पहुँचती थी तो दुल्हन के घर वाले ये वस्तुएँ लेकर अपने रिश्तेदारों तथा नातेदारों में वितरित कर देते थे।[2] "साचक" की रस्म में "शेख फरीद का पूड़ा" भी बहुत महत्व रखता था। शिया तथा सुन्नी दोनों ही वर्ग के लोग इस रस्म को अदा करते थे। "साचक" की वस्तुओं में "शकर का पूड़ा" रखा जाता था जो "शेख फरीद का पूड़ा" कहलाता था।[3]

"साचक" की रस्म के पश्चात उसके अगले दिन या दो/तीन दिन बाद "हिना लगाई" अर्थात् "मेंहदी" की रस्म अदा की जाती थी।

---

1. मछलियाँ उस समय के लखनवी समाज में बहुत शुभ मानी जाती थी और इसी लिए मछली को ही अवध के नवाबों ने राजचिन्ह के रूप में स्वीकार किया। आज भी उत्तर प्रदेश राज्य सरकार का राजचिन्ह मछली ही है, यह लखनवी संस्कृति के स्थायी प्रभाव का द्योतक है।
2. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजायब-पृ0- 341,
3. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0- 142, उर्दू अनुवाद- डा, मोहम्मद उमर,

वास्तव में यह रस्म एक प्रकार से "साचक" रस्म का प्रत्युत्तर में यह रस्म एक प्रकार से "साचक" रस्म का प्रत्युत्तर थी । "हिना" के जुलूस में निम्नलिखित वस्तुयें होती थी - विवाह के अवसर पर पहने जाने वाला एक विशेष वस्त्र। कलगी, खिलअत तथा सरपेंच आदि।, मोतियों का हार, रेशमी पायजामा, जूता, मोजा, अंगूठी, सेहरा, इत्यादि अनेकों विभिन्न वस्तुएं होती थी । मेंहदी को बर्तन में रख कर हरी और लाल मोमबत्ती जला कर रखते थे । "मेंहदी" के बर्तन के साथ मलीदे[1] का देग[2] होता था, जिसकी संख्या उनके आर्थिक स्तर के अनुसार होती थी, इसके साथ ही मिष्ठान और सूखे मेवे के भी थाल होते थे । [3] मिर्जा रजब अली बेग सरूर के अनुसार, यह प्रथा अरब से आई थी ।[4] किन्तु लखनऊ के लोगों ने इस अरबी प्रथा को आलंकारिक रूप प्रदान कर पूर्ण रूप से लखनवी अन्दाज में रँग दिया । दूल्हा के घर मेंहदी आने का समय रात्रि का होता था । मेंहदी पहुँचने के बाद दूल्हे को जनानखाने में ले जाया जाता था और दूल्हे की सालियाँ उसके हाथों तथा पैरो में मेंहदी लगाती थी, जब स्त्रियां मेंहदी लगा चुकती तो दूल्हा अपने आर्थिक स्तर के अनुसार कुछ नगदी रूपया "नेग" के रूप में देता था । वह स्त्रियां जो दूल्हे से आयु में बड़ी होती थी, उसे आशीर्वाद देती थीं । इस रस्म के समय पुरूषों की बैठक में दोनो ओर की

---

1. मलीदा- एक विशेष प्रकार का खाद्य पदार्थ जो रोटी, खोवा और मेवा को मिलाकर बनाया जाता था।
2. देग- एक प्रकार का घड़ा नुमा बर्तन ।
3. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 341,
4. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 341,

नर्तकियाँ नृत्य करती और जनानखाने में डोमनियाँ बधाई गीत गाती ।[1] तत्पश्चात दुल्हन के घर वालों को शरबत पिलाया जाता तथा थाली में रूपये रख कर समधिन को दे दिया जाता था । तत्पश्चात् अतिथियों को विदा कर दिया जाता था।[2]

561009

मेंहदी के जुलूस के दूसरे दिन बड़ी धूमधाम और उत्साह के साथ दूल्हे की "बारात" निकलती थी । नवाब वाजिद अली शाह के पूर्व बारात रात्रि के तृतीय पहर अर्थात् तीन बजे भोर में जाती थी किन्तु नवाब वाजिद अली शाह की बारात संयोगवंश देर हो गई परिणामतः प्रजा ने भी नवाब का अनुसरण करते हुए इसी समय बारात ले जाना प्रारम्भ कर दिया, और इस प्रकार नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल से बारात नौ या दस बजे सुबह जाने लगी ।[3] वर्तमान समय में भी अधिकांश मुस्लिम वर्ग के लोग इसी नियम का पालन कर रहे है । प्रातःकाल का समय बारात के लिए लोगों ने इसलिए भी अपनाया कि, सुबह की बारात में उन्हे सुविधा होती थी तथा प्रकाश के साधनों की भी आवश्यकता नही पड़ती थी, इसके अतिरिक्त बारात सुबह जाकर रात्रि तक वापस लौट आती थी । यह सभी सहूलियते जब जनता ने देखी तो यही समय बारात के लिए अपनाना प्रारम्भ कर दिया । बारात के दिन संध्याकाल से ही लोग दूल्हे के घर एकत्रित होने लगते थे । दूल्हे को केसरिया वस्त्र पहना कर मसनद पर बिठा दिया जाता था तथा नृत्य और गायन में

1-10
305

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद पृ०- 505,
2. शरर, अब्दुल हलीम -लखनऊ-द-लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ०- 207, अनुवाद-ई०एस०हारकोर्ट,फाकिर हुसैन ,
3. जरदोजी-चमकीले तारो से बना हुआ कामदार वस्त्र ।

व्यस्त कर दिया जाता था । नर्तकियों को दूल्हा अपने हाथों से इत्र-पान आदि वस्तुये देता था । दूल्हे को नहला धुला कर जरदोजी का वस्त्र और सेहरा पहनाया जाता था ।[1] तत्पश्चात गले और कन्धे पर फूलों की माला लटकाई जाती थी । तत्पश्चात् दूल्हा परिवार की रस्म के अनुसार हाथी या घोड़े पर सवार होकर निकलता था। दूल्हे के साथ दूल्हे के परिवार के किसी बच्चे को " सहबाला" के रूप में बिठाते थे । बारात बड़ी धूमधाम से रोशनी, आतिशबाजी तथा बाजों के साथ दुल्हन के घर रवाना होती थी ।[2]

बारात यथा सम्भव सजायी जाती और बारात के जुलूस के तीन भाग होते थे - बैण्ड बाजे, रोशन चौकी तथा दूल्हे और उसके नातेदार तथा रिश्तेदारो का समूह । इसके अतिरिक्त कभी-कभी घोड़े की पीठ पर बड़े-बड़े नगाड़े रखे रहते थे तथा अनेक लोग ध्वज और भाले इत्यादि । इस समय " नौशा" कहते थे, क्योंकि इस समय दूल्हे की स्थिति बादशाह की भाँति होती थी और बारात बिल्कुल शाही अन्दाज में निकलती थी, और वास्तव में दूल्हे को " एक दिन का बादशाह" कहा जाता था ।[3] इस प्रथा के सम्बन्ध में मौलाना शरर कहते हैं कि, जब दूल्हे को बादशाह बनाते हैं तो उसे ताज पहनाना चाहिए, किन्तु भारत के मुस्लिम शासक

---

1. इंशा, इंशाउल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 89,
2. दास, हरचरन-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 174,
   कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-रुक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 28,
   बख्श मोहम्मद फैज- तारीख-ए- फरहबख्श-पृ0- 238,
3. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ-द-लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर पृ0- 208

चूँकि ताज नही पहनते थे बल्कि जवाहरातों से सजा समला पहनते थे और यद्यपि अंग्रेजो ने गाजीउद्दीन हैदर और उसके उत्तराधिकारी को बादशाहत प्रदान की थी किन्तु सामान्य प्रजा ने इसे स्वीकार नही किया और अपने "नौशा" को पूर्व परम्परा के अनुसार ही सजाते सँवारते थे ।[1] यह प्रथा लखनवी सभ्यता और संस्कृति पर दिल्ली साम्राज्य के प्रभाव की पुष्टि करती है । इसके अतिरिक्त दूल्हे के चेहरे को फूलों की लड़ियों से ढकने की प्रथा, जो उस समय के लखनवी समाज में प्रचलित थी, से प्रभावित होकर हिन्दू समाज के उच्च वर्ग के लोग भी दूल्हे के चेहरे को फूलो से ढकने लगे, आज भी हिन्दू समाज के अनेक वर्ग इस प्रथा का पालन कर रहे है । यह मुसलमानो के हिन्दुओं पर प्रभाव को भी स्पष्ट करता है।

इस प्रकार जब यह बारात दुल्हन के घर पहुँचती थी तो बारात का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया जाता था । दुल्हन के घर पहुँच कर "धंगाना" नामक रस्म पूरी की जाती थी ।[2] फिर "किलास"[3] नामक पानी को दूल्हे की सवारी घोड़े या हाथी के पैरो के नीचे डाल दिया जाता था । तत्पश्चात दूल्हा बारातियों सहित अन्दर प्रवेश करता और उसे मसनद पर बिठा दिया जाता तथा नाच-गाना औरमहफिल प्रारम्भ होती थी ।[4] तत्पश्चात दूल्हे को जनानखाने मे ले जाया जाता था । इसी समय दुल्हन

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियँटल कल्चर पृ0-208
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0-149, उर्दू अनुवाद-डा0 मो0 उमर,
3. "किलास" उस पानी को कहते है जिससे दुल्हन को नहलाया जाता था और नहलाने का पानी सुरक्षित रख लिया जाता था।- उपरोक्त,
4. देहलवी मीर हसन- मजमुआ मसनवियात मीर हसन-पृ0- 127,
   कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रूक्कात-ए-मिर्जा कतीला-पृ0- 4
   बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख फरहबख्श-पृ0- 238,

के स्नान की भी रस्म सम्पन्न हो रही होती, जिसके अन्तर्गत एक लकड़ी की चौकी पर पान की पत्तियाँ बिछायी जाती थी, जिस पर उसे स्नान कराया जाता था, उन पत्तियों में से कुछ पत्तियाँ उन इक्कीस पान की पत्तियों में सम्मिलित की जाती थी जो दूल्हे के पहुँचने पर दी जाती थी । दुल्हन का स्नान समाप्त होने पर उसके हाथ में मिश्री रखी जाती थी और जब दूल्हे को अन्दर लाया जाता था तब उसे दुल्हन के हाथ से मिश्री खिलाई जाती थी । इस प्रक्रिया में दुल्हन की बहने एवं सहेलियाँ अवरोध उत्पन्न करती और दूल्हे को छेड़ती थी ।[1] यह प्रथा शुद्ध रूपसे लखनऊ की थी ।[2] क्योंकि दिल्ली में दूल्हा जनानखाने में नहीं जाता था किन्तु पुरुष लोग मरदाने भाग में जाते थे, बीच में दूल्हा बैठता था तथा उसके चारो ओर बाराती बैठते थे ।[3] परन्तु लखनऊ में दूल्हा स्त्रियों के जनानखाने में जाकर तब वापस मरदाने भाग में आता था ।[4] तत्पश्चात " निकाह" की महत्वपूर्ण रस्म अदा की जाती थी । " निकाह" कार्यक्रम में शिया और सुन्नी वर्ग में कुछ अन्तर था । शियावर्ग से "निकाह" के लिए दो मौलवी अर्थात काजी आते थे - एक लड़की के लिए दूसरा लड़के की ओर से । लड़की वाला काजी लड़की से " शरई स्वीकृति" लेकर दूल्हे के सामने बैठ कर दूल्हा-दुल्हन से कुरान

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ0- 209, अनुवाद-ई0-एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. अहमद, मौलवी सईद- रसूम देहली-पृ0-114,
3. अहमद मौलवी सईद- रसूम देहली- पृ0- 114,
4. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ0- 209, अनुवाद ई0एस0 हारकोर्ट , फाकिर हुसैन,

पाक की शपथ लेकर " निकाह" कुबूल" करवाने की रस्म अदा करते थे जबकि सुन्नियों में लड़की वालों की ओर का कोई भी व्यक्ति दो गवाहों की गवाही पर वकील बन जाता था और काजी उन गवाहों पर भरोसा करके "महर" ज्ञात करते थे, फिर दूल्हे को धर्म और ईमान की शपथ दिलवा कर तीन बार अपनी स्वीकृति देकर निकाह पढ़वाते थे, तथा एक खुत्बा पढ़ते थे ।[1] जैसे ही "निकाह" की रस्म सम्पन्न होती वैसे ही लोग मुबारकबाद देने लगते और सूखी मिठाइयाँ तथा मेवे इत्यादि बाँटे जाते तथा साथ ही गीत-संगीत का रँगारँग कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता था । "निकाह" की रस्म पूरी होने के पश्चात दूल्हे को पुनः स्त्रियों के कक्ष में ले जाया जाता था जहाँ दुल्हन की बहनें एवं अन्य स्त्रियाँ दूल्हे के साथ तरह-तरह के हँसी-मजाक करती थीं । इस समय तक दुल्हन मात्र एक चादर में लिपटी होती थी और जब उसे दूल्हे के पास लाया जाता था तो उसे इस प्रकार लाया जाता कि दुल्हन का एक पैर दूल्हे को पड़ जाय । इसी के साथ स्त्रियाँ "सुहाग के गीत" गाना प्रारम्भ कर देती थीं और दूल्हे को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि आजीवन वह दुल्हन की सेवा करेगा, उसकी बात मानेगा । तत्पश्चात विवाह की एक महत्वपूर्ण रस्म "आरसी मुसहफ" का कार्यक्रम सम्पन्न होता था । " आरसी- मुसहफ" के अन्तर्गत दूल्हा तथा दुल्हन के मध्य "कुरान" रख कर उस पर एक शीशा रख दिया जाता था कि वह झलक देख लें । किन्तु यह आवश्यक था कि, चेहरा देखने के पूर्व दूल्हा " सूरे एखलास" नामक पवित्र

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 209, अनुवाद ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन ,

कुरान की आयत का पाठ कर ले । इस समय तक दुल्हन अपनी आँखे बन्द किये रहती थी, और वहाँ उपस्थित स्त्रियाँ दूल्हे से यह प्रार्थना करती है कि, वह दुल्हिन से आँखे खोलने के लिए कहे । दूल्हे के बहुत अनुनय विनय के पश्चात दुल्हन आँखें खोलकर फिर बन्द कर लेती थी । इस प्रकार यह रस्म समाप्त होती थी और दूल्हे को वापस मरदाने भाग में ले जाया जाता था ।[1]

तत्पश्चात विदाई की तैयारी होती थी। जिसके अन्तर्गत दुल्हन को केसरिया वस्त्र और आभूषणों से सजाया जाता था ।[2] केसरिया वस्त्र का प्रयोग विवाह जैसे शुभ अवसरों पर करना मुसलमानों पर हिन्दू प्रभाव को स्पष्ट करता है । मुसलमानों द्वारा केसरिया वस्त्र का प्रयोग यह भी स्पष्ट करता है कि, उन्हें केसरिया वस्त्र से कोई परहेज नहीं था जैसी कि आम धारणा है कि मुसलमान केसरिया रँग से घृणा करते थे और उसे हिन्दू प्रतीक चिन्ह मानते थे । केसरिया वस्त्र का प्रयोग आज भी "खतना" तथा विवाह के अवसरों पर मुसलमानों द्वारा किया जाता है।

विदाई के पूर्व दहेज का सारा सामान बाहर सजा कर रखा जाता था और दूल्हे के परिवार वालों को उसकी सूची दे दी जाती थी । दहेज में आभूषण वस्त्र, बर्तन, फर्नीचर एवं खाद्य पदार्थों सहित बहुत से सामान होते थे । दुल्हन की सखियाँ उसके नातेदार एवं रिश्तेदारों की स्त्रियाँ रूँधे गले से बिदा करती थी और उसे विभिन्न वस्तुएँ भेंट स्वरूप प्रदान करती थीं।

---

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 344.
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0-41.

तत्पश्चात एक सजी हुई पालकी दरवाजे पर लाई जाती थी, और दूल्हा अपने हाथों से उठा कर दुल्हन को पालकी में बिठाता था । दूल्हे को भी इस समय विभिन्न उपहार, धन इत्यादि भेंट किए जाते थे । इसी समय पुरूषों को शर्बत आदि दिया जाता था और वहाँ पहले से रखी हुई तश्तरी में सभी मेहमान दूल्हे के लिए कुछ न कुछ धन रखते थे ।[1] बिदाई की यह प्रथा काफी हद तक हिन्दुओं से प्रभावित थी । आज भी बिदाई की यही प्रथा किंचित परिवर्तन के साथ चल रही है। किन्तु हिन्दू और मुस्लिम प्रथा की बिदाई में जो एक अल्प अन्तर था, वह यह कि मुस्लिम प्रथा में दूल्हा दुल्हन को अपने हाथों से उठा कर पालकी में बिठाता था जबकि हिन्दू प्रथा में दुल्हन स्वयं पालकी में बैठती थी । इस अन्तर के अतिरिक्त लगभग सभी प्रक्रियायें एक जैसी ही थी ।

बिदाई के पश्चात बारात धूमधाम से दूल्हे के घर की ओर वापस चलती थी । इस समय दूल्हे की सवारी के आगे दुल्हन की पालकी होती थी । उसकी पालकी रेशमी शाल से ढकी होती थी । पालकी के चारो कोनो पर स्त्रियाँ होती थीं तथा उनके चारो ओर दूल्हे के नौकर और दूल्हे के इष्ट-मित्र इत्यादि चलते थे । इसके पीछे दहेज का सामान सजाया हुआ चलता था । दहेज मे अन्य कीमती वस्तुओं केअतिरिक्त दैनिक उपयोग की भी वस्तुएँ प्रदान की जाती थी जैसे शीशा, कंघा, तेल, इत्र, पानदान, खासदान, जग, कटोरा , लोटा एवं बड़े-बड़े थाल होते थे, जिसमें विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ रहते थे, जो दुल्हन के परिवार वालो की ओर से

---

1. सरूर , मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0-345,

दिये जाते थे । इस प्रकार बारात धूमधाम से दूल्हे के घर वापस पहुँचती थी । घर पर पहुँचने पर बारात का स्वागत बड़े उत्साह से गीत संगीत के साथ किया जाता था । बारात की स्त्रियाँ पहले ही घर आ जाती थी, और वे बारात आने पर विवाह का शुभ गीत गाने लगती थी । तत्पश्चात दुल्हन को घर के अन्दर लाया जाता था । कुछ परिवारों मे दूल्हा स्वयं अपने हाथों से दुल्हन को उठा कर लाता था एवं कुछ परिवारो मे दूल्हे की माँ या बहन दुल्हन को उठा कर लाती थी । तत्पश्चात दुल्हन को घर में एक चौकी पर बिठा कर उसके पैर धुलवाये जाते थे, फिर वह पानी घर के चारो कोनो पर छिड़काते थे । तब जाकर दुल्हन का चेहरा खोला जाता था। जिसे " मुँह दिखाई" की रस्म कहा जाता था । इस रस्म के अन्तर्गत दूल्हे के नातेदार रिश्तेदार धन स्वर्णाभूषण व अन्य वस्तुएँ दुल्हन को भेंट करते थे ।[1] " मुँह दिखाई" की यह रस्म हिन्दू प्रथा भी जिसे लखनवी संस्कृति ने अपना लिया था और जो हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति के एक दूसरे पर प्रभाव को स्पष्ट करती है । "मुँह दिखाई" की रस्म के पूर्व दूल्हा" खुशी की नमाज अर्थात "शुकराने की नमाज" अदा करता था ।[2] इस नए घर में दुल्हन की प्रथम रात्रि उसके जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रात्रि होती थी जिसे "सुहाग की रात्रि" या "तख्त की रात्रि" कहते थे । यह रात्रि दुल्हन बिल्कुल औपचारिक रूपसे व्यतीत करती

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ:द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर पृ0-210 अनुवाद -ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिरहुसैन,

2. सरूर , मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 345,

थी । वह न तो किसी बातें करती थी और न ही किसी की ओर देखती थी, केवल उन्हीं लोगों से बातें करती थी जो स्त्रियाँ या लड़कियाँ उसके साथ मायके से आई होती थीं । दुल्हन को इस स्थिति से मुक्त कराने के लिए दूसरे दिन सूर्योदय के समय दुल्हन के भाई और सगे-सम्बन्धी मिष्ठान आदि लेकर दुल्हन को बुलाने आते थे ।[1] तत्पश्चात "चौथी" नामक रस्म अदा की जाती थी ।[2] "चौथी" नामक यह रस्म भी हिन्दू रस्म से काफी हद तक साम्य रखती है परन्तु इसके मनाने के ढंग में कुछ अन्तर है । इसके अतिरिक्त मुसलमानों में दुल्हन का भाई दूसरे ही दिन बुलाने आता है जबकि हिन्दुओं में कई दिन बाद दुल्हन को बुलाने की प्रथा है । इस अवसर पर जब दुल्हन मायके जाती थी तो दूल्हा स्वयं भी उसके साथ जाता था । दुल्हन के घर दोनों परिवारों की स्त्रियाँ एकत्रित होतीं थीं और इस प्रसन्नता के अवसर पर रंगीन पानी एक दूसरे पर फेंकती थी ।[3] यह प्रथा आज भी हिन्दुओं में प्रचलित है । किन्तु अन्तर यह है कि " रंग खेलने की प्रथा" हिन्दुओं में बिदाई के समय होती थी जबकि मुसलमानों में विवाह के कई दिन बाद चौथी की रस्म के समय होती थी । यह रस्म भी मुसलमानों पर हिन्दू प्रभाव को स्पष्ट करती है । "चौथी" की रस्म के पश्चात फूलों के आभूषण तथा टोकरियों में हरी सब्जियाँ जैसे- बैंगन, शलजम आदि दूसरी ऐसी ही अन्य वस्तुएँ तथा फल-फूल होते थे जाते और सब्जियाँ और फल दूल्हे तथा दुल्हन

---

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजायब-पृ0- 345,
2. उमर, डॉ, मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद-पृ0- 506,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद - पृ0- 506,

के परिवारों की स्त्रियाँ एक दूसरे पर फेंकती थी और फूलों की छड़ियों से लड़ती थीं । कभी-कभी इन अवसर पर लोगों को चोट भी लग जाती थी । इंशा ने अपनी कविताओं में फूलों की छड़ियों से लड़ने का जिक्र किया है ।[1] इस रस्म का उद्देश्य वर एवं वधू पक्षों के मध्य प्रेम और सौहार्द्र उत्पन्न करना था । एक या दो दिन के पश्चात दुल्हन दूल्हे के घर जाती थी जहाँ "चार चाले" नामक समारोह होता था । तत्पश्चात दुल्हन के मायके और ससुराल के रिश्तेदार बारी-बारी से दूल्हा एवं दुल्हन को आमंत्रित करते थे और एक रात अपने घर में रखते थे । जब वह दूसरे दिन जाने लगते थे तो उन्हे अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूल्हे को वस्त्र इत्यादि एवं दुल्हन को स्वर्णाभूषण तथा धन इत्यादि देते थे ।[2] यह प्रथा भी वास्तव में परस्पर प्रेम और स्नेह उत्पन्न करने के लिए प्रारम्भ की गई थी, यह प्रथा दुल्हन को रिश्तेदारों से मिलने जुलने का भी एक अवसर प्रदान करती थी । यह प्रथा हिन्दुओं में भी प्रचलित थी और आज भी है।अन्तर केवल इतना है कि मुसलमानों में दूल्हा दुल्हन एक रात्रि रूक सकते थे जबकि हिन्दुओं में रात्रि में रूकने की प्रथा नहीं है । इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुस्लिम विवाहों मेंभी अनेक अन्तर परिलक्षित होते हैं । जैसे हिन्दुओं में रिश्ता, लड़की वाले माँगते है जबकि मुसलमानो मे लड़के वाले रिश्ता माँगते है। हिन्दुओं में वर मूल्य"दहेज" प्रचलित है,जबकि मुसलमानो में कन्या मूल्य"महर" का प्रचलन है । हिन्दू विवाह में औपचारिक तौर पर साक्षियों का कोई महत्व नहीं होता किन्तु मुस्लिम विवाह मेंगवाह के बिना विवाह अवैध माना जाता था।

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात-मीर काअहद, पृ0- 507,
2. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ-द-लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0-21। अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट फाकिर हुसैन,

जहाँ तक अवध के ग्रामीण क्षेत्रों में वैवाहिक समारोहों का प्रश्न है, वहाँ अनेक मामलों में कुछ भिन्नताएँ थीं किन्तु " निकाह" की प्रक्रिया वही होती थी । " माँझा का प्रचलन ग्रामीण क्षेत्रों में भी होता था । दूल्हे को " पीला वस्त्र" दूल्हे की बहन और महिला सम्बन्धी द्वारा दिया जाता था।[1] यह प्रथा तत्कालीन मुस्लिम समाज के रीति-रिवाज पर हिन्दू प्रभाव का स्पष्ट उदाहरण है । पीला वस्त्र या पीला रँग और हल्दी इत्यादि का प्रयोग करना हिन्दू रीति-रिवाजों का प्रमुख अंग था जो कि अत्यन्त शुभ माना जाता था । मुसलमानों द्वारा पीला रँग और पीला वस्त्र के प्रयोग के दो कारण दृष्टिगोचर होते हैं, एक तो यह कि ग्रामों की अधिकांश प्रजा धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बनी थी, उनके पूर्वज हिन्दू थे , अतः इन लोगों ने बहुत सी हिन्दू प्रथाओं को किंचित परिवर्तन कर अपना लिया और दूसरा कारण यह दिखाई पड़ता है कि, यह युग हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय का युग था। जिसके परिणामस्वरूप विदेशी मुसलमानों का भारतीयकरण हो रहा था और वे विदेशी अब विदेशी न रह कर भारतीय बन रहे थे अतः उनके रीति-रिवाजों में परिवर्तन और हिन्दू प्रभाव होना स्वाभाविक हो गया था । इस प्रकार" पीले वस्त्र" के प्रयोग के पीछे ग्रामीण हिन्दू लोगों द्वारा " धर्म परिवर्तन" एवं "भारतीयकरण" ही प्रमुख कारण दिखाई देता है।

शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों की विवाह प्रथाओं में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि, शहरी क्षेत्रों की भाँति ग्रामीण क्षेत्रों में भी दूल्हे घर "साँचक" नहीं आती थी और न ही दुल्हन के घर से मेंहदी आती थी अपितु

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ०- 212, अनुवाद ई० एस० हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,

इनके स्थान पर अन्य सुविधाजनक रस्में मनायी जाती थी ।[1] इसका कारण संभवतः यह था कि, 18 वीं सदी में आवागमन के साधन आसानी से सुलभ औरसुरक्षित नही थे । क्योंकि दूल्हा और दुल्हन के घरो मे काफी दूरी होती थी । बारात प्रायः एक गाँव से दूसरे गाँव के लिए अधिकाधिक दूरी तय करके जाती थी और तीन दिन में दोनो ओर से जुलूसो का आदानप्रदान अत्यन्त दुष्कर कार्य था।

ग्राम्य क्षेत्रो में जब बारात दुल्हन के घर जाती थी तो थोड़ी दूर पर जाकर रूक जाती थी और"साचक" के स्थान पर दुल्हन के लिए उपहार के रूप में वस्त्र तथा सुहाग की अन्य बहुत सी वस्तुएं जैसे- चीनी, चावल के दाने इत्यादि थालियों में पहुँचाए जाते थे । ये समस्त वस्तुएं दुल्हन के घर एक जुलूस के रूप में ले जाये जाते थे और दूल्हे के रिश्तेदार और मित्र दुल्हन के परिवार वालो को वह सामान दे देते थे । तत्पश्चात वहाँ शर्बत आदि पीकर वापस चले आते थे । इसके कुछ देर बाद दुल्हन के घर से दूल्हे का पहनावा लेकर जुलूस के रूप में दुल्हन वाले जाते थे ।[2] वास्तव में यह रस्म "मेहदी" के जुलूस के स्थान पर मनाया जाता था। दूल्हे के पहनावे में बिना कालर का कमीज, उसके ऊपर का लम्बा चोंगानुमा वस्त्र, एक पगड़ी [साफा], एक जोड़ा जूता, एक सेहरा और फूलों का एक गुच्छा होता था । जब दूल्हा यह वस्त्र पहन लेता था तो बारात अत्यन्त उत्साह से दुल्हन के घर की ओर या उस

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ-द लास्ट फेसऑफ एन ओरियंटल कल्चर पृ0- 212, अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ-द-लास्ट फेस ऑफ एनओरियंटल कल्चर, पृ0- 212, अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट फाकिर हुसैन,

स्थान की ओर ,जहाँ विवाह होना निश्चित होता था, बढ़ता था ।
पूरी रात्रि तक गीत संगीत तथा नृत्य का कार्यक्रम चलता रहता था,
केवल उस समय को छोड़कर जब काज़ी शादी की रस्म अदा करता था।
"निकाह" की यह रस्में शहरों की ही भाँति होती थी । बारातियों
के लिए अच्छे से अच्छे भोजन की व्यवस्था दुल्हन के परिवार वाले करते थे ।
यदि बारातियों के आतिथ्य सत्कार में थोड़ी भी कमी आ जाती थी,
तो पूरे गाँव वाले उसे अपना अपमान समझते थे । यही नही बाराती अपने
घोड़ों और बैलों के लिए भी पर्याप्त मात्रा में अनाज और चारे की माँग
करते थे । लड़की वाले बारातियों की सुविधा का हर प्रकार से ध्यान
रखते थे अन्यथा उन्हें अपमानित होना पड़ता था ।[1] ग्रामीण क्षेत्रों में
दुल्हन की बिदाई और पुनः वापसी से सम्बन्धित समारोह अधिकतर उसी
प्रकार होते थे जैसा शहरों में होता था किन्तु एक अन्तर यह होता था
कि बारात के जुलूस में महिलाये नही जाती थीं और दुल्हन को बहुत से
प्रतिबन्धों को भी नही मानना पड़ता था । किन्तु शहरों की भाँति ग्रामीण
क्षेत्रों की दुल्हनों को भी एक ही स्थान पर रहना होता था जब तक कि
वह "चौथी" की रस्म के लिए अपने घर वापस न आ जाय ।

18 वीं शताब्दी के अवध की वैवाहिक रस्में विशेष रूप से
बारात का दृश्य अत्यन्त आकर्षक होता था । नवाब आसफउद्दौला अपने पुत्रों
ही नहीं वरन् अपने सेवकों तक के वैवाहिक कार्यक्रमों का स्वयं प्रबन्ध और

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद पृ0- 506,

संचालन करते थे । कभी कभी तो ऐसा होता था कि, जहाँ शादी होती थी, वहाँ एक ओर नवाब स्वयं हो जाते और दूसरी ओर अपने किसी सेवक को कर देते थे । उदाहरणार्थ- कायम खाँ फौजदार । नवाब के हाथीखाने का प्रमुख । के विवाह के अवसर पर स्वयं नवाब इसके प्रबन्धक हुए थे ।[1] एक अंग्रेज पर्यटक के अनुसार , नवाब आसफउद्दौला को बारात की आतिशबाजी के दृश्यो में बहुत रूचि थी । वजीर अली खान के विवाह के अवसर पर नवाब के महल की ओर जाने वाली सड़कों की दोनों पट्टियों पर जमीन में आतिशबाजी गाड़ दी गई थी जो हाथियों के हर कदम के साथ छुटती थी । इस आतिशबाजी पर अत्यधिक धन व्यय किया जाता था ।[2] इसके अतिरिक्त नवाब आसफउद्दौला ने अपनी पुत्री और पुत्र के विवाह के अवसर पर भी लाखों रूपया व्यय किया ।[3] नवाब आसफउद्दौला की वैवाहिक प्रबन्धों की यह रूचि इस सीमा तक बढ़ गई थी कि नवाब जंगली पशुओं के भी विवाह का प्रबन्ध करते थे, उदाहरणार्थ "बलबावल" हाथी और "बड़कन्नी" हथिनी का विवाह नवाब आसफउद्दौला ने बड़ी धूमधाम से किया था, जिसमे बारह सौ हाथी बाराती थे तथा अलमास अली खाँ नामक ख्वाजा सरा दुल्हन की ओर था तथा नवाब आसफउद्दौला दूल्हे की ओर से थे ।[4]

विवाह के पश्चात अन्तिम महत्वपूर्ण संस्कार व्यक्ति का अन्तिम संस्कार अर्थात् मृतक संस्कार" सम्पन्न होता था । किसी पुरूष अथवा स्त्री

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात-मीर का अहद-पृ०- 507,
2. लन्दीन, अबुतालिब- तफजीहुल गाफलीन- 48,
3. दास, हरचरन दास-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ०-258,
4. रामपुरी, नजमुलगनी खाँ- तारीख-ए-गाफलीन-पृ०- 150,

की मृत्यु के अवसर पर पहले उसे दफनाने की रस्म अदा की जाती थी । तत्पश्चात तीजा, दसवाँ, चालीसवाँ[1], छमाही और बरसी की रस्में सम्पन्न होती थी जिनमें भिन्न-भिन्न रस्मे अदा की जाती थी ।[2] जब किसी घर में किसी की मृत्यु हो जाती थी तो रिश्तेदारो, मिलने जुलने वालों तथा अन्य सम्बन्धित लोगों को मृतक की मृत्यु की सूचना भेजी जाती थी । तत्पश्चात " शव" को नहलाया जाता था । शव के नहलाने की प्रक्रिया में शिया तथा सुन्नी मुसलमानों में थोड़ा अन्तर था । शियाओं के यहाँ शव को पहले स्नानागार में ले जाया जाता था जो संभवतः सार्वजनिक स्नानागार होता था । जहाँ नहलाने वाले उसे नहलाकर कफन पहनाते थे किन्तु सुन्नियों के यहाँ घर में ही नहलाया जाता था और रिश्तेदार तथा मित्र नहलाते थे । मृतक को नहलाने के बाद कफन पहनाया जाता था तथा सिर पैर और कमर में कपड़े की पट्टियाँ फाड़ कर बाँध दी जाती थी, ताकि कफन खुलने न पाये । शिया सम्प्रदाय में शव को सन्दूक में रख कर उस पर कोई दोशाला डालकर कर शामियाने के साये में ले जाया जाता था तथा साथ ही कुरान की " सूर-ए-रहमान" ।कुरान की एक पवित्र आयत, जिसमे खुदा की दुआयें होती थी । की आयत पढ़ते जाते थे । सन्दूक और शामियाने को उठाने वाले विशेष लोग होते थे जिनका व्यवसाय ही " अर्थी उठाना" होता था किन्तु बाद में ।19वीं शदी के पूर्वार्द्ध में । शिया लोग जनाजे को स्वयं उठाने लगे ।

---

1. लन्दमीि , अबूतालिब- तफजीहुल गाफलीन- पृ0- 150,
2. बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख-ए-फरह बख्श-पृ0-13,
   सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0-152,
   दास, हरचरन-वहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0-175,

इस कार्य के लिए बहुत सी कमेटियाँ नगर में स्थापित थी जिनके सदस्य यह पता लगाते रहते थे कि यदि किसी की मृत्यु हो जाय तो उसकी अर्थी को स्वयं उठा कर पूर्ण धार्मिक स्वरूप प्रदान किया जा सके । सुन्नियों में मृतक को किसी हल्की चारपाई पर लिटा कर और ऊपर से एक चादर डाल कर ले जाते थे । यदि स्त्री का शव होता था तो चारपाई पर बाँस की खपच्चियों से सिर को थोड़ा ऊँचा कर दिया जाता था और तब उस पर चादर डालते थे, इस प्रक्रियाँ को " गहवारा" करते थे ।[1] ऐसा इसलिए किया जाता था ताकि बराबर चादर डालने से उसके स्तन का उभार दिखाई न पड़े । इसके अतिरिक्त सुन्नियों में अर्थी को स्वयं रिश्तेदार और सगे-सम्बन्धी "कलमा" पढ़ते हुए ले जाते थे, बीच में किसी मस्जिद के सामने नमाज पढ़ी जाती थी और तब वहाँ से कब्रिस्तान ले जाया जाता था । कब्रिस्तान में खोदी जाने वाली कब्र को " सन्दूकी" कहते थे जो मनुष्य की छाती तक चौड़ी हौजनुमा होती थी । तत्पश्चात उसके अन्दर के दोनों किनारों को छोड़कर एक पतला हौज खोदा जाता था जो कमर तक गहरा होता था। कब्र को साफ करके सावधानी से शव को कब्र में उतारते थे, सिर को उत्तर दिशा में रखा जाता था और मृतक के मुँह को किसी वस्त्र का सहारा लेकर पश्चिम की ओर घुमा दिया जाता था ताकि लोग उसका अन्तिम दर्शन कर सकें । किन्तु स्त्रियों का अन्तिम दर्शन नहीं कर सकता था जिनके सामने वह

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ- पृ0- 350-51.

अपने जीवन काल में शरीयत के अनुसार आती रही हो जैसे - माँ-बाप भाई पिता । इस अवसर पर शियाओं के यहाँ कोई धार्मिक व्यक्ति (मौलाना) कब्र में उतर कर शव के कन्धों को हिलाते हुए अरबी की कुछ पंक्तियाँ पढ़ते थे । तत्पश्चात लकड़ी के तख्ते या पत्थर हौज में लगा दिया जाते थे और उसे गीली मिट्टी से बन्द कर देते थे । तत्पश्चात एक हाथ से तीन मुट्ठी मिट्टी प्रत्येक व्यक्ति डालता था जिसे "मिट्टी देना" कहते थे । जब सभी लोग मिट्टी दे चुकते थे तो उसे कब्र का रूप दे दिया जाता जो बहुत ऊँची हो जाती तत्पश्चात कब्र पर अर्थी वाली चादर या फूलों की चादर डालते थे, और मृतक के लिए प्रार्थना करके वापस आ जाते थे । मृतक के घर में मृत्यु वाले दिन चूल्हा नहीं जलता था । सगे सम्बन्धियों के घर से ही पका हुआ भोजन आता था, जो भोजन आदि नहीं ला सकते थे वह कुछ धन आदि दे देते थे । उस भोजन को मिट्टी देकर आने वाले लोग खाते थे । यह क्रम तीन दिन तक होता था । तत्पश्चात् दसवाँ, बीसवाँ, और चालीसवाँ आदि की रस्मे अदा की जाती थी, जिनके दीन-दुखियों को भोजन कराया जाता था ।[1] इस प्रकार हिन्दू समाज में प्रचलित दसवाँ, तेरहवीं और बरसी की भाँति मुसलमान भी दसवाँ, बीसवाँ, चालीसवाँ बरसी आदि रस्मे अदा करते थे ।

नवाबों तथा अमीरों की मृत्यु के अवसरों पर हजारों लोग एकत्रित होते थे तथा उनकी शवयात्रा बड़ी सजधज, तथा शाही

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ -पृ0- 350-356,

सम्मान के साथ प्रारम्भ होती थी, उनकी कब्रों पर कुरान पढ़ने वाले बिठाये जाते थे।[1] इनके वार्षिक उर्स मनाये जाते थे जिनमें रोशनी की सजावट होती थी और दीन-दुखियों को भोजन कराया जाता था।[2] इसी प्रकार शाही बेगमों की मजारों पर भी सालाना उर्स होते थे। नवाब शुजाउद्दौला की पत्नि बहू बेगम की मजार पर प्रतिवर्ष उर्स हुआ करता था।[3] नवाब आसफउद्दौला के समय ( सन् 1775 ई0 सन् 1797 ई0) में मृतक संस्कार सम्बन्धी एक नवीन प्रथा प्रारम्भ हो गई थी कि नवाब की मृत्यु के पश्चात उनका उत्तराधिकारी कभी भी शव के साथ कब्रिस्तान तक नहीं जाता था तथा उस मकान या महल में नहीं रहता था, जिसमे नवाब की मृत्यु होती थी। इसलिए प्राय नवाब अपने "वली अहद" ( उत्तराधिकारी) के लिए अलग से एक महल बनवा देते थे।[4] इस प्रकार मुस्लिम समाज के सभी संस्कार पूर्ण होते थे। हिन्दू समाज में सभी संस्कार पूर्व परम्परागत आधार पर ही अवध में भी प्रचलित रहे।

इस प्रकार के रोचक रीति-रिवाजों का प्रचलन 18 वीं शताब्दी के अवध में प्रचलित था। यह रस्में हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति के समन्वय को भी स्पष्ट करती है। इन मुस्लिम रीति-रिवाजो पर हिन्दू रीति-रिवाजो का व्यापक प्रभाव पड़ा था। जैसे - पीले वस्त्रों का प्रयोग,

---

1. बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-133,
2. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0- 233
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद 18 वीं सदी मे हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 508,
4. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह अवध राज्य का पतन- 89,

बारात आने पर दुल्हन की सखियों द्वारा सुहाग के गाने गाना, दुल्हन की बिदाई के समय, बिदाई के गीत गाना तथा विवाह के पश्चात दुल्हन को रिश्तेदारों द्वारा आमंत्रित करना इत्यादि प्रथायें आज भी हमारे हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही समाज में प्रचलित है। यह हिन्दू प्रथायें थीं, जिन्हे किंचित परिवर्तनो के साथ लखनऊ की सभ्यता और संस्कृति ने अपनाया तथा उनमें और भी अधिक चमक-दमक पैदा किया । इन रोचक रीति-रिवाजों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि, इन रस्मों के द्वारा वर तथा वधू पक्ष में परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्धों की स्थापना के साथ-साथ वर तथा वधू के आत्मिक प्रेम की प्रगाढ़ता और अपनत्व को भी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया जिसका उत्कृष्ट उदाहरण साचक" और "मेंहदी" का जुलूस होता था । इस प्रकार इन रीति-रिवाजों में जहाँ वाह्याडम्बर और ऐश्वर्य प्रदर्शन का प्रयत्न परिलक्षित होता है वहीं भावनात्मक रस्मों की भी झलक मिलती है, जो लखनवी संस्कृति और समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जा सकती है । इसके अतिरिक्त इस समय तक आगंतुक विदेशी मुसलमान विदेशी नही रह गए थे उनके भारतीय करण का कार्य पूर्ण हो चुका था और यही कारण है, कि, ईरानी और अरबी रस्मों में से अनेक रस्मे भी दिल्ली आकर बदल गईं जैसे- "साचक" और "मेंहदी" और जब यह रस्में लखनऊ आईं तब इनका स्वरूप पूर्णतः भारतीय हो गया था और इन्हें देखकर कोई भी इन्हे विदेशी नहीं कह सकता था।

अध्याय - 3

## देशभूषा व खानपान -

प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग देशभूषा भी है। देशभूषा से ही हम उस समाज तथा संस्कृति के विकास के स्तर को समझ सकते है। नवाब सआदत अली खाँ बुरहानुल्मुल्क तथा नवाब सफदरजंग यद्यपि ईरानी थे, परन्तु वह मुगल वस्त्र ही पहनते थे। परन्तु शुजाउद्दौला के युग में परिवर्तन हुआ, क्योंकि वह एक वर्ष तक शाह अब्दाली के दरबार से सम्बन्धित रहे थे अतः उन्होंने ईरानी वस्त्र ग्रहण कर लिया था।[1] ईरानी वस्त्र अधिकतर शीत ऋतु में दिल्ली तथा लखनऊ के दरबारों में पहना जाने लगा था।

18 वीं शताब्दी में अवध के दरबार का वस्त्र इस प्रकार था- सिर पर पगड़ी, शरीर पर नीमा जामा, निचले भाग पर टखनों से ऊँचा कसी मोहरी का पायजामा, पैरों में ऊँची ऐड़ी का जूता।[2] दरबार में पगड़ियों का भी प्रचलन था, परन्तु दिल्ली के उच्च वर्ग में यह प्रथा नहीं थी, इसके स्थान पर वे टोपियाँ पहनते थे किन्तु अवध के दरबार में टोपियाँ अन्त तक बनी रहीं। शाही सेवक अपने स्वामी के समक्ष सिर पर पगड़ी बाँध कर ही उपस्थित होते थे।[3] नवाब

---

1. तबातबाई, सैय्यद गुलाम हुसैन-सहरूल मुताखरीन-पृ0- 549 देखिये चित्रसं0 2, 3
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 266-273,
3. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0- 51,
   अंग्रेजी अनुवाद विलियम हई,

आसफउद्दौला के युग । सन् 1775 ई० सन् 1797 ई०। तक अवध के नवाबों के सिरों पर दिल्ली की भाँति सफेद दस्तार हुआ करती थी तथा विशेष दरबार के अवसरों पर उसमें हीरे जवाहरात की कलगियाँ आदि लगा लिए जाते थे। यह पगड़ियाँ बिल्कुल सादी और सफेद रंग की होती थी लेकिन नवाब सआदत अली खाँ के सर पर पगड़ी के स्थान पर समला होता था।[1]

प्रारम्भ में यद्यपि दिल्ली में मुगलिया दरबार के ही वस्त्रों को अवध में अपनाया गया,[2] किन्तु जैसे-जैसे नवाबी शासन सुदृढ़ होता गया और लखनवी संस्कृति विकसित होने लगी वैस-वैसे इसमें भी परिवर्तन हुआ जैसे - पाँचों के जोड़ों पर लम्बी सुराहियाँ बनाईं गईं और उन सुराहियों के मध्य सुन्दर चाँद बनाए गए।[3] नवाब आसफउद्दौला के साधारण किन्तु भव्य वस्त्रों को देखकर विदेशी पर्यटक ट्यूनिंग आश्चर्यचकित रह गया। ट्यूनिंग ने देखा कि, नवाब के सिर पर टोपीनुमा पगड़ी, कन्धे पर शाल, जो उसकी कमर से लिपटी हुई थी, यह वेशभूषा में सुनहरी जरी की जूती थी। नवाब के वस्त्र आकर्षक थे।[4] नवाब नसीरुद्दीन हैदर के काल में । सन् 1827 ई० सन् 1837 ई० । जब लखनऊ में शिया मत लखनऊ का प्रमुख मत बन गया था तो लखनऊ में

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 60 देखिये चित्रसं07.
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 274,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात पृ0-572,
4. ट्यूनिंग, थामस-ट्रैवल्स इन इण्डिया, ए हन्ड्रेड ईयर एज-पृ0- 167, देखिये- चित्र सं0 5,

चार के अंक के स्थान पर शिया मान्यतानुसार पाँच का अंक शुभ माना जाने लगा जिसका प्रभाव वेशभूषा परभी पड़ा और सिरों पर पहनी जाने वाली चार कोनी टोपी के स्थान पर पाँच कोनों वाली टोपी प्रचलित हो गई । स्वयं नसीरूद्दीन हैदर ने पाँच कोने वाली टोपी पहनना प्रारम्भ किया जिसका अनुसारण करते हुए प्रजा ने भी पाँच कोनी टोपी पहनना प्रारम्भ कर दिया है यह लखनऊ वालों को इतनी पसन्द आई कि नसीरूद्दीन हैदर के मृत्योपरान्त भी लखनऊ में प्रचलित रही । इसके अतिरिक्त शीत ऋतु में जड़ाऊ कामदार टोपी का प्रयोग होता था तथा ग्रीष्म ऋतु में चिकन की हल्की टोपियाँ बनने लगी ।[1] कभी- कभी नवाब नासिरूद्दीन हैदर पैंट व चौड़ा पायजामा भी पहनते थे क्योंकि वह अंग्रेजी वस्त्रों से बहुत प्रभावित थे ।[2] इसके अतिरिक्त अन्य उच्च वर्ग के लोग अपनी रूचि के अनुसार वस्त्र पहनते थे, जैसे जवाहर अली खान शाहनवाजखानी कोट पहना करते थे । जवाहर अली खान ग्रीष्म और शीतऋतु के अनुसार पृथक-पृथक वस्त्र पहनता था जो उसके लिए आरामदायक हो ।[3] अमीर लोग कमर में दुपट्टा भी बाँधते थे ।[4]

आम प्रजा की वेशभूषा -

18 वीं शती के अवध में मध्यवर्ग के लोग पायजामा पहनते थे , किन्तु उसकी मोहरी सँकरी और उसका घेर, पुराने शरई। धर्म के

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 265,
2. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 265,
3. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-52-58,
4. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन -रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0-45,

अनुसार । पायजामे की भाँति होता था । समस्त भारत के मुसलमानों ने यही पायजामा अपनाया था, परन्तु हिन्दू धर्म से आए हुए मुसलमान धोती भी पहनते थे । लखनऊ में ढीले और चौड़े पाँयचों के पायजामें का प्रचलन था, परन्तु नवाब सआदत अली खाँ के युग। सन् 1798 ई०-सन् 1814 ई०। के पश्चात ही ढीले और चौड़े पाँयचें के पायजामें का प्रचलन व्यापक रूप से हुआ । इसके पूर्व दिल्ली में प्रचलित पायजामें की ही भाँति लखनऊ में भी पायजामा पहना जाता रहा ।[1] शरीर पर अँगरखा और उसके ऊपर दोशाले पहनने का भी प्रचलन अवध की आम पुण्य में था । अवध के दरबार में लोगों को भेंट के रूप में अँगरखा और दोशाला ही दिया जाता था ।[2] जिसके कारण वह और भी लोकप्रिय हो गया । इसके अतिरिक्त शाल और रूमाल ओढ़ने का भीप्रचलन अधिक था । हल्के जाड़े के मौसम में शाल और रूमाल तथा अधिक जाड़े में दोशाला ओढ़ा जाता था जो लखनऊ के सभ्य निवासियों का वस्त्र था ।[3] इस प्रकार सिर पर टोपी, शरीर पर अँगरखा, चौड़े पाँयचों के पायजामें, कन्धों पर हल्का चिकन अथवा जालीदार रूमाल तथा पैरों में सलीमशाही जूता ही लखनऊ के निवासियों की वेशभूषा होती थी किन्तु इन सलीम शाही जूतों में नोक नहीं होती थी, इस जूते में सलमे सितारों

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ- पृ0- 290,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए-लताफत-पृ0- 67-86,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद -18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात-मीर का अहद- पृ0- 514,

के कारचोबी का काम होता था ।[1] 18 वीं शताब्दी में अवध के प्रख्यात शायर इंशा ने दिल्ली और लखनऊ के वस्त्रों की तुलना करते हुए लखनऊ में वस्त्रों को दिल्ली के वस्त्रों से श्रेष्ठ बताया है ।[2] परन्तु धीरे- धीरे लखनऊ के लोग पाश्चात्य प्रभाव के कारण अंग्रेजी वस्त्र भी पहनने लगे थे, उदाहरणार्थ अशरफ अली खाँ दरबारी का पुत्र मिर्जा अब्बास अली खाँ ने पाश्चात्य बहुत ग्रहण कर लिया था ।[3]

स्त्रियों की वेशभूषा :

भारत में पहले मुसलमानों की स्त्रियाँ ढीले पाँयचे का पायजामा पहनती थी जो पैरों के गट्टों पर चुन्नट देकर बाँध दिये जाते थे ।[4] किन्तु कालांतर में यह पायजामें सँकरी मोहरी के बन गए- जिनका घेर ऊपर से ढीला -ढाला होता था । लखनऊ में मुसलमान स्त्रियों ने - वही कसी मोहरी का पायजामा "अपनाया, उस पर छोटी और कसी आस्तीनों की खिंची हुई अंगिया और पेट तथा पीठ छिपाने के लिए एक प्रकार की कुर्ती जो आगे की ओर इस सीमा तक काट दी जाती जहाँ तक अंगिया की आवश्यकता होती थी । इसके ऊपर तीन गज का चुन्नटदार बारीक दुपट्टा होताथा जो सिर से ओढ़ा जाता था ।[5] कुछ स्त्रियाँ साड़ी ही पहनती थी ।[6] प्रख्यात समकालीन शायर इंशा ने दिल्ली और लखनऊ

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद -18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात -मीर का अहद-पृ0- 514,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ, दरिया-ए-लताफत-पृ0- 68,
3. कतील मिर्जा मोहम्मद हसन-रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 81,
4. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 285,
5. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 286,
6. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 286,

की स्त्रियों के वस्त्रों की तुलना करते हुए लिखा है कि , यहाँ की स्त्रियों के वस्त्र के समक्ष दिल्ली की स्त्रियों के वस्त्र ऐसे है, जैसे मियाँ गुलाम रसूल के गाने के समक्ष लड़के लड़की के विवाह के अवसर पर सभ्य परिवारों की स्त्रियों का गाना ।[1] लखनऊ की स्त्रियों के वस्त्र में काट-छाट करके वस्त्रों की सजावट और सुन्दरता में अत्यधिक विकास किया गया ।[2] नवाबी शासन के अन्तिम समय तक घाघरे को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी ।[3] इंशा की रचनाओं में लहँगे काभी वर्णन मिलता है ।[4] इंशा के उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि लखनऊ की स्त्रियों में बनारसी दुपट्टा भी अत्यधिक प्रचलित था ।[5] इन स्त्रियों के पैरो में सुन्दर और कामदार जूतियाँ भी होती थी ।[6] मोहर्रम के अवसर पर स्त्रियाँ अपने हाथों मे काले तथा हरे रँग की रेशमी डोरी बाँधती थी । शाही सेविकाओं का वस्त्र कुछ भिन्न था । वे दुपट्टा , सीनाबन्द कलीदार सलवार, तथा पैरों मे मखमली जूती का प्रयोग करती थी।[7] ग्राम्य समाज की स्त्रियाँ सादे वस्त्र ही पहनती होगी, इसका कारण संभवतः धनाभाव रहा होगा, परन्तु धनी परिवार की स्त्रियाँ रेशमी वस्त्र ही पहनती थी ।

---

1. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए-लताफत-पृ0-68,
2. लाल,मुंशी-मिरातुल औजा- पृ0- 110,
3. भूषण, डा0 ब्रज- द कस्टम्स एण्ड टेक्सटाईल्स आफ इण्डिया-पृ0-37-38,
4. इंशा,इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 165,
5. इंशा,इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 178,
6. देहलवी,मीर हसन-मजमुआ मसनवियात मीर हसन-पृ0- 58-68,
7. सरूर,मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजाएब-पृ0-101-103,

स्त्रियों के आभूषण -

स्त्रियों की आभूषणों के प्रति शहरी रूचि का वर्णन करते हुए अब्दुल हलीम शरर यह लिखते है कि, स्त्रियां अपना विशेष धन और जायदाद अपने आभूषणों को ही समझती थी, जिसका प्रमाण है भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भारी आभूषणों का प्रचलन, जिससे वह मूल्य में अधिक हों ।[1] यद्यपि भारी आभूषणों का प्रचलन अवध के ग्रामीण क्षेत्रों और कुछ नगरों में भी बढ़ता जा रहा था । परन्तु अवध की राजधानी लखनऊ में जब दिल्ली तथा अन्य क्षेत्रों की उच्च वर्ग की स्त्रियों ने प्रवेश किया तो भारी आभूषणों के स्थान पर हल्के आभूषणों का प्रयोग किया जाने लगा और यह स्थिति अवध में नवाबी शासन के अंतिम समय तक बनी रही ।[2] अब्दुल हलीम शरर के विवरण से स्पष्ट है कि, अवध में स्त्रियाँ आभूषणों का बहुलता से प्रयोग करती थीं । यह आभूषण प्रारम्भ से तो भारी थे किन्तु जब ईरानी और मुगल संस्कृति का सम्मिलन अवध की परम्परागत संस्कृति से हुआ तो आभूषणों में भी परिवर्तन हुआ और उनमे सुन्दरता, दिखावा, अत्यधिक अलंकरण तथा कोमलता का समावेश हुआ जो कि अवध की संस्कृति का ही एक विशिष्ट गुण था।

अवध के प्रमुख शायरों जैसे- मुसहफी, इंशा, मीर हसन देहलवी

---

1. शरर, अब्दुल, हलीम-गुजस्ता लखनऊ - पृ0-289,

3. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 290,

आदि ने अपनी कृतियों में अवध की स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त आभूषणों का भी उल्लेख किया है ।[1] साधारणतः अवध की स्त्रियाँ निम्नलिखित आभूषणों का प्रयोग करती थीं- अकद शौहर, बलाक, पायजेब, छल्ला, तावीज, आरसी, हमायल, बुन्दा, हयकल, नथ, बाली, बाला, भुजबन्द, दो लड़ी, जुगनू, इटरीसी, कड़ा कर्णफूल, झुमका, बाजूबन्द, चौदानी, चम्पाकली, जुगनी, हलहल, जंजीर, सज्जा, तोड़ा, छड़ा, लच्छा, जहाँगीरियाँ, नौरतन कंगन, अँगूठी, इत्यादि ।[1] मिर्जा कतील ने " पारह" नामक आभूषण का भी उल्लेख किया है और यह लिखा है कि यह आभूषण स्त्रियाँ हाथ की सुन्दरता के लिये पहनती थीं ।[2] यह आभूषण संभवतः हिन्दू स्त्रियों का प्रिय आभूषण हथफूल रहा होगा। मुस्लिम स्त्रियों द्वारा आभूषण का बहुलता से प्रयोग करना मुसलमान स्त्रियों पर भी हिन्दू प्रभाव को स्पष्ट करता है। प्रख्यात शायर इंशा ने लिखा है कि अवध की जो स्त्रियाँ अपने कान में आभूषण नहीं पहन पाती थी वे अपने कानों से "लौंग" डाल लेती थी ताकि कान का छेद बन्द न होने पाये ।[3] कान में "लौंग" डालने की प्रथा भी हिन्दू प्रथा थी । स्त्रियों की नाक में "नथ" हिन्दुओं से अत्यन्त आवश्यक आभूषण और सुहाग का चिन्ह समझा जाता था । हिन्दुओं के सम्पर्क में आने और उनके मेलजोल से मुसलमानों की भी स्त्रियाँ नाक मे नथ पहनने लगी । परन्तु 18 वीं शताब्दी में लखनऊ में स्त्रियाँ नथ के स्थान पर जड़ाउँ "कीलें" पहनने लगी जो अत्यन्त कोमल और आकर्षक होती थीं ।[4]

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद-18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ०- 517
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हैफ्फात-ए-मिर्जा कतील-पृ०-23,
3. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजायब-पृ०-100-101,
4. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ०- 290,

अन्त में, आभूषणों के अन्तर्गत सौन्दर्य प्रसाधन का भी उल्लेख करना अति आवश्यक है कि, अवध की स्त्रियाँ 18 वीं शताब्दी में कौन-कौन से सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करती थी। साधारणतः अवध की स्त्रियाँ सौन्दर्य प्रसाधन के अन्तर्गत काजल, मिस्सी, मेंहदी, सुरमा, पान, कंघी शाना, तथा दर्पण का प्रयोग करती थी। बालों को सँवारने के लिए चोटी या खजूरी चोटी की जाती थी।[1] चेहरे की सुन्दरता के लिए भिन्न-भिन्न तरीकों का प्रयोग किया जाता था।[2]

खान-पान -

खान-पान सामाजिक दृष्टि से मानवीय जीवन का अति आवश्यक और विशेष अंग है। अतः जब हम 18 वीं शताब्दी के अवध की संस्कृति की चर्चा कर रहे है जो इस संदर्भ में अवध के खानपान का भी उल्लेख करना समीचीन लगता है। 18वीं शताब्दी के अवध में खानपान के क्षेत्र में, भी विकास हुआ और नये-नये प्रकार के भोजन बनाने की कला विकसित हुई। वास्तव में लखनऊ का खानपान दिल्ली के खानपान की ही भाँति था किन्तु धन सम्पन्न और नवाबों की विलासिता और वैभव के कारण उन्ही भोजनो को और भी अच्छी तरह बनाया जाने लगा, यही नही दिल्ली के ही भोजनो और व्यजनो में कुछ परिवर्तन और विकास

---

1. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 113,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद-पृ0- 18,

करके अतिस्वादिष्ट व्यंजनों और भोजनों का आविष्कार किया गया। लखनऊ के खानपान की उन्नति का एक और कारण यह भी था कि दिल्ली के उजड़ने के बाद वहाँ के रसोइये और देश के अन्य भागों के कुशल पाक विशेषज्ञ अवध के ऐश्वर्य और वैभव के कारण अवध चले आए और नवाबों का आश्रय लिया, जो दरबार मे आश्रय न पा सके, वह लखनऊ के धनी-मानी व्यक्तियो की सेवा करने लगे, और यही से इन कुशल विशेषज्ञों की कला जनसाधारण तक पहुँच गई। इन पाक विशेषज्ञों ने लखनऊ की स्थानीय पाक कला के साथ अपनी विशेष पाक कला का सम्मिश्रण करके लखनवी पाक कला की स्थापना की। लखनवी पाक कला की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अत्याधिक स्वादिष्ट और मुरग्गन (अधिक मसाला और चिकनाई डालकर जिसमें घी तैरता हो) युक्त होता था।[1]

नवाब शुजाउद्दौला खानपान में अत्यधिक रुचि रखते थे।[2] नवाब शुजाउद्दौला के भोजनालय के विशेष प्रबन्धक हसन रजा खाँ उर्फ मिर्जा हसनू थे, जो दिल्ली से आए हुए थे।[3] मिर्जा हसनू के सह-प्रबन्धक सफीपुर जिला उन्नाव के मौलवी फजल अजीम थे। इनका कार्य यह था कि भोजन की थालियों को ठीक करके और उन अपनी मुहर लगाकर नवाब और बहू-बेगम के महल में भिजवाते थे। नौकरानियाँ भोजनों को सजाकर नवाब और बेगम साहिबा के पास ले जाती और परोसती थी। नवाब और बेगम के लिए प्रतिदिन

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 236,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर क र अहद-पृ0- 511
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 236,

छः भोजनालयों से भोजन आता था - प्रथम- मिर्जा हसन के भोजनालय से आता था, जिस पर लगभग दो हजार रूपया प्रतिदिन व्यय किया जाता था । द्वितीय- शाही भोजनालय से, जिस पर तीन सौ रूपया प्रतिदिन व्यय जाता था, इसके प्रबन्धक अम्बर अली खाँ थे । तृतीय स्वयं बहू बेगम के महल का भोजनालय था जिसका प्रबन्धक बहार अली था । चतुर्थ- भोजन शुजाउद्दौला की माँ की ओर से आता था । पाँचवा और छठा- नवाब शुजाउद्दौला के अमीर मिर्जा अली तथा नवाब सालारजंग के भोजनालयों से आता था क्योंकि मिर्जा अली तथा नवाब सालारजंग नवाब शुजाउद्दौला के साले थे ।[1] उपरोक्त सभी छः भोजनालय शाही भोजनालय की भाँति थे, जिसमें प्रतिदिन अति स्वादिष्ट तथा विभिन्न प्रकार के भोजन पकाये जाते थे, जिसमें अत्याधिक धन व्यय होता था । नवाब ही नहीं वरन् अमीर भी भोजनों पर अत्याधिक धन व्यय होता था। प्रख्यात शायर इंशा उल्ला खाँ इंशा के वर्णनों से ज्ञात होता है कि, अवध के अमीरों के यहाँ आधा सेर पोलाव को बनाने में बीस रूपया खर्च होताथा ।[2] नवाब सालारजंग के व्यक्तिगत पाक विशेषज्ञ को 12000/- प्रतिमाह दिया जाताथा जो उस समय बहुत अधिक था। यह रसोइयाँ नवाब सालारजंग के लिए ऐसा भारी पोलाव पकाता था जो उनके अलावा कोई हजम ही नही कर सकता था । इन भोजनों में निम्नलिखित वस्तुएँ आवश्यक रूप से होती थी- पोलाव, मुजाफर, मुतंजन, सफेदा, बूरानी, शीर ब्रेज, कोरमा, शामी कबाब, मुरब्बा, अचार, चटनी, यह वस्तुएँ "तुराह"

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 237-38,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 238,

के रूप में भी भेजी जाती थी ।[1] नवाब शुजाउद्दौला के पश्चात नवाब आसफउद्दौला के काल में उस समय लखनवी पाक शैली और भी उन्नति पा गई जब आसफउद्दौला ने मिर्जा हसन रजा खाँ के स्थान पर फजल आजीम को शाही भोजनालय का प्रबन्धक नियुक्त किया । मिर्जा फजल अजीम पाक शैली में अत्यन्त निपुण थे मिर्जा फजल अजीम ने अपने भाई फायक अली तथा अपने चेचरे भाई गुलाम अजीम तथा गुलाम मखदूम को भी इस कार्य में सम्मिलित कर लिया ।[2] एक बार नवाब आसफउद्दौला ने ट्यूनिंग को भोज पर बुलाया था, इस अवसर पर भिन्न-भिन्न स्वाद के भोजन तथा मास-मछलियाँ इत्यादि रखी गई थी, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के मिष्ठान भी परोसे गये थे । इस भोजन का रोचक विवरण ट्यूनिंग ने अपने यात्रा वृतान्त में प्रस्तुत किया है ।[3] नवाब आसफउद्दौला के पश्चात नवाब वजीर अली खाँ के काल में मिर्जा फजल अजीम में घराने को पदच्युत करके गुलाम मुहम्मद उर्फ बड़े मियाँ को शाही भोजनालय का प्रबन्धक नियुक्त किया । गुलाम मोहम्मद भी कुशल पाक विशेषज्ञ थे । इन लखनवी पाक विशेषज्ञों की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि, एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप में ऐसी कुशलता से बनाते थे कि दस्तरख्वान पर देखने पर वह ऐसा प्रतीत होता था कि ये भोजन अनेक प्रकार के है, किन्तु चखने पर सब एक ही प्रकार के

---

1. शरर अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 240-41
2. शरर अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ पृ0- 241-42
3. ट्यूनिंग, थामस -ट्रेवल्स इन इण्डिया पृ0- 67-68,

होते थे ।[1]

लखनऊ के खानपान में "पोलाव" का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। दिल्ली में " बिरयानी" अत्याधिक लोकप्रिय थी किन्तु लखनऊ में " पोलाव" अत्यधिक प्रचलित हुआ । लखनऊ में विभिन्न प्रकार के "पोलवों और चमेली पोलाव विशेष प्रसिद्ध थे ।[2] मुसलमानों के भोजन का मुख्य अंग पोलाव और कोरमा ही होता था अतः पोलाव पर ही अधिक ध्यान दिया गया । धनवानों और नवाबों के लिए विशेष रूप से मुर्गों को जाफरान और मुश्क की गोलियाँ खिला-खिला कर तैयार किया जाता था, जिसके कारण इन मुर्गों के माँस में भी इनकी सुगन्धि बस जाती थी, इस मुर्गे के माँस का पोलाव अत्यन्त स्वादिष्ट होता था। इसी प्रकार मोती पोलाव बनाया जाता जो देखने में ऐसा लगता जैसे चावलों में चमकदार मोती मिले हों । नवाब मुहम्मद अली शाह के पुत्र मिर्जा अलीमुश्शान के विवाह के अवसर पर " समधी मिलाप" के भोज में मीठे और

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ पृ०- 43,
जब एक बार दिल्ली के शहजादे मिर्जा आसमाँ कदर लखनऊ आए तो नवाब वाजिद अली ने उन्हें भोज पर आमंत्रित किया। भोजन की मेज पर मिर्जा आसमाँ कदर ने माँस के नमकीन कोरमे को मुरब्बा समझ कर खा लिया और वे आश्चर्य चकित होकर लखनवी पाक विशेषज्ञों की प्रशंसा करने लगे । उस नमकीन कोरमे को रसोइये ने इस कुशलता से बनाया था कि वह बिल्कुल असली मुरब्बा लगता था। कुछ दिनों के पश्चात मिर्जा आसमाँ कदर ने नवाब वाजिद अली शाह को अपने यहाँ भोजन पर आमंत्रित किया । इस भोज में मिर्जा आसमा से कदर के दस्तरख्वानपर अनेक प्रकार के भोजन रखे थे किन्तु इसभोजन की विशेषता यह थी कि वह देखने पर तो भिन्न-भिन्न लग रही थी किन्तु थी सभी शक्कर की जैसे- सालम शक्कर की, चावल शक्कर की अचार शक्कर का यहाँ तक कि रोटियाँ भी शक्कर की- शरर अब्दुल अलीम- गुजश्ता लखनऊ पृ०- 44,

2. शरर, अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ-पृ०- 244-246,

नमकीन मिलाकर कुल सत्तर प्रकार के चावल पकाये गये थे । नवाब गाजीउद्दीन हैदर के काल में उनके एक अमीर नवाब हुसैन अली खाँ की पोलाव में इतनी अधिक रूचि थी कि वह चावल वाले नवाब के नाम से प्रसिद्ध हो गए । नवाब नसीरूद्दीन के हैदर के काल में उनका पाक विशेषज्ञ उच्च श्रेणी की बादाम और पिश्ते की खिचड़ी पकाता था जो देखने में उड़द की खिचड़ी लगती थी ।[1] नवाबों और अमीरों की यह रूचि देखकर लखनवी पाक विशेषज्ञों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के नवीन स्वादिष्ट पोलाव काआविष्कार किया । एक पाक विशेषज्ञ ने अनारदाना पोलाव का अविष्कार किया जिसका प्रत्येक चावल आधा हरा और आधा सफेद होता था और शीशे की तरह चमकता रहता था । इसी प्रकार एक ने नौरतन पोलाव का आविष्कार किया जिसमें नौ रंग के चावल को आकर्षक ढंग से परोसा जाता था । पोलाव के अतिरिक्त लखनवी रसोइयों ने बादाम के सालन बनाए जो सेम के बीज की भाँति दिखता था और वे एक-एक सेर मे उबले और तले अण्डे बनाते थे जिनमें सफेदी और जर्दी उसी प्रकार होती थी जैसी असली अण्डे की । एक अन्य रसोइये न कच्चे भुट्टे का लच्छा निकाल कर उसका रायता बनाया जो बहुत ही स्वादिष्ट होता था। नवाब सआदत अली खाँ के काल में एक रसोइयाँ चावलों की गुलथी । मेवादार दूध और चावल से बनाया गया खाद्य पदार्थ । पकाया करता था जो बहुत ही लोकप्रिय थी ।[2] उड़द और अरहर की दालों का प्रयोग भी प्रमुखता से होता था। उड़द और अरहर की दालो का प्रयोग धनी तथा निर्धन दोनो ही करते थे ।[3]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 246,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 246-50,
3. कतील , मिर्जा मोहम्मद हसन-रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 93,

नवाब गाजीउद्दीन हैदर को पराठे बहुत पसन्द थे, अतः नवाब गाजीउद्दीन हैदर के लिए विशेष प्रकार के पराठे पकाये जाते थे। अवध के नवाब वाजिद अली शाह को " हल्का सोहन" अत्यन्त प्रिय था।[1] प्रत्येक प्रकार के भोजन में रोटी का स्थान प्रमुख होता है और इसीलिए लखनऊ में रोटी के क्षेत्र में भी नए-नए किस्मों का विकास हुआ। अवध के अमीर उमरा भी भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन बादशाह के पास भेजा करते थे। इसी प्रकार नवाब आगा अली हसन खाँ नेशापुरी बादशाह के लिए रोगनी रोटी और मीठा घी नमक एक विशेष खाद्य पदार्थ ले जाते थे। रोगनी रोटियाँ इतनी महीन बनायी जाती जैसे कागज हो किन्तु वह न तो कहीं से कच्ची रहती और न ही उस पर चित्ती पड़ती। लखनऊ के लोग खमीरी रोटी । सफेद रंग की बड़ी रोटी जिसमे खमीर मिला होता था । का प्रयोग करते थे। हिन्दुओं का पूरियाँ तलते देखकर मुसलमानों ने तवे की रोटियों में घी के मिश्रण से पराठे बनाने प्रारम्भ किए फिर इनमे बहुत सी परते देना प्रारम्भ किया। पराठे को ही और विकसित कर "बाकरखानी" का अविष्कार किया गया।[2] जो प्रारम्भ में शाही भोजन का प्रमुख अंग था, बाद में जनसाधारण में भी प्रचलित हो गया। बाकरखानी का ही विकसित रूप शीरमाल था जिसका अविष्कारक लखनऊ का प्रसिद्ध पाक विशेषज्ञ महमूद था। महमूद के द्वारा

---

1. घी, मैदा, खोया, शक्कर आदि की मोटीरोटी तन्दूर में पकाई जाती थी।
2. "बाकरखानी- शीरमाल की ही भाँति बनाई जाने वाली रोटी, किन्तु बाकरखानी इतनी पतली होती थी कि उसे उठाने परटूट जाए और उसकी परते घी में इतनी डूबी रहती थी कि उसके टुकड़ो से घी टपकता रहता था। - पू0- गुजश्ता लखनऊ पृ0- 254,

बनाया गया शीरमाल लखनऊ के उच्च वर्ग में काफी पसन्द किया जाता था । महमूद के शिष्य अली हुसैनी ने भी शीरमाल के क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की । शीरमाल आज भी मुस्लिम समाज में लोकप्रिय है और प्रत्येक शुभ अवसरों पर शीरमाल अवश्य बनाई जाती है ।[1] शीरमाल से भी अधिक स्वादिष्ट " नान जलेबी" होती थी जो केवल विशिष्ट अवसरों पर बनाई जाती थी । इन रोटियों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की रोटियाँ प्रचलित थी । मीर तकी मीर ने अनेक प्रकार की रोटियों का वर्णन किया है जैसे- नान-ए-बादमम जो की नान वर की नान जंजीली नान आदि ।[2] इसके अतिरिक्त एक अन्य खाद्य पदार्थ 'मलीदा' भी प्रचलित था। मलीदा की यह विशेषता थी कि यह मुँह में रखते ही गल जाता था और इसे चबाने की आवश्यकता नही पड़ती थी । वास्तव में मलीदा हिन्दू खान-पान से प्रभावित खाद्य-पदार्थ है क्योंकि हिन्दुओं मे प्रारम्भ से ही रोटी को तोड़कर उसमे घी तथा शक्कर मिलाकर पूजन तथा धार्मिक उत्सवों पर प्रसाद के रूप में बाँटा जाता था । इसी प्रकार का एक और खाद्य-पदार्थ " दूध की पूरी" का अविष्कार हुआ जिसमे आटा बिल्कुल नहीं प्रयुक्त होता था और केवल पनीर में मेवा भर कर पकाया जाताथा। इस युग का एक अन्य रसोइयाँ असम अली था जो मुसल्लम । सम्पूर्ण मछली। बहुत स्वादिष्ट पकाता था। एक अन्य खाद्य पदार्थ " नेहारी" लखनऊ में बहुत लोकप्रिय थी ।[3] इसके अतिरिक्त लखनऊ में विभिन्न प्रकार के कबाब भी अत्यन्त लोकप्रिय थे । मीर तकी मीर ने निम्न प्रकार के कबाबों का उल्लेख किया है - कबाब-ए-गुल, कबाब-ए- हिन्दी, कबाब-ए- कांधारी, तथा कबाब-ए-संग इत्यादि।[4]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 254,
2. उमर डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीरकाअहदपृ0. 512
3. शरर, अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ-पृ0-255-60
4. उमर डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरातमीर का अहद-पृ0- 520,

इसके अतिरिक्त एक अन्य पाक विशेषज्ञ खैरूल्लाह था जो अदरख का लच्छा काटने में सिद्धहस्त था।[1]

खानपान के अन्तर्गत मिष्ठान का भी स्थान महत्वपूर्ण होता है । 18 वीं शताब्दी के अवध में भिन्न-भिन्न प्रकार के मिष्ठान प्रचलित थे । मिष्ठान बनाने के हलवाई अधिकतर हिन्दू ही थे, वैसे तो मुसलमान हलवाई भी थे किन्तु अच्छे किस्म की मिठाईयां हिन्दू हलवाई ही बनाते थे । मिष्ठान अधिकतर हिन्दुओं में ही लोकप्रिय रहे, जबकि मुसलमान नमकीन भोजन में अधिक रूचि रखते थे । इसका कारण यह था कि अधिकतर मुसलमान मांसाहारी होते थे जबकि अधिकार हिन्दू शाकाहारी होते थे । हिन्दुओं की मिष्ठानों के प्रति रूचि का एक अन्य धार्मिक कारण यह था कि भगवान के प्रसाद के रूप में इसका प्रयोग होता था। यही कारण है कि , मथुरा, बनारस और अयोध्या जो कि हिन्दुओं के धार्मिक केन्द्र थे, मिष्ठान के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध हुए । किन्तु फिर भी कुछ मुसलमान हलवाई भी मिष्ठान के क्षेत्र में प्रसिद्ध हुए, जैसे 18 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक का हलवाई मुंशी हादी अली " हलवा सोहन पपड़ी, बहुत अच्छी बनाता था। एक अन्य हलवाई ऐसी अनार वाली मिठाई बनाता था जो देखने में बिल्कुल असली अनार लगता था ।[2] हिन्दू हलवाइयों द्वारा बनाई गई - "बर्फी" "बालूशाही" "खुरमें" तथा बुंदिया" गुलाब जामुन"

---

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए- आजाएब, पृ0- 104,

2. शरर , अब्दुल हलीम - गुजस्ता लखनऊ - पृ०- २६०,

गरेबाहिश्त" अत्याधिक लोकप्रिय थी । लखनऊ में जलेबियाँ "ईमरतियाँ" तथा "बालूशाही" भी बहुत प्रचलित थी । जलेबी को अरबी में जलाबियाँ कहते है, यह अरब से भारत में आया, इसी को विकसित कर लखनऊ से "इमरती" का आविष्कार किया गया । जबकि पेड़ा शुद्ध भारतीय व्यंजन है ।[1] मिर्जा कतील नेअपनी रचनाओं मेंभी मिष्ठानों का वर्णन किया है, एक स्थान पर उन्होनें बर्फी बनाने की पूरी विधि का विस्तार से वर्णन किया है।[2] बर्फी के अतिरिक्त मिर्जा कतील ने "पेड़ा" "मोतीचूर" का लड्डू" तथा मूँग के लड्डू का भी उल्लेख किया है । मिर्जा कतील को बर्फी खाने का बहुत शौक था तथा वह स्वयं मिठाई बनाने में निपुण था। अवध के बाजार में बिकने वाली मिठाईयाँ उस युग के अनुसार सस्ती भी थी ।[3]

लखनऊ में मिठाईयों के अतिरिक्त हलवे भी बहुत प्रचलित थे । एक लोकप्रिय हलवा " तर हलवा" था जो पूरी के साथ खाया जाता था यह शुद्ध भारतीय व्यंजन है जिसे हिन्दुओं में " मोहन भोग" कहा जाता था। किन्तु हलवा सोहन मुस्लिम व्यंजन है जो चार प्रकार का होता था- सोहन पपड़ी ,सोहन दूधिया, सोहन जोजी, तथा सोहन हब्शीअब्दुल हलीम शरर के अनुसार हलवा सोहन पपड़ी अरब से भारत में आया था।[4] हुसैनीनासिरूद्दीन हैदर के काल का प्रसिद्ध हलवाई सोहन पपड़ी बनाने

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ पृ0- 260-62,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रूकात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 93,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात ,मीर का अहदपृ0- 520,
4. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ पृ0- 263,

जाता था।[1] मिर्जा कतील में एक अन्य हलवे के प्रकार हलवा सुहानी का उल्लेख किया है, मिर्जा कतील के अनुसार बाकर बेग नामक हलवाई का हलवा बहुत स्वादिष्ट होता था।[2]

लखनऊ मे खानपान के अन्तर्गत दूध दही का भी प्रचलन था। यहाँ की मिलाई विशेष प्रसिद्ध थे। मलाई को तहों को सुन्दरता और स्वच्छता से जमाया जाता जो देखने मेंआकर्षक लगता था। अवध के नवाब आसफउद्दौला को यह मलाई बहुत प्रिय थी और नवाब के लिए विशेष रूप से मलाई बनाई जाती थी और नवाब ने इस विशेष मलाई का नाम "बालाई" रख दिया क्योंकि यह दूध के ऊपर की वस्तु थी। अभी भी मुसलमानो में "मलाई" को "बलाई" ही कहते है।[3]

फलों में विशेष रूप से "शफ्तालू" "अंगूर" "सेब" "अनार" "नारंगी" तथा "आम" आदि खाए जाते थे। मिर्जा कतील बिलायती अनार प्रतिदिन खाया करते थे।

जहाँ तक पेय वस्तुओं का प्रश्न है लखनऊ में अधिकतर "शरबत" का ही प्रचलन था। भिन्न-भिन्न प्रकार के "शरबत" तैयार किए जाते थे।[4] मिर्जा कतील ने "अनार" के शरबत का उल्लेख किया है।[5] शरबत के अतिरिक्त दिल्ली की

---

1. सुरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजायब पृ0- 104,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रुक्कात-ए- मिर्जा कतील पृ0- 78-93,
3. शरर अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ पृ0- 263-64,
4. अली श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया पृ0- 101-311,
5. कतील मिर्जा, मोहम्मद हसन- रुक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0-23-42,

भाँति लखनऊ तथा फैजाबाद के बाजारों में "कहवे खाने" भी थे जहाँ लोग "कहवा" पीते और गप्पे लड़ाते थे ।[1] 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चाय पीने का भी प्रचलन हो गया था ।[2] श्रीमती मीर हसन अली का कथन है कि उस युग में लोग "रोजा अफ्तार" के समय शरबतों के अतिरिक्त चाय भी पीते थे ।[3]

18 वीं शताब्दी के अवध में लोग बर्फ का भी प्रयोग करते थे ।[4] बर्फ प्राप्त करने की रोचक विधि का उल्लेख अब्दुल हलीम शरर ने अपनी पुस्तक गुजश्ता लखनऊ में किया गया है । इनके अनुसार लोग बर्फ का प्रयोग पानी को ठंडा करने के लिए करते थे और यह बर्फ लोगो को ग्रीष्म ऋतु तक उपलब्ध रहती थी ।[5] पानी ठंडा करने की अनेक विधियाँ प्रचलित थी जैसे घड़ों में पानी भरकर कुओं के अन्दर लटका दिये जाते थे । इसके अतिरिक्त एक अन्य विधि यह भी थी कि, एक बड़े नाद । एक बड़ा बर्तन। में शोरा और पानी डालकर जस्ते के बर्तन में पानी भरकर नांद में पानी में फिराया जाता था, जिससे थोडी ही देर में पानी अत्यधिक ठंडा हो जाता था जो बहुत ही आनन्द दायक होती थी । इस विधि

---

1. देहलवी, मीर हसन- मजमुआ मसनवियात मीर हसन-पृ0-151,
2. कतील मिर्जा मोहम्मद हसन- रुक्कात-ए- मिर्जा कतील पृ0- 93,
3. सरूर , मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाएब पृ0- 10
4. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात ,मीर का अहद-पृ0- 523,
5. शरर अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ पृ0- 266,

की सुराहियों को झलना कहा जाता था ।[1]

भोजन बनाने के साथ-साथ उसे सुन्दरता और स्वच्छता से परोसना तथा उसे सजा कर लाना भी एक कला थी जिसका विकास लखनऊ में हुआ । फूलों तथा कच्चे चावलों को भिन्न-भिन्न रंगों में रँगकर उनसे मेज पर विभिन्न आकृति बनाते थे । जो देखने में अति आकर्षक लगती थी । इस प्रकार की कला भारत में आदिकाल से ही प्रचलित थी । लखनऊ में भी इसी प्रकार भोजन परोसे जाते थे । किन्तु इसमें एक परिवर्तन यह किया गया कि इन भोजनों पर सोने-चाँदी के वर्क लगा दिए जाते थे, इसके अतिरिक्त पिश्ते तथा बादाम को महीन-महीन काटकर उन पर डाले जाते थे । भोजन सजाये वाले विशेष कर्मचारी नियुक्त होते थे । इन कर्मचारियों को "रकाबदार" कहते थे । ये रकाबदार जो भोजन को आकर्षक ढंग से सजाते, पोलाव और जर्दा परोसते समय उन पर मेवा एवं मुरब्बे तथा अचार आकर्षक ढंग से रखते । भोजन के साथ आबदार खाना । जल व्यवस्था। भी होता था जिसके अन्तर्गत पीने के

---

1. बर्फ- शीत ऋतु में जब ठंड बहुत अधिक पड़ती थी तो खेतों और खुले मैदानों में रात को बर्तनों में एक विशेष रसायन युक्त गर्म पानी भर कर रख दिया जाता था जो सुबह होते-होते जम जाता था, उस जमी हुई बर्फ को उसी समय पहले से ही खुदे हुए गड्ढे मे दबा दिया जाता था । इस प्रकार इतना बर्फ बनाकर खेतों में भर दिया जाता था कि वह साल भर तक चलती रहती । इसका उपयोग मात्र नवाबों तथा अमीरों तक ही सीमित था क्योंकि यह बहुत खर्चीला था तथा इस कारण यह मध्यम तथा निम्न वर्ग के लिए दुर्लभ था - शरर अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ पृ0- 266.

पानी सुन्दर आबखोरों । कुल्हड़। में होते थे जो सुन्दर तथा स्वच्छ लाल कपड़ों से पानी में भिगोकर रखे जाते थे जिससे पानी शीतल रहता था ।[1]

18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब सम्पूर्ण भारत में पाश्चात्य संस्कृति फैल रही थी तो अवध भी इस प्रभाव से अछूता न रह सका, और इसी प्रभाव के कारण जब लोगो की अंग्रेजी भोजनों के प्रति रूचि बढ़ने लगी तो ऐसे रसोइयों को ढूंढा जाने लगा जो भारतीय तथा अंग्रेजी दोनो प्रकार के भोजनों को बनाने में निपुण हो । मिर्जा कतील ने भारतीय रसोइयों की सेवाओं और उनके शर्तों का विस्तार से वर्णन अपनी कृतियों में किया है ।[2]

मध्यम श्रेणी के लोगों में जब कोई कार्यक्रम का आयोजन होत ा था तो वह घर में भोजन पकवाने के बजाय "नानबाई" को भोजन बनाने का ठेका दे देते थे । "नानबाई अपने घर से भोजन बनाकर ले जाता था ।[3] यद्यपि 18वीं शताब्दी के अवध में मुस्लिम समाज में मांसाहारी व्यंजन ही अधिक प्रचलित थे, किन्तु शाकाहारी और भारतीय व्यंजनो का भी

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ पृ0- 266,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0-33-38,
3. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया पृ0- 173-174,

प्रयोग किया जाता था यही नहीं उर्स के अवसर पर भी शुद्ध भारतीय व्यंजनों का प्रयोग होता था । उदाहरणार्थ शाह बरकतउल्लाह माहरवी के उर्स के दिन बनाये गये भोजनों में अधिकतर ऐसे भोजन थे जोशुद्ध भारतीय थे ।[1]

अवध के निवासी जब भोज का आयोजन करतेथे तो लोग भोज में नहीं आ पाते थे, उनके लिए उनका भाग भिजवा दिया करते थे । भोज में जो वस्तुएँ रखी जाती थी, उन्हें सम्मिलित रूप से "तुराह" कहा जाता था । तुरे के अन्तर्गत पोलाव, मुजाफर, मुतन्जन, शीरमल, मीठे चावल बूरानी के प्याले,कबाब, मुरब्बा, अचार तथा चटनी इत्यादि होता था । कहीं-कहीं सामर्थ्यानुसार उपरोक्त से कम या अधिक की वस्तुएँ भेजी जाती थी । " तुराह" लकड़ी के बर्तनों में रखकर भिजवाया जाता था । अमीरों, नवाबो और शहजादों को भेजे जाने वाले "तुराह" के बर्तनों के मध्य में कागज के फूलों का एक गुलदस्ता भी रख देते थे । नवाब को भेजे जाने वाले "तुराह " की लागत लगभग पाँच सौ रूपये तक आती थी । कालान्तर में "तुरे" के साथ कुछ रूपये भी भेजने का प्रचलन हो गया । "तुराह" एक लकड़ी के बर्तन में भेजा जाता था जो एक ढक्कन से ढका होता था, जिस पर रंगीन तीलियों की मुम्बदनुमा आकृति बनी होती थी और उस पर सफेद वस्त्र बंधा होता था । उच्च वर्ग में इस

---

1. उमर डॉ मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 519.

बन्धन पर लाख लगाकर मुहर लगा दी जाती थी जिससे कोई इसे बीच में खोल न सके, और उस पर रंगीन रेशमी कपड़े से ढाँक दिया जाता था, जिसे खानपोश कहा जाता था, यह खानपोश जड़ाउ होता था।[1] यह मुगल प्रथा थी जो अवध में दिल्ली से आई थी ।

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ पृ0- 263-64.

अध्याय - 4

## अवध के समाज में प्रचलित खेल तथा मनोरंजन के साधन -

अवध के नवाबों की मनोरंजक रुचियाँ, शौक और शानदार वैभवपूर्ण जीवन की अनेकानेक कथाएँ प्रसिद्ध है । अवध के नवाबों के मनोरंजन के साधनों में पशुओं की लड़ाई, पक्षियों की लड़ाई, शिकार खेलना, कबूतरबाजी, मुर्गबाजी, बटेरबाजी, पतंगबाजी, चौसरबाजी आदि प्रमुख थे । इसके अतिरिक्त अन्य मनोरंजन के साधन भी थे, जिनके द्वारा अवध के नवाब अपना मनोरंजन करते थे । शासकों के द्वारा इन मनोरंजन के साधनों को अपनाने के कारण जन साधारण ने भी इन्हीं साधनों को अपने आर्थिक स्तर के अनुरूप अपना लिया था । विशेषकर कबूतरबाजी, मुर्गबाजी और पतंगबाजी अवध की जनता में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए थे । इनके अतिरिक्त भाण्ड, नकल करने वाले, चुटकुले सुनाने वाले तथा बाजीगरों और नटों का भी वर्ग बड़ी संख्या में अवध में उपस्थित था जो शासक तथा प्रजा का भरपूर मनोरंजन करते थे ।[1]

### पशुओं की लड़ाई -

अवध के नवाब शेर, तेंदुए, हाथी, ऊँट , भेड़े, बारहसिंगे, भैंड़, इत्यादि जंगली पशुओं को लड़वा कर अपना मनोरंजन किया करते थे ।[2] वास्तव में पशुओं को लड़वा कर मनोरंजन करने की प्रथा रोम की

---

1. उमर, डा० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0- 542.
2. अली, मोहम्मद अहद- शबाब-ए- लखनऊ- पृ0- 119

थी जहाँ प्राचीनकाल में पशुओं को लड़ा कर शासक गण अपना मनोरंजन करते थे, वहीं से यह प्रथा सारे यूरोप में फैली ।[1] इस सम्बन्ध में अब्दुल हलीम शरर का यह मत है कि, नवाबों का यह शौक अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से हुआ ।[2] परन्तु यह मत तार्किक नहीं प्रतीत होता । वास्तव में यह प्रथा दिल्ली से आई थी, क्योंकि मुगल काल में भी पशुओं की लड़ाई होती थी, विशेष रूप से हाथियों की लड़ाई । प्रख्यात इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक में औरंगजेब के बचपन की एक घटना को उद्धृत किया है, जिसमें उसके द्वारा हाथियों का सामना करने की घटना का वर्णन किया गया है ।[3] इस प्रकार दिल्ली से ही यह प्रथा अवध में आई, किन्तु इस प्रथा का चरमोत्कर्ष अवध में ही हुआ ।

अवध के नवाबों की इस मनोरंजक रुचि के कारण ही गोमती नदी के तट पर " मुबारक मंजिल" और "शाह मंजिल " नामक दो कोठियों का निर्माण करवाया गया । इन कोठियों के सामने नदी के दूसरे तट पर काफी दूर तक एक आकर्षक हरा-भरा मैदान बनवाया गया जहाँ लोहे के कटहरे से घेर कर एक विशाल चारागाह बनवाया गया । जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के हजारों पशु छोड़े जाते थे तथा हिंसक पशुओं को कटहरों में बन्द करके रखा जाता था । इन्हीं मैदानों में जगह जगह कई स्थानों पर बाँस की बल्लियों और लोहे की छड़ों से घेर कर पशुओं के लड़ाने का

---

1. शरर, अब्दुल, हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ० 157,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 157,
3. सरकार जदुनाथ - औरंगजेब- पृ0- 28,

स्थान बनाया जाता था जो " शाह मंजिल" के ठीक सामने नदी के पार होते थे। इस स्थान पर नदी की चौड़ाई बहुत कम होती थी और दूसरी ओर नदी के पार का दृश्य बिल्कुल साफ दिखाई पड़ता था। सबसे भयंकर लड़ाई शेर और हाथियों की ही होती थी। इन हिंसक पशुओं को पालने-साधने और उनकी देखभाल के लिए सुशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्तियाँ की जाती थी, और यही कर्मचारी हाथियों और शेरों को कटहरे में लाकर छोड़ते तथा लड़ाई के अन्त में विजयी और पराजित पशुओं को अपने नियंत्रण में रखते थे। ये कर्मचारी पशुओं को नियंत्रित करने के लिए कोड़े, बल्लम, लोहे की दहकती गर्म सलाखें और आतिशबाजियों का प्रयोग करते थे।[1] लड़ने वाले शेर नेपाल की तराई से मँगवाये जाते थे।[2] शेर को शेर से लड़ाने के अतिरिक्त शेर को तेंदुएँ, हाथी और भैंसे से भी लड़ाया जाता था। शेर के अतिरिक्त चीतों को भी लड़ाया जाता था। चीतों की लड़ाई बड़ी रक्त पिपासु लड़ाई होती थी।[3] लखनऊ के नवाबी काल में हाथियों की लड़ाई भी बहुत पसन्द की जाती थी। हाथियों की लोकप्रियता का आभास इसी से होता है कि, नवाब नसीरुद्दीन हैदर के समय में ( सन् 1827 ई0- सन् 1837 ई0 ) लगभग डेढ़ सौ लड़ाकू हाथी थे।[4] हाथी को भैंसे से भी लड़ाया जाता था।[5] इसके अतिरिक्त लखनऊ में

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 157,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 157,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 157,
4. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 158,
5. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 159,

ऊँटों की लड़ाई, बारहसिंगों की लड़ाई, भैंसे की लड़ाई तथा भेड़ों लड़ाई बहुत पसन्द की जाती थी ।[1] नवाब गाजीउद्दीन हैदर के काल में तो भैंसे पर हाथी के समान हौदा कस कर सवारी भी की जाती थी ।[2] भेड़ों की लड़ाई नवाबों में अत्यधिक लोकप्रिय रही । नवाब आसफउद्दौला, नवाब सआदत अली खाँन, नवाब गाजीउद्दीन हैदर, नवाब नसीरुद्दीन हैदर तथा नवाब वाजिद अली शाह भेड़ों की लड़ाई अत्यन्त रुचि से देखते थे ।[3] नवाबी शासन की समाप्ति के साथ ही भेड़ों को लड़ाने की प्रथा भी समाप्त प्रायः हो गई, किन्तु निम्न वर्ग में काफी दिनों तक भेड़ा लड़ाने की प्रथा चलती रही ।[4] इस प्रकार नवाबों के शासन में पशुओं की मनोरंजक लड़ाई होती थी, जिससे नवाबों के साथ-साथ अवध की प्रजा भी अपना भरपूर मनोरंजन करती थी ।

पक्षियों की लड़ाई -

अवध में पशुओं की लड़ाई के साथ-साथ पक्षियों की भी लड़ाई का खेल अत्यन्त लोकप्रिय था। पक्षियों की लड़ाई की लोकप्रियता का एक और कारण यह था कि, जहाँ व्यय साध्य होने के कारण पशुओं की लड़ाई की प्रथा उच्च वर्ग तक ही सीमित रही, वहीं कम खर्चीला होने के कारण पक्षियों की

1. शरर, अब्दुल हलीम गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 159-60,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं शताब्दी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ0- 543,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं शताब्दी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद पृ0- 543-44,
4. अली, मोहम्मद अहद- शबाब-ए-लखनऊ-पृ0- 119-144,

लड़ाई उच्च वर्ग के साथ-साथ आम जनता में भी लोकप्रिय हो गई और सभी वर्ग के लोग पक्षियों की लड़ाई का आनन्द उठाते थे । लखनऊ में मुर्ग, बटेर, तीतर, गुलदुम, लाल, कबूतर तथा तोते आदि पक्षी लड़ाए जाते थे किन्तु लखनऊ में मुर्गबाजी, कबूतरबाजी तथा बटेरबाजी अत्यधिक लोकप्रिय हुई ।[1]

मुर्गबाजी -

18 वीं शती के अवध में लखनऊ तथा फैजाबाद में मुर्गबाजी की रुचि जनसाधारण के प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती थी । वास्तव में मुर्गबाजी की कला अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला के युग ॥1756 ई0॥ से प्रारम्भ हुई और नवाब वाजिद अली शाह के युग॥1856 ई0॥ तक निरन्तर अत्यन्त रुचि के साथ चलती रही । नवाब शुजाउद्दौला, नवाब आसफउद्दौला तथा नवाब वाजिदअलीशाह को मुर्गबाजी में विशेष रुचि थी ।[2] मुर्गबाजी में नवाबों की गहरी रुचि के कारण मुर्गबाजी लखनवी में नवाबों की गहरी रुचि के कारण मुर्गबाजी लखनवी समाज में अत्यधिक लोकप्रिय हो गई और अमीर, दरबारी तथा जनसाधारण में मुर्गबाजी प्रचलित हो गई, यही नहीं अवध में रहने वाले यूरोपियन भी मुर्गबाजी करने लगे । जनरल मार्टिन ॥ 18 वीं शती के उत्तरार्ध ॥ प्रथम श्रेणी के मुर्गबाज थे और नवाब

1. शरर, अब्दुल हलीम गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 167,
2. शरर, अब्दुल हलीम गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 167, देखिये चित्र सं0 9,

सआदत अली खाँ से बाजी बंद कर मुर्ग लड़ाया करते थे।[1] मुर्गबाजी नवाब वाजिद अली शाह तक लोकप्रिय रही। उसके बाद भी जब वह कलकत्ते गए तो वहाँ भी मुर्गबाजी करते रहे, मटियाबुर्ज में नवाब अली नकी खाँ की कोठी में कुछ अंग्रेज मुर्ग लड़ाने को आया करते थे।[2] नवाबों के अतिरिक्त अवध के उच्च वर्ग में भी यह खेल बहुत लोकप्रिय था। मिर्जा हैदर खान तथा "बहू बेगम" के भाई नवाब सालारजंग आदि ( 18 वी शती के उत्तरार्ध ) उच्च वर्ग के लोग नवाब के मुर्ग से अपना मुर्ग लड़ाते थे। आगा बुरहानउद्दीन भी एक प्रसिद्ध मुर्गबाज थे। किसी-किसी मुर्ग बाज के पास दो -ढाई सौ मुर्ग रहते थे। दस-बारह आदमी उनके पालन पोषण के लिए नियुक्त थे। मलीहाबाद के उच्च वर्ग के पठानों में भी मुर्गबाजी के प्रति गहरी रुचि थी। यहाँ के प्रसिद्ध मुर्गबाज अपनी कला के गुरू माने जाते थे। इमदाद अली, शेख घसीटा, मुनव्वर अली आदि ऐसे प्रसिद्ध मुर्गबाज थे जो मुर्ग की आवाज सुन कर बता देते थे कि, यह मुर्ग बाजी मार ले जायगा। इनके अतिरिक्त सफदरअली तथा मीरन साहब भी बहुत प्रसिद्ध मुर्गबाज थे।[3]

मुर्गबाजी लखनऊ में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि, प्रख्यात शायर मीर तकी मीर ने 18 वी शती के उत्तरार्ध में लखनऊ के मुर्गबाजो पर एक मसनवी की रचना कर डाली, इनके अनुसार अधिकतर मुर्गबाजी शुक्रवार और मंगलवार को होती थी।[4] मुसहफी ने "मसनवी मुर्गनामा मिर्जा तकी

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 167,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 167-68,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 167-68
4. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद-पृ0- 546,

फैजाबादी" में मिर्जा तकी के मुर्गों और उनकी मुर्गबाजी, मुर्गों के प्रशिक्षण तथा मुर्गों के भोजन का विस्तार से वर्णन किया है, और यह लिखा है कि, मिर्जा तकी कुशल तथा प्रसिद्ध मुर्गबाज थे और तीन- तीन हजार रुपये की बाजी बद कर मुर्ग लड़ाते थे, मिर्जा तकी ने अपना सारा धन मुर्गबाजी मे ही उड़ा दी।[1] इंशा उल्ला खाँ इंशा को भी मुर्गबाजी में बड़ी रुचि थी और उन्होंने भी एक मसनवी " मुर्गनामा" के नाम से लिखा है जिसमें इंशा ने मुर्गबाजी के प्रति अपनी रुचि का वर्णन किया है।[2]

कबूतरबाजी -

लखनऊ में कबूतरबाजी की कला दिल्ली से ही आई थी। अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह "जफर" की सवारी जब निकलती थी तो दो सौ कबूतरों की टुकड़ी ऊपर हवा में सवारी के साथ उड़ती हुई जाती थी और बादशाह " जफर" पर छाया किए रहती थी।[3] इस घटना से यह प्रतीत होता है कि दिल्ली में भी कबूतरबाजी अत्यधिक लोकप्रिय थी। लखनऊ में कबूतरबाजी नवाबों के प्रारम्भिक युग से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला ( सन् 1756 ई0- सन् 1775 ई0) कबूतरबाजी में अत्यधिक रुचि रखते थे। नवाब शुजाउद्दौला के कबूतरखाने में दो हजार कबूतर थे जिसकी देखभाल के लिए सैकड़ों कर्मचारी नियुक्त होते थे।[1] नवाब आसफउद्दौला

1. मुसहफी, गुलाम हमदानी-दीवान-ए-मुसहफी- पृ0- 125,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 447-448,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ - पृ0- 180,
4. दास, हरचरन- चहार-ए-गुलजार शुजाई-पृ0- 221,

॥ सन् 1775 ई0 सन् 1797 ई0॥ के कबूतरखाने में तीन लाख से अधिक कबूतर थे, जिसके रख-रखाव पर काफी धन व्यय होता था। नवाब आसफउद्दौला तो कबूतरबाजी में इतनी अधिक रूचि रखते थे कि जब वह यात्रा में भी जाते तो उस समय भी हजारों कीसंख्या में कबूतर उनके साथ रहते थे । यही दशा नवाब सआदत अली खाँ ॥ सन् 1798 ई0 सन् 1814 ई0॥ की भी थी ।[1] नवाब गाजीउद्दीन हैदर ॥सन् 1814 ई0- सन् 1827 ई0॥ तथा नवाब नसीरूद्दीन हैदर॥ सन् 1827 ई0- सन् 1837 ई0॥ के काल में कबूतरबाजी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी । नवाब नसीरूद्दीन हैदर प्रतिदिन "छतर मंजिल" से जब घूमने फिरने निकलते थे तो नदी तट पर बहुत से दुहरे कबूतरों [2] की उड़ान देखते और वे कबूतर आकर वापस नसीरूद्दीन हैदर के पास आकर बैठ जाते थे और नवाब उन्हे देखकर हर्ष से प्रफुल्लित हो उठते । अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह भी कबूतरबाजी की कला में अत्यन्त रूचि रखते थे और उनकी मृत्यु के समय उनके पास चौबीस हजार कबूतर थे ।[3]

कबूतरबाजी के प्रति अवध के नवाबों की गहरी दिलचस्पी के कारण उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्ग में भी गहरी दिलचस्पी हो गई । 18 वीं शताब्दी की एक प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती मीर हसन अली

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 41.
2. दुहरे कबूतर - दुहरे कबूतर उन्हे कहते थे जिनके अन्तर्गत कबूतरबाज दो युवा कबूतरों को लेकर एक का दाहिना और एक का बायाँ पर काट कर उनके स्थान पर टाँके लगा कर जोड़ देता था और इस प्रकार पालता कि वे जुड़े होकर उड़ने लगते-गुजर्श्ता लखनऊ-पृ0- 18।
3. शरर, अब्दुल हलीम-गुजर्श्ता लखनऊ-पृ0- 18।.

ने अपने ग्रंथ में कबूतरबाजी का विस्तार से वर्णन किया है । वह लिखती है कि, लखनऊ के लोग कबूतरबाजी की कला में अत्यन्त कुशल थे और वह अत्यन्त प्रयत्न करते थे कि उनके पास उच्च जाति के कबूतर हों और इसीलिए धनी लोग संसार के अनेक भागों से अधिक मूल्यों पर कबूतर मँगवाते थे । यह कबूतरबाज अपने कबूतरों को अच्छी तरह पहचानते थे । मकानों की छतों पर लकड़ियों की जाफरियाँ बनाई जाती थी और उनमें कबूतरों को रखा जाता था। उन्हें सुबह शाम उनके स्वामी स्वयं दाना चुगाते थे और फिर उड़ाते थे । कभी-कभी उसी समय उसका कोई पड़ोसी भी अपने कबूतर उड़ाता और अगर उसके कबूतर पड़ोसी की कबूतर में मिल जाते और कुछ दूर तक चले जाते तो वे कबूतर पड़ोसी की सम्पत्ति मानी जाती और वह व्यक्ति तब तक उन कबूतरों को वापस नहीं करता जब तक कि कबूतरों का मूल्य न ले लेता ।[1] एक अन्य प्रसिद्ध कबूतरबाज यार अली था जो बरेली का निवासी था परन्तु 18 वीं सदी के उत्तरार्ध में फैजाबाद में रहने लगा था , वह अपनी कबूतरबाजी की कला के ही कारण शुजाउद्दौला का कृपापात्र बन गया और उसने विशेष ख्याति कबूतरबाजी की कला में प्राप्त की थी ।[2] सभ्य परिवारों में भी कबूतर बाजी की रूचि उत्पन्न हो गई थी । 18 वीं शताब्दी के प्रख्यात विद्वान मुल्ला निजामउद्दीन सिहालवी के पुत्र मुल्ला अब्दुल अली एक प्रसिद्ध कबूतरबाज

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन ऑब द मुसलमान ऑफ इण्डिया पृ0- 217-218,
2. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख फरहबख्श-पृ0-225-229, उर्दू अनुवाद शिव प्रसाद,

थे।[1] इससे ज्ञात होता है कि, विद्वान और धार्मिक प्रकृति के लोग भी कबूतरबाजी में रुचि रखते थे। मीर अमान अली एक ऐसा कबूतरबाज था जो किसी भी कबूतर को रंग कर जैसा चाहता वैसा बना लेता और एक जगह का पर निकाल कर दूसरी जगह इस प्रकार लगा देता है कि वे वास्तविक परों की भाँति जम जाते, इनका रंग इतना पक्का होता कि वह साल भर तक वैसा ही बना रहता। एक अन्य प्रसिद्ध कबूतरबाज नवाब पाले खाँ थे जो "गिरहबाज" कबूतरों को "गोलो"[2] की भाँति उड़ाते थे। इनकी कला यह थी कि जिस घर पर चाहते थे, केवल एक पतली डंडी के इशारे से कबूतर को उतार लेते थे।[3] दिल्ली, फैजाबाद तथा लखनऊ में एक ऐसा वर्ग भी पाया जाता था जो कबूतर बेच कर अपनी जीविका चलाता था। वह जंगलों में जाकर कबूतरों को अपनी जाल में फँसा कर पकड़ते और शहर में लाकर बेचते थे।[4]

---

1. देहलवी, मीरहसन- मजमुआ मसनावियात मीर हसन-पृ०- 152,
2. कबूतरों की एक विशेष श्रेणी जो बहुत ही सुन्दर होते थे, उनमें शीराजी, निसपादरी, लक्के आदि प्रमुख थे। गिरहबाज सर्व प्रथम काबुल से लाए गए। पहले यही कबूतर उड़ाये जाते थे, तत्पश्चात गोले कबूतर उड़ाये जाते थे जो अरब, अजम व तुर्किस्तान से लाए गए थे। गिरहबाज की विशेषता यह थी कि वह अपने अड्डे को अच्छी तरह से पहचानते थे और सुबह जब उड़ते तो घंटों मकान की छतों पर ही उड़ते रहते। किन्तु गिरहबाजों की दस बारह से अधिक की टुकड़ी नहीं उड़ती थी। "गोले" कबूतर सौ-सौ, दो-दो, सौ की टुकड़ी में उड़ते थे।- गुजस्ता लखनऊ पृ०- 181,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- 181,
4. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 544-46,

बटेरबाजी :

अब्दुल हलीम शरर के अनुसार बटेरबाजी भी लखनऊ की एक प्रसिद्ध कला थी जो पंजाब से आई थी ।[1] नवाब सआदत अली खाँ के युग में ( सन् 1798 ई0- सन् 1814 ई0) कुछ पंजाबी अपने साथ " धागस" बटेर लाए, जिन्हें वह लड़ाते थे । श्रीमती मीर हसन अली का कथन है कि, बटेर बहुत ही लड़ाकू चिड़िया होती थी, यह छोटी सी चिड़िया जब एक बार लड़ना प्रारम्भ कर देती थी तब तक लड़ती रहती थी जब तक वह जीवित रहती ।[2] 18 वीं शती के अवध के शायरों की रचनाओं में बटेरबाजी का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है ।[3] बटेरों की लड़ाई कमरे के फर्श पर ही लड़ी जाती थी । यह सभ्य लोगों का खेल था, इसी कारण यह अत्यधिक पसन्द किया गया । इसीलिए बटेरो के नाम भी अच्छे से अच्छे रखे जाते थे जैसे - रुस्तम, सोहराब, शीयरा ए-आफाक आदि । बटेरो की लड़ाई नवाबों में मोदप्रिय थी । नवाब नसीरुद्दीन हैदर अपने सामने मेज पर बटेरो की लड़ाई देखकर अपना मनोरंजन करते थे । प्रसिद्ध बटेरबाजो में मीर- अन्दू, ख्वाजा हसन, मीर फिदा अली, मीर छंगा, मीर आबिद, सैय्यद मीरन, गालिब अली, नवाब मिर्जा मियाँ जान मिर्जा असर अली बेग, शेख मोमिन अली और गाजी उद्दीन खां आदि प्रमुख बटेरबाज थे ।[4] बटेरो की लड़ाई मुर्गों की लड़ाई

---

1. शरर, डॉ0 मोहम्मद 18 वींसदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात,मीर का अहद पृ0- 544-46,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 178,
3. उमर,डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद पृ0- 551,
4.

की भाँति होती थी । मुर्गे की भाँति बटेरों की भी देखरेख की अच्छी व्यवस्था होती थी, उनके दाने-पानी की अच्छी व्यवस्था होती थी, उन्हें लड़ने की कला सिखाई जाती थी ।[1]

बटेरबाजी के अतिरिक्त लखनऊ में तीतरबाजी की कला भी लोकप्रिय थी । तीतरों को लड़ने की शिक्षा दी जाती थी तथा उन्हें उत्तम भोजन दिया जाता था ।[2] तीतर अन्य पक्षियों की भाँति उचक-उचक कर लड़ते थे किन्तु तीतरबाजी की रुचि केवल देहाती और निम्न श्रेणी तक ही सीमित रही, धनवानों तथा सभ्य लोगों ने इसे उपेक्षित ही रखा ।[3] लखनऊ में तोता को भी लड़ाया जाता था । यद्यपि तोतों को उड़ाया नहीं जाता था लेकिन मीर मोहम्मद अली नामक व्यक्ति ने तोतों की प्रकृति ही बदल दी और वह " दस बारह तोतों की टुकड़ी उड़ाते तथा सीटी बजा कर पिंजरे में उतार लेते ।[4] मिर्जा रजब अली बेग सरूर ने अपने ग्रंथ फसाना-ए- आजाएब में एक तोतें की कहानी लिखी है ।[5] इसके अतिरिक्त लखनऊ के निम्न वर्ग में बुलबुल और लाल नामक पक्षियों को भी उड़ाया

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया- पृ0- 221,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद- पृ0- 551,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद- पृ0- 551,
4. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 181,
5. सरूर, मिर्जा रजब अली- फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 181,

जाता था ।[1] मिर्जा कतील के अनुसार लखनऊ के लोग "मैना" नामक चिड़िया भी पालते थे ।[2] प्रसिद्ध अंग्रेज यात्री लैम्सडाउन ने लिखा है कि, लखनऊ के निवासी कोयल भी लड़ाया करते थे और बाजी लगाया करते थे ।[3]

पतंगबाजी -

पतंगबाजी बालकों और युवाओं का प्रिय खेल था और आज भी है । पतंगबाजी की अपार लोकप्रियता से प्रतीत होता है कि, पतंगबाजी भारत की प्राचीन कला है । परन्तु अब्दुल हलीम शरर का मत है कि,पतंगबाजी की कला नवाबी शासन काल में ही विकसित हुई और लखनऊ ही पतंगबाजी का मुख्य केन्द्र था ।[4] यूरोप में पहले कपड़े की पतंग उड़ाई जाती थी , जिसे डोर पकड़ कर जब तक पतंगबाज भागते रहते तब तक पतंग उड़ती रहती किन्तु उनके रूकते ही पतंग भी गिर जाती किन्तु इसका भी इतिहास में कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता । दिल्ली में मुगल सम्राट शाह आलम के समय में कुछ लोग पतंग उड़ाते थे । लखनऊ में पतंग रात्रि में भी उड़ाई जाती थी, जिसमें तेल में डूबा हुआ एक गेंद तार में बाँधकर लटका दिया जाता था और जला कर मजबूत सूती या रेशमी डोर से उड़ाते थे । जब यह उड़ती थी तो ऐसी प्रतीत होती

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 181.
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ0- 70
3. लैम्सडॉन- अजरनिंग फ्राम मेरठ टु लन्दन-पृ0- 14.
4. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 182.

थी, जैसे आसमान पर एक दीप जल रहा हो । कुछ लोग आदमी का पुतला बना कर उड़ाते थे, जो दिल्ली की प्रथा थी । इसी से विकास करके "चंग" बनाया गया जिसकी लम्बाई, चौड़ाई बराबर होने के कारण उड़ाना और हवा में उहराना अधिक सरल था । "चंग" में ही और सुधार करके " तुक्कल" बनाई गई जिसकी विशेषता यह थी कि, यह हवा में नाचती हुई दूर तक चली जाती थी । " चंग" एक ही स्थान पर स्थिर रहती थी जबकि " तुक्कल" इधर-उधर हवा में चलती रहती । " तुक्कल" उड़ाने की रुचि हिन्दू तथा मुसलमानों में समान रूप से बढ़ी । यही उच्च श्रेणी की "तुक्कल" " पतंग" के नाम से प्रसिद्ध हुई । सर्वाधिक प्रसिद्ध पतंग मुर्शिदाबादी पतंग थी जो बाँस से बनाई जाती थी और जिसके निर्माण में लगभग अस्सी रुपये लगते थे।[1]

लखनऊ के प्रत्येक श्रेणी के लोगों में पतंगबाजी के प्रति पर्याप्त रुचि थी ।[2] न केवल प्रजा वरन् नवाबों मे भी पतंगबाजी के प्रति गहरी रुचि थी । नवाब शुजाउद्दौला और नवाब आसफउद्दौला भी पतंग उड़ाते थे जिनके लिए अच्छे किस्म की पतंग और माँझे बनाए जाते थे । इसी तरह दरबारी अमीर भी पतंग उड़ाते थे और उनके मुकाबले नवाबों से होते थे ।[3] नवाब आसफउद्दौला की पतंग जो भी लूट कर लाता नवाब

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजश्ता लखनऊ पृ0- 182-183,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद - पृ0- 543,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ0- 487,

उसे पाँच रुपया देकर ले लेते थे ।[1] नवाब अमजद अली शाह के युग में "गुड्डी" नामक पतंग बनाई गई, इसी को और विकास कर नवाब वाजिद अली शाह के समय में "कनकौवा" बनाया गया जो आजकल के "कनकौवे" की भाँति था । लखनऊ के प्रसिद्ध पतंगबाजों में मीर अमड, ख्वाजा मिट्ठन, शेख इमदाद अली आदि प्रमुख थे ।[2] इनमें से मीर अमड नासिर-द्दीन हैदर के काल का था, इसी काल में एक और पतंगबाज खैराती और छंगा थे जो पतंग भी बहुत अच्छी बनाते थे ।[3]

भाण्ड नकल करने वाले तथा चुटकुला सुनाने वाले -

जनसाधारण के मनोरंजन के लिए बहुत से भाण्ड, नकल करने वाले तथा चुटकुला सुनाने वालों का भी एक बड़ा वर्ग 18 वीं शताब्दी के लखनऊ में उपस्थित था ।[4] इंशा उल्ला खा इंशा के अनुसार, दिल्ली के विनाश के बाद यह वर्ग भी फैजाबाद तथा लखनऊ आ गए था, और जन-साधारण के लिए मनोरंजन के साधन बन गए थे । इंशा आगे लिखते है कि, यह वर्ग दिल्ली से ही लखनऊ आया था।[5] नवाब शुजाउद्दौला के समय

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- 487,
2. शरर, अब्दुलहलीम- गुजश्ता लखनऊ- पृ०- 184,
3. सरूर, मिर्जा रजब अली- फसाना-ए- आजाएब- पृ०- 103-104,
4. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ०- 562,
5. इंशा, इंशा उल्ला खॉ- दरिया-ए- लताफत- पृ०- 117-118,

इस वर्ग के कुछ लोग दरबार में भी स्थान प्राप्त कर गए थे ।[1] परन्तु नवाब आसफउद्दौला के युग में इन्हें दरबार से निकाल दिया गया, ऐसी परिस्थिति में यह लोग बाजारों, विवाह तथा अन्य उत्सवों के अवसरों पर अपनी कलाओं का प्रदर्शन करके अपनी जीविका चलाते थे ।[2]

नटों और बाजीगरों का वर्ग -

प्राचीन काल में नटों और बाजीगरों का वर्ग शुद्ध भारतीय वर्ग था और इस वर्ग के सभी लोग हिन्दू थे किन्तु मध्यकाल में कुछ परिवारों ने इस्लाम धर्म अपना लिया और 18 वीं शताब्दी तक आते-आते अवध में नटों और बाजीगरों के वर्ग में हिन्दुओं के साथ-साथ बड़ी संख्या में मुसलमान भी उपस्थित थे ।[3] नट और नटनियाँ अपने भिन्न-भिन्न करतबों से देखने वालों का मनोरंजन करते तथा वैवाहिक उत्सवों में भी जाते थे ।[4] लखनऊ मे एक पेशेवर वर्ग " दारबाजों " का भी था । यह वर्ग नटों के वर्ग की एक शाखा थी ।[5] 19 वीं शती के एक प्रख्यात शायर मिर्जा कतील ने "दारबाजों" के आश्चर्यजनक करतबों का उल्लेख अपनी कृतियों में किया है ।[6] दारबाजो की ही

---

1. दास, हरचरन-वहार-ए-गुलजार-ए- शुजाई-पृ0- 201,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 562
3. "आजकल" माह अप्रैल-मई1969, शीर्षक-" हिन्दुस्तान के बाजीगर-दिल्ली,
4. दास, हरचरन-वहार-ए-गुलजार-ए- शुजाई पृ0- 174
5. उमर-डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद पृ0- 563
6. मिर्जा-कतील द्वारा उद्धृत दारबाजोके करतबो की एक घटना इस प्रकार है-एक दिन एक अंग्रेज पालकी में बैठा कहीं जा रहा था कि एक दारबाज दायी ओर से आया और जमीन से छलांग मार करपालकी के बीच से निकल गयातथा शरीर पालकी से तनिक भी स्पर्श नही कर सका, और यही नही छलांग मारने के बाद एक दारबाज दूसरे के गले पर जा बैठा। यह दारबाजो के आश्चर्यजनक करतबो का उत्कृष्ट उदाहरण है- हफ्त तमाशा-पृ0- 189,

भाँति एक अन्य वर्ग जिरहबाशों का था ।[1] नवाब आसफउद्दौला के काल में ( सन् 1775 ई0- सन् 1797 ई0 ) जिरहबाशों को काफी लोकप्रियता प्राप्त थी । इसके अतिरिक्त अवध में "बहुरूपियों" का भी एक वर्ग उपस्थित था जो आम जनता की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करके जनसाधारण का मनोरंजन करते थे ।[2]

उपरोक्त खेल और तमाशों के अतिरिक्त लखनऊ में और भी अनेक मनोरंजन के साधन प्रचलित थे । जैसे- चौपड़, "चौसर" " नर्दबाजी" ( शतरंज की भाँति एका एक खेल ) "कुश्ती" "तीरंदाजी" " घुड़दौड़", "तलवारबाजी" आदि ।[3] इंशा तथा अन्य शायरों की रचनाओं में "चौपड़बाजी " का उल्लेख मिलता है ।[4] मुशहफी ने तो पूरी एक कविता ही "शतरंज" पर लिखी है । लखनऊ की स्त्रियों में भी चौपड़ खेलने की प्रथा थी । नवाब आसफउद्दौला को "चौसर" खेलने का बहुत शौक था । "नर्दबाजी" भी "शतरंज" की भाँति का एक खेल था जिसके द्वारा पुरूष जुआँ खेलते थे । अवध में स्त्रियाँ भी "ताश" खेलती थीं ।[5] पण्डित रतननाथ सरशार ने "पचीसी" तथा "शतरंज" का भी उल्लेख किया है ।[6] लखनऊ में " तीरंदाजी" का भी प्रथा

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद- हफ्त तमाशा-पृ0-189- उर्दू अनुवाद- डॉ0- मोहम्मद उमर,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0- 564,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0-564,
4. इंशा, इंशा उल्ला खाँ - कुल्लियात-ए- इंशा-पृ0- 20,
5. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए- इंशा-पृ0- 130
6. सरशार, पण्डित रतननाथ- फसाना-ए-आजाद-पृ0- 590-595,

प्रचलित थी । यह कला लखनऊ में दिल्ली से आई थी और अवध के अन्य क्षेत्रों में भी इस कला के ज्ञाता थे । मीर गुलाम अली बिलग्रामी "तीरंदाजी" की कला में अति कुशल थे ।[1] लखनऊ के उच्च वर्ग के युवकों में घोड़े और हाथी की सवारी में भी अत्यधिक रुचि थी ।[2] " तलवार बाजी" की कला मुख्य रूप से सैनिकों तथा शहजादों को ही प्रदान की जाती थी ।[3] जहाँ तक बच्चों के खेलो का प्रश्न है, उनमें "आँख मिचौली" " झूला" तथा "गेंदाबाजी" ही अत्यधिक लोकप्रिय थे ।[4] इंशा के अनुसार अवध में " आँख मिचौली" का खेल खेलने की प्रथा थी ।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि, अवध के अन्य क्षेत्रों में भी यह प्रचलित रहा होगा। इसके अतिरिक्त सावन के महीने में बच्चों तथा स्त्रियों में " झूला झूलने" की भी प्रथा थी ।[6] जो हिन्दू खेल था। इंशा की कविताओं में इस खेल के अनेक उदाहरण मिलते है ।[7] इसके अतिरिक्त बच्चों तथा

---

1. हसन ,मीर गुलाम- तजकिरातुल - शोयरा -पृ0- 102,
2. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन आँन द मुसलमान आँफ इण्डिया- पृ0- 218
3. अली, श्रीमती मीरहसन- आब्जरवेशन आँन द मुसलमान आँफ इण्डिया- पृ0- 218
4. उमर, डाँ0 मोहम्मद - 18 वी सदी मे हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद- पृ0- 561,
5. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए-लताफत-पृ0- 23
6. उमर, डाँ0 मोहम्मद 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद- पृ0- 562,
7. इंशा, इंशा उल्ला खाँ,-कुल्लियात ए इंशा-पृ0- 15,
   सरूर, मिर्जा, रजब अलीबेग-फसाना-ए- आजाएब-पृ0- 7

तुवा स्त्रियों में " गेंदाबाजी" की भी प्रथा प्रचलित थी, वे बागों में आकर गेंदे के फूलों से खेला करती थी ।[1]

इस प्रकार 18 वीं शती के अवध में भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोरंजक खेल प्रचलित थे जिनसे अवध की जनता और अवध के नवाब अपना मनोरंजन करते थे । इस सन्दर्भ में एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उपर्युक्त खेल तमाशों आदि से जहाँ अवध के नवाबों की मनोरंजन के प्रति अगाध रूचि का ज्ञान होता है, वहीं दूसरी और यह भी प्रकट होता है कि अवध के नवाबों ने किस प्रकार अपने सीमित आर्थिक संसाधनो का दुरूपयोग किया । विशेषकर मुर्गबाजी, कबूतरबाजी और पशुओं की लड़ाइयों में, जिन पर अपार धन व्यय होता था तथा हजारों की संख्या में कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी । अगर ये नवाब इनके स्थानपरअपने आर्थिक संसाधनों और कर्मचारियों का प्रयोग राज्य के प्रशासनिक , आर्थिक और सामरिक प्रबन्धो में करते तो निःसन्देह अवध राज्य का पतन इतनी शीघ्र न होता ।

---

3. मुशहफी, गुलाम हमदानी- दीवान-ए- मुशहफी- पृ0- 63,
उमर, डॉ0 मोहम्मद -18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात- पृ0- 562,

अध्याय- 5

## त्यौहार, उत्सव तथा मेले :

### दरबारी उत्सव एवं समारोह :

दिल्ली के मुगल दरबार की भाँति अवध के दरबार में भी बड़ी शानोशौकत से उत्सव एवं समारोह आयोजित होते थे। 18 वीं शताब्दी के अवध के दरबार में आयोजित होने वाले प्रमुख उत्सव इस प्रकार थे -

### नौरोज का उत्सव :

मुगल कालीन ऐतिहासिक ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है नौरोज का यह उत्सव मुगल काल से ही बड़ी शानोशौकत के साथ दरबार मे मनाया जाता था। इसी प्रकार अवध के दरबार में भी यह उत्सव पूर्ण राजसी वैभव के साथ मनाया जाता था। नौरोज के उत्सव के दिन एक विशेष दरबार लगता था। नवाब के तख्त पर बैठने के पश्चात् सभी दरबारी, अमीर तथा सेवक नवाब को अपनी सामर्थ्यानुसार भेंट देते थे तथा लोग एक दूसरे को नौरोज की शुभकामना देते थे, स्वयं नवाब अपने अमीरों को शुभकामना देता था नौरोज के दिन भिन्न-भिन्न समय पर उसी के अनुसार भिन्न- भिन्न वस्त्र ग्रहण किया जाता था। जैसे अगर रात्रि में नौराज का उत्सव होता तो वस्त्र का रंग काला होता, यदि दोपहर को नौरोज का उत्सव होता था तो वस्त्र का रंग लाल और भड़कीला होता था। बादशाह से लेकर सेवक तक सभी श्रेणी के लोग ऐसा ही वस्त्र पहनते थे। तत्पश्चात महल की स्त्रियों को भी उपहार भेजे जाते और शाही स्त्रियाँ अपने परिवार के लोगों के घर जाती थीं। उपहार की वस्तुओं

को बड़े करीने से थाल मे सजा कर भेजा जाता था ।[1] इसके अतिरिक्त नौरोज के ही दिन एक और प्रथा " अण्डे लड़ाने की प्रथा" होती थी जिसके अन्तर्गत अण्डे लड़ाये जाते थे, उन्हें भिन्न-भिन्न रँगों में रँगा जाता था । इंशा तथा मीर हसन देहलवी ने अपनी रचनाओं में अण्डे लड़ाने की प्रथा का वर्णन किया है। इस खेल को " सर और पचक लड़ा" भी कहा जाता था ।[2] इंशा ने अण्डे लड़ाने की प्रथा का वर्णन इस शेर में किया है -

" ठहरेगी खूब सी सर और पचक की लड़को,
आवेगें अण्डे लड़ाने को कल आगा नौरोज ।[3]

नौरोज के दिन धार्मिक प्रवृत्ति के लोग अपना समय नमाज पढ़ने और प्रार्थनाएँ करने में व्यतीत करते थे ।[4] किन्तु स्त्रियों में एक अन्य प्रथा प्रचलित थी कि अगर उन्हें ज्ञात होता कि, नौरोज का प्रारम्भ दिन के प्रकाश में होगा, तो वह कुछ देर तक एक थाल में आँखें लगाकर देखती रहती थी । इसके पीछे उनका यह विश्वास था कि जब नौरोज का प्रारम्भ होता तो गुलाब की कली खिल जायगी अतः गुलाब की एक कली तोड़ कर एक थाल में डाल देती थीं तथा उस थाल में पानी डाल दिया जाता था । इसके अतिरिक्त उनका यह भी विचार था कि, नौरोज के प्रारम्भ होने के अवसर पर वह फूल स्वयं सूर्य की ओर से जायगा । इन प्रथाओं

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद पृ०- 489,
2. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ०- 489,
3. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियातए-इंशा-पृ०- 196,
4. अली, श्रीमतीमीर हसन-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान आफ इण्डिया- पृ०-283,

के अतिरिक्त नौरोज के दिन सम्भावित दूल्हा-दुलहन परस्पर एक दूसरे के घरों में उपहार भेजते थे । दरबारी सेवकों के लिए यह दिन बड़ी प्रसन्नता का दिन होता था ।[1] दरबारी कवि इस दिन नौरोज के सम्बन्ध में विशेष प्रकार के आनन्द के गीत लिखते थे । वे दरबार में गाते और पुरस्कार प्राप्त करते थे । 18 वीं शती के अवध के लगभग सभी प्रमुख कवियों ने नौरोज के उत्सव पर भिन्न-भिन्न प्रकार की कविताएँ लिखी है ।[2]

बसन्तोत्सव :

नौरोज की ही भाँति बसन्त का उत्सव भी दरबार में मनाया जाता था । उसदिन विशेष दरबार होता था, नवाब को भेंट दिए जाते थे तथा पशुओं की लड़ाइयाँ होती थी । यह उत्सव दरबारी उत्सव होता था और इसमें जनता की कोई रूचि नहीं होती थी ।[3] नवाब आसफउद्दौला ( सन् 1775 ई0- सन् 1797 ई0 ) इस उत्सव के आयोजन में हजारों रूपया व्यय करते थे ।[4]

---

1. अली ,श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान, आफ इण्डिया- पृ0- 283,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात-मीर का अहद-पृ0- 491,
3. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन आन द मुसलमान आफ इण्डिया पृ0- 154,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए- अवध भाग-तीन- पृ0-1,

## जन्म दिन का उत्सव :

अवध के नवाब और उनके अमीर अपने जन्म दिन का भी उत्सव बड़े उत्साह के साथ मनाया करते थे, नाच और गाने की महफिलें सजती, अमीर लोग नवाब की सेवा में उपहार भेजते । इस अवसर पर नवाब अपने अमीरों को उनके उल्लेखनीय कार्य हेतु पुरस्कार भी प्रदान करते थे । दरबार और नगर के प्रसिद्ध शायर अपनी रचनाओं द्वारा नवाब को शुभ-कामनाएं देते और पुरस्कार पाते । सौदा ने नवाब शुजाउद्दौला, नवाब आसफउद्दौला तथा अन्य अमीरों के जन्म दिन के अवसर पर अनेक कविताएं कही थी ।[1] हर चरन दास ने भी नवाब आसफउद्दौला के जन्म दिन के अवसर पर कविताएं कहीं थी ।[2] नवाब सआदत अली खाँ भी अपना जन्म दिन बड़े धूमधाम से मानते थे तथा इस अवसर पर दीन-दुखियों को भोजन कराते थे ।[3]

## पुत्र जन्म का उत्सव :

मीर हसन देहल्वी ने अपने ग्रन्थों में पुत्र जन्म के अवसर पर होने वाले दरबारी उत्सव का विस्तार से वर्णन किया है । जिससे यह ज्ञात होता है कि, यह उत्सव दिल्ली तथा लखनऊ दोनों ही स्थानों पर एकही प्रकार से मनाए जाते थे ।[4] इस अवसर पर भी दरबार में रंगारंग कार्यक्रम

1. सौदा, मिर्जा मुहम्मद रफी- कुल्लियात-ए- सौदा-पृ0- 5-6,
2. दास, हरचरन, चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0-259,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं शती में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0- 492,
4. देहल्वी , मीर हसन- मजमुआ मसनवियात मीर हसन-पृ0- 20-27,

होता था, सेवकों को पुरस्कार प्रदान किए जाते थे, नवाब की सेवा में भेंट प्रस्तुत किए जाते तथा कवि लोग कविताएँ करते थे।[1] नवाब आसफउद्दौला के पुत्र होने के अवसर पर सौदा ने एक कविता पढ़ी थी।[2] इसी प्रकार अमीर आगा अली खाँ तथा कासिम अली खाँ के यहाँ पुत्र जन्म के उत्सव पर नृत्य गायन एवं भाण्डों के खेलों का प्रबन्ध किया गया था तथा निर्धनों में अत्यधिक धन वितरित किया गया था।[3]

जश्न-ए- गुस्ल सेहत (बीमारी से अच्छे होने के बाद नहाने का उत्सव):-

नवाबों और अमीरों को जब किसी लम्बी बीमारी से छुटकारा मिलता था तो इस अवसर पर " गुस्ल-सेहत" नामक उत्सव होता था। इस अवसर पर ही अमीर लोग उपहार प्रस्तुत करते थे और कवि अपनी कविताओं द्वारा शुभकामनाएँ प्रस्तुत करते थे।[4] एक बार जब नवाब आसफउद्दौला अस्वस्थ हुए तो बड़ी संख्या में नगद रुपये तथा अनाज आदि गरीबों में बाँटा गया तथा इस अवसर पर नायब-ए-सल्तनत हैदर बेग खान ने जवाहरातों से जड़ा हुआ वस्त्र नवाब की सेवा में भेंट किया था।[5]

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ०- 492,
2. सौदा, मिर्जा मुहम्मद रफी- कुल्लियात-ए- सौदा-पृ०- 12,
3. दास ,हरचन, बहार-ए-गुलजार-ए- शुजाई-पृ०- 177,
4. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद, पृ०- 495,
5. उमर, डॉ० मोहम्मद, 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 495,

ईद का त्यौहार :

अवध के नवाब ईद का त्यौहार भी बड़े उत्साह के साथ मनाते थे । ईद के चाँद की घोषणा बन्दूके दाग कर की जाती थी तथा बिगुल और नगाड़े बजाये जाते थे । ईद के दिन सुबह प्रत्येक व्यक्ति नमाज के लिए जाने की तैयारी करने लगते थे और अवध के नवाब भी राजसी वैभव के साथ ईदगाह तक जाते थे । नवाब की सवारी के साथ अमीरों का समूह फौजी दस्ते, घुड़सवार और पैदल सभी लोग नए वस्त्रों में होते थे । नवाब के जुलूस में पचास जोड़े ऊँट जिन पर ऊँटवान के अतिरिक्त दो बन्दूकची भी होते थे जिनके वस्त्र बहुत साफ होते थे और सिर पर लाल तथा केसरिया रंग की पगड़ियाँ होती थीं । ऊँटों के बाद तोपखाने का दस्ता होता था जिनके वस्त्र नीले रंग के होते थे । इनके पीछे पैदल सैनिक होते थे जो लाल जैकेट और सिर पर चमड़े की टोपियाँ पहने होते थे और इन टोपियों पर सुनहरे तार से काम किया होता था । तत्पश्चात हाथी गाड़ियाँ होती थीं जिनमे से एक गाड़ी में नवाब सवार होते थे और दूसरी गाड़ियों में अमीर तथा दूसरे विशेष दरबारी होते थे । नवाब की सवारी गाड़ी में चार हाथी जुते होते थे, जिन पर मखमली चादर पड़ी होती थी । नवाब की गाड़ी के आगे पीछे घुड़सवार सैनिक होते थे । हरकारे सोने और चाँदी के दण्ड लिए हुए नवाब की सवारी के आने की घोषणा करते जाते तथा मार्ग साफ करते जाते थे । इस प्रकार नवाब

ईदगाह तक जाते और इसी प्रकार वापस आते थे ।[1] 18वीं शताब्दी के अवध के प्रख्यात लेखक हरचरन दास के अनुसार, ईद के त्यौहार के अवसर पर नवाब आसफउद्दौला गरीबों को मुक्त हस्त रूप से दान देते थे ।[2] ईदगाह से वापसी के पश्चात दरबार लगता और अमीर लोग शुभकामनाएँ तथा उपहार देते थे ।[3] सौदा ने ईद के अवसर पर शुजाउद्दौला तथा आसफउद्दौला की सेवा में कविता कही थी, इसके अतिरिक्त अमीर हसन रज़ा खाँ के भी नाम शुभकामना की कविता पढ़ी थी ।[4] ईद के दिन शाही हरम की स्त्रियाँ हरम की चहारदीवारी मे ही हर सम्भव खुशियाँ मनाती थीं । ईद के दिन महल की स्त्रियाँ उत्तम वस्त्र और आभूषण पहनती थी तथा सभी स्त्रियाँ एक दूसरे से गले मिल कर उन्हें बधाई देती थीं । महल की सेविकाओं तथा दीन-दुखियों को पुरस्कार प्रदान किया जाता । ईद के दिन नवाब की विशेष बेगमें अपनी सेविकाओं की भेंटें स्वीकार करती तथा उसके बदले में ईद की त्यौहारी के रूप में पुरस्कार देती थी ।[5]

ईदज्जुहा (बकरीद) -

ईद के दिन की भाँति ईदज्जुहा अर्थात् बकरीद के दिन भी

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन-बहार-ए-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान आफ इण्डिया- पृ0- 262,
2. दास, हरचरन, बहार-ए- गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 225,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद -- 18 वीं सदीमें हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 495,
4. सौदा, मिर्जा मुहम्मद रफी- कुल्लियात-ए- सौदा-पृ0- 4-8,
5. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन आन द मुसलमान ऑफ इण्डिया- पृ0- 192-93,

नवाब की सवारी बड़ी सजधज के साथ ईदगाह तक जाती और नमाज के बाद नवाब ईदगाह मे ही ऊँट की कुरबानी करता था और इसकी घोषणा तोप दाग कर की जाती थी ।[1] वापस आकर दरबार लगता था, भेंटें स्वीकार की जाती थी और कविताएँ पढ़ी जाती थी।[2]

जश्न-ए- शाबान :

जश्न-ए-शाबान का उत्सव इमाम हुसैन के जन्म दिन के अवसर पर मनाया जाता था । सर्वप्रथम यह उत्सव नवाब सआदत अली खान ( सन् 1798 ई0- सन 1814 ई0 ) ने 1212 हिजरी को शाबान की चार तारीख को मनाया था ।[3] नवाब वाजिद अली शाह नेभी अपनी कृति में इस उत्सव का वर्णन किया है।[4]

उपरोक्त उत्सव विशेषतः दरबारी उत्सव थे जो अधिकतर नवाबों तथा उच्च वर्ग द्वारा मनाए जाते थे । ईद तथा बकरीद अवध के सभी मुसलमान अपने आर्थिक स्तर के अनुरूप मनाते थे, पूरे अवध में इस इस अवसर पर नाच-गाने एवं उत्साह का वातावरण रहता था ।[5] ईद के दिन

1. रोज, सर ई डेनीसन- हिन्दू-मोहम्डन फियेट्स एण्ड फेस्टिवेल्स, पृ0-259,
2. रोज, सर ई0 डेनीसन -हिन्दू- मोहम्डनफियेट्स एण्ड, फेस्टिवेल्स, पृ0- 259,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ0- 499,
4. शाह, नवाब वाजिद अली- मसनवी वाजिद अली शाह-पृ0- 202-207,
5. अली- श्रीमती मीरहसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया- पृ0- 98,

लोग एक दूसरे के घर या तो नमाज के तत्काल बाद अथवा शाम को सुविधानुसार मिलने के लिए जाते थे। ईदुज्जुहा अर्थात् बकरीद के त्यौहार उच्च वर्ग की ही भांति मनाए जाते थे। अन्य त्यौहारों में मोहर्रम, चेहल्लुम, इमाम हुसैन का जन्म दिन, ईद-ए- गदीर, शब-ए- बारात, शाबान, हेलाल तथा बारावफात आदि त्यौहार मुसलमानों में प्रमुखता से मनाए जाते थे।[1]

मोहर्रम :

चूंकि अवध के नवाब शिया विचारधारा के अनुयायी थे और शिया मत के प्रचार तथा प्रसार हेतु प्रयत्नशील थे।[2] अतः इनके इस प्रयत्न से मोहर्रम के त्यौहार को बड़ी महत्ता प्राप्त हो गई थी और यह त्यौहार बड़े उत्साह व रूचि से मनाया जाता था।[3] हिन्दू भी इमाम हुसैन की याद में सम्मान और आदर प्रकट करते थे।[4] लकड़ी तथा कागज के ताबूत व ताजिये बनाये जाते थे। लखनऊ के ताजियों का रोचक वर्णन श्रीमती मीर हसन अली ने किया है इसके अनुसार, वहाँ के लोग अपने-अपने स्तर से भिन्न प्रकार के ताजिये बनाते थे अर्थात् चाँदी से लेकर लकड़ी और कागज तक के ताजिये बनते थे,

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 499,
2. कतील, मिर्जा, मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ०- 3, उर्दू अनुवाद- डॉ० मो० उमर ,
3. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 500,
4. खान, अमजद अली- तवारीख-ए- अवध का मुख्तसर जायजा- पृ०- 241,

इन ताजियों में बहुमूल्य ताजिये नही दफनाये जाते अपितु उन्हे अगले वर्ष के लिए सुरक्षित रख लिया जाता था । साधारण ताजिये मोहर्रम की दसवीं तारीख को कर्बला में दफन कर दिये जाते थे । साधारण ताजिये बाजार में दो-दो रूपये तक के मिल जाते थे ।[1] इन ताजियों के लोगों के दर्शनार्थ इमामबाड़ा में रख दिया जाता था।[2] फैजाबाद और लखनऊ में बहुत से इमामबाड़े थे ।[3] नवाब आसफउद्दौला नेभी एक इमामबाड़ा बनवाया था जो आज तक है ।[4] आशूरा के दिनों में इन इमामबाड़ो में अत्यधिक रोशनी की जाती थी । रोशन तथा कारचोबी के काम की वस्तुओं को इतने आकर्षक ढंग से सजाया जाता था कि देखने वालों की आँखे चकाचौंध हो जाती थी । "अलम" (झण्डों) के भारी-भारी पटकों की सजावट तथा उस पर सुनहरे काम और काँच की नक्काशीदार दीवारों की चमक से वातावरण अत्यधिक आकर्षक हो जाता था ।[5] मोहर्रम की सातवी तारीख को हजरत अब्बास की दरगाह में अलम चढ़ाये जाते थे ।[6] शाही इमामबाड़ों से जो अलम उठता था उसका जुलूस बड़ी शानौशौकत से उठता था । इस जुलूस में सबसे आगे छः

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया- प0-31,62, लतीफ, मिर्जा अली- तजकिरा गुलशन-ए-हिन्द पृ0-159, अली, मोहम्मद अहद- शबाबा-ए- पृ0- 145,
2. खान, नवाब मोहम्मद-मलफूज रजाकी-पृ0- 104,
3. मुसहफी, गुलाम हमदानी-उक्द सुरैया-पृ0-49, अली, मोहम्मद, अहद-शबाब-ए-लखनऊ -पृ0- 146,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ-तवारीख-ए-अवध-भाग-3 पृ0-296-297, लन्दनी ,अबू तालिब-तफजीहुल गाफलीन-पृ0- 112-113, अली, मोहम्मद अहद-शबाब-ए- लखनऊ-पृ0- 146,
5. अली, मोहम्मद अहद-शबाब-ए-लखनऊ-पृ0- 146,
6. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया- पृ0-21-22, अली, मोहम्मद अहद-शबाब-ए-लखनऊ-पृ0- 36-38,

सात हाथी होते थे जिन पर झूले पड़े होते थे । इन हाथियों की गरदनों में घंटे और साँकले लटकती होती थी । हर एक हाथी पर कुछ लोग "अलम" हाथों में लिए सवार होते थे और उनके साथ सिपाहियों का एक दस्ता होता था। हाथियों के पीछे एक व्यक्ति विशेष रूप से दुखी मुद्रा में होता था । उसके हाथ में बाँस की एक बड़ी डण्डी काले कपड़े से ढकी होती थी । उस डण्डी पर एक उल्टी कमान मे दो नंगी तलवारें लटकती रहती थी , उसके पीछे बादशाह स्वयं होते थे । उनके पीछे "दुलदुल का घोड़ा"[1] होता था, जिसके पैर तथा पेट के अगल बगल वाले भाग को लाल रँग से रँग दिया जाता था तथा उसका शरीर तीरों से छिदा हुआ दिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त उसकी पीठ पर कीमती चमकता हुआ "चारजामा" । जीन। कसा होता था। घोड़े का सारा सामान सोने और चाँदी का होता था तथा उसकी जीन पर एक अरबी अमामा[2], धनुष तथा तीरो से भरा हुआ तरकस रख दिया जाता था । इसके पीछे शाही सेवक चलते थे तथा शाही सेवकों के पीछे अपार जनसमुदाय चलता था ।[3] सातवीं तारीख को इमाम कासिम के विवाह की स्मृति में एक भव्य जुलूस निकलता था, जो मेहदी का जुलूस कहलाता था । इस जुलूस में विवाह से सम्बन्धित मेंहदी की कई थालियाँ के अतिरिक्त मिठाइयाँ, मेवे, चमेली के फूलों का हार, तथा अन्य प्रकार के फूलों के हार होते थे, जिनके नीचे आतिशबाजियाँ छिपी होती थी ,थालियों में रख कर निकाला जाता था । इस अवसर पर

---

1. "दुलदुल" उस विशेष घोड़े का नाम है जिस परहजरत इमाम हुसैन बैठते थे- शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 236,
2. अरबी अमामा- अरब निवासियों द्वारा पहनने वाला चोगानुमा सफेद वस्त्र/ शरर, अब्दुल हलीम गुजस्ता लखनऊ, पृ0- 236,
3. अली, मोहम्मद अहद- शबाब-ए- लखनऊ-पृ0- 150-55,

एक ताजिया भी निकाला जाता था । इसके साथ चाँदी की पालकियाँ भी होती थी जिनमें शाही परिवार की स्त्रियाँ या अमीरों के घरों की स्त्रियाँ होती थी । इन सवारियों के पीछे एक बैण्ड होताथा ।[1] मोहर्रम की दसवीं तारीख को सभी ताजियों को बड़ी धूमधाम से और बाजे-गाजे के साथ कर्बला ले जाया जाता था । इस अवसर पर "अन्तिम संस्कार" की सारी रस्में अदा की जाती थी ।[2] बहुमूल्य ताजिये इमामबाड़े में लाकर सुरक्षित रख लिए जाते थे ।[3] किन्तु साधारण ताजियों को सभी भेंटो और फूलों के हारों के साथ दफना दिए जाते थे ।[4] अपने घरों को वापस आने के बाद यह लोग दीन-दुखियों को भोजन, रुपया, वस्त्र, आदि दान के रूप में बाँटते थे, यहाँ तक कि मोहर्रम के समय पहना जाने वाला वस्त्र भी दान में बाँट देते थे ।[5]

मोहर्रम प्रारम्भ होने पर आशूरा तक प्रतिदिन इमामबाड़ों में दो बार ताजियों के सामने मजलिसे हुआ करती थी । अवध के नवाब स्वयं काले रंग के मातमी वस्त्र पहन कर और सिर पर मोर के परों का ताज

---

1. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया-पृ0- 42-54, अली, मोहम्मद अहद-शबाब-ए-लखनऊ-पृ0-150-155,
2. लतीफ, मिर्जा अली, -तजकिरा-ए-हिन्द-पृ0-159-अली श्रीमती मीर हसन आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया-पृ0- 46-51,
3. अली, श्रीमतीमीर हसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया-पृ0- 32-36,
4. अली, मोहम्मद अहद- शबाब-ए-लखनऊ-पृ0- 157,
5. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0-155, अली, मोहम्मद अहद शबाब-ए- लखनऊ-पृ0- 156, अली, श्रीमती मीर हसन आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान आफ इण्डिया-पृ0- 52-53,

रख कर मर्सिया पढ़ने वालों के सामने बैठते थे । उनके पीछे बड़ी संख्या में सरकारी सेवक दो पंक्तियों में बैठते थे और वाकयानवीस कर्बला की घटना का वर्णन करते थे । श्रोतागण शान्त मे बैठे हुए ध्यान पूर्वक सुनते और सुनतेही उनके हृदय दुःखी होने लगते और वे दहाड़ें मार-मार कर रोने लगते । ऐसी स्थिति में श्रोतागण हसन या हुसैन का नारा लगाते और अन्त में सभी लोग अपनी छाती पीटते थे । मजलिस के समापन पर श्रोताओं को शर्बत पिलाया जाता था ।[1] शाही बेगमों में इमामबाड़े महल के अन्दर ही पृथक-पृथक होते थे तथा उनकी मजलिसों में स्त्रियाँ हदीस का वर्णन करती और मर्सिया पढ़ती थीं, इन मजलिसों में भी स्त्रियाँ छाती पीटतीं और हसन या हुसैन के नारे लगाती थीं ।[2] मर्सियों को धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो जाने के कारण मर्सिया लिखने की भी कला का बहुत विकास हुआ, तथा इसके विकास में मीर अनीस तथा मिर्जा दबीर ने इस कला को उच्च सीमा पर पहुँचा दिया । इसके अतिरिक्त 18 वीं शती के अंतिम दशक और 19 वीं शती के पूर्वार्द्ध में मीर-अली, मियाँ दिलजगी, आगा मोहम्मद, नदीम आदि ने भी मर्सिया के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।[3] मिर्जा मोहम्मद रफी सौदा, गुलाम हमदानी मुसहफी, मियाँ जाफर अली हसरत, शेख कलन्दर बख्श जुर्रत, मिर्जा कदा अली कदा, शेखुल्लाह सिकन्दर, सैय्यद एहसान हसन, मौखूफ आदि भी 18 वीं शती के अन्तिम दशक में और 19 वीं शती के पूर्वार्द्ध

---

1. बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख-ए- फरहबख्श-पृ0-53, अंग्रेजी अनुवाद विलियम हई,
2. अली, मोहम्मद अहद- शबाब-ए- लखनऊ-पृ0- 148,
3. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 8,
   रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तारीख-ए-अवध भाग 3, पृ0- 35 .1,

में अवध में उपस्थित थे और जो मर्सिया लिखते भी तथा कहते भी थे ।[1] मर्सियाख्वानी के पश्चात " फातिहा" की रस्म अदा की जाती थी जिसके अन्तर्गत रेवड़ी, इलायचीदाना तथा शरबत आदि को ताजियों के समक्ष रख कर फातिहा दिया जाता था। [2] इसके अतिरिक्त अलमों के सामने हलवे से भरे थाल रखे जाते थे । दूसरे दिन यह हलवा दीन-दुखियों में बाँट दिया जाता था, साथ ही आशूरा मोहर्रम के दिनों में पका हुआ भोजन भी निर्धनों में बाँट दिया जाता था।[3] 18 वीं शताब्दी के अवध के विद्वान एवं "बहार-ए- गुलजार-ए-शुजाई" नामक ग्रंथ के लेखक हरचरन दास ने स्वयं पैंतालिस वर्षों तक मिर्जा हुसैन अली खान के इमामबाड़े में भोजन बाँटने की सेवाएँ की थी ।[4] इसके अतिरिक्त मोहर्रम के दिनों में शर्बत की सबीले [5] लगाई जाती थी।[6]

मुसलमानों के लिए विशेष रूप से शिया समुदाय के लिए आशूरा मोहर्रम के दिन, शोक के दिन होते थे । इन दिनों वे भोग- विलास से दूर साधारण जीवन व्यतीत करते थे । वह बिना बिस्तर की चारपाई पर सोते थे तथा भोजन भी बिल्कुल सादा करते थे, जैसे जौ की रोटी , उबले चावल, और :

---

1. मुसहफी, गुलाम हमदानी-दीवान-ए- मुसहफी-पृ0- 130,
2. देहलवी, शाह अब्दुल अजीज-रिसाला ताजियादारी-पृ0-10,
3. दास, हरचरन, बहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0-246-247,
4. दास, हरचरन-बहार-ए-गुलजार-ए- शुजाई-पृ0- 247,
5. सबील-मोहर्रम के अवसर पर लोगों को निःशुल्क शर्बत पिलाने की व्यवस्था होती थी , इसे ही सबील कहा जाता है।
6. खान, अमजद अली- तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0-241,

उबली दाल आदि। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी अपने आभूषण उतार देती तथा मिस्सी और सुरमा तथा पान आदि का प्रयोग नहीं करती थी । मोहर्रम की दसवीं तारीख को लोग नंगे सिर और नंगे पाँव ताजियों के साथ कर्बला तक जाते थे ।[1] बादशाह भी अपनी क्षमता के अनुसार शोक मनाते थे, किन्तु इसके लिए किसी के साथ जोर जबरजस्ती नहीं की जाती थी।[2] परन्तु फिर भी यदा-कदा मोहर्रम के अवसर पर शिया और सुन्नी संघर्ष हो जाते जिसमें अनेकों लोग मारे जाते ।[3]

फैजाबाद और लखनऊ के अतिरिक्त अवध के अन्य भागों में भी मोहर्रम धूम धाम से मनाया जाता था । जार्ज फोर्स्टर ने इलाहाबाद में मोहर्रम मनाए जाने का वर्णन किया है,[4] इलाहाबाद के अतिरिक्त बिलग्राम में भी मोहर्रम पूर्ण श्रद्धा के साथ मनाया जाता था।[5] ताजियादारी अधिकांशतः शिया ही करते थे । धार्मिक प्रकृति के सुन्नी मुसलमान ताजियादारी नहीं करते थे किन्तु मजलिसों मे जाते थे और दुःख भी प्रकट करते थे । इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के सुन्नी मुसलमान बड़े उत्साह से ताजियादारी भी करते थे, परन्तु इन लोगों की ताजियादारी हिन्दुओं की भाँति होती थी जो अपनी बिरादरी में दिखावे के लिए ताबूत बनाते थे । इस अवसर पर शिया लोग काले, नीले या हरे वस्त्र पहनते थे अतः ताजियादारी करने

---

1. अली, मोहम्मद अहद-शबाब-ए-लखनऊ-पृ0- 148-149,
2. खान, अमजद अली- तवारीख-ए-अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0-241,
3. अली, मोहम्मद अहद- शबाब-ए- लखनऊ-पृ0- 156,
4. फोर्स्टर, जार्ज-ट्रैवल्स इनइण्डिया-पृ0- 88,
5. हम्जा, सैय्यद -कासिफुल अस्तार-पृ0- 368, कलेक्शन-अब्दुल सलाम अलीगढ़ मुस्लिम, विश्वविद्यालय ।

वाले सुन्नी मुसलमान भी अपने बच्चों को हरे कपड़े और हरी लाल डोरियाँ पहनाते थे । शहरों के अतिरिक्त कस्बों में भी ताजियादारी होती थी ।[1] मिर्जा कतील ने यह लिखा है कि, कुछ कस्बों में यह भी प्रथा थी कि, आशूरा के दिनों में निम्न वर्ग की स्त्रियाँ नए कपड़ें पहन कर ताजियादारों के साथ नगर से बाहर जाती थी और उन ताजियों को दफन करते समय एक दूसरे के गले में हाथ डाल कर रोती थी ।[2] कभी-कभी इन जुलूसों में इतनी उत्तेजना रहती थी कि, लोग बड़ी संख्या में घायल हो जाते या मर भी जाते थे । एक बार इस अवसर पर सात सौ लोगों की मृत्यु हो गई थी ।[3]

चेहल्लुम :

मोहर्रम की दसवी तारीख के बाद चालीसवें दिन चेहल्लुम ,की रस्में अदा की जाती थीं । यह प्रथा ठीक उसी प्रकार अदा की जाती थी जिस प्रकार किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद अदा की जाती थी । इसके अन्तर्गत मातम मनाये जाते थे और अलम निकाले जाते थे ।[4]

इमाम हुसैन का जन्म दिवस समारोह :

अवध के प्रारम्भिक नवाबों के काल मे यह उत्सव नही होता था

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0-155-167-उर्दू अनुवाद डॉ0 मो0 उमर।
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0- 169, अनु अनुवाद, डॉ0 मो0 उमर,
3. दास, हरचरन-चहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 192,
4. अली, श्रीमती मीर हसन-आब्जरवेशन ऑनन्द मुसलमान ऑफ इण्डिया-पृ0-99-100,

लेकिन नवाब सआदत अली खान के युग में । सन् 1795 ई0- सन् 1814 ई0। इमाम हुसैन के जन्म दिन पर एक जश्न भी होने लगा था। इस अवसर पर दरबार में एक विशेष समारोह आयोजित होता था। नवाब के अमीर तथा अधीनस्थ कर्मचारी नवाब को भेंट देते बदले में नवाब उन्हें पुरस्कार प्रदान करते थे ।[1]

ईद ए गदीर[2]

लखनऊ में ईद ए गदीर का भी उत्सव मनाया जाता था ।[3] इस अवसर पर इंशा उल्ला खाँ ने शहजादा सुलेमान शिकोह की सेवा में एक कविता भी प्रस्तुत की थी।[4]

शब-ए-बारातः

अवध के मुस्लिम समाज में शब-ए-बारात का त्यौहार भी अत्यन्त उत्साह और धूमधाम से मनाया जाता था।[5] इस त्यौहार का रोचक विवरण श्रीमती मीर हसन अली ने अपनी पुस्तक में किया है, इनके अनुसार, इस रात को

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 536,
2. "गदीर" एक स्थान है जहाँ हजरत मोहम्मदसाहब अन्तिम बार हज करने के बाद लौटते समय वहाँ ठहरे थे और हजरत अली की सार्वभौमिकता की घोषणा की थी और यह कहा था कि अली और मेरे में कोई अन्तर नही है - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 536,
3. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए- आजायब-पृ0- 11,
4. इंशा, इंशा उल्ला खाँ -कुल्लियात-ए-इंशा-पृ0- 419,
5. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 537,

प्रत्येक व्यक्ति को कर्म का लेखा-जोखा खोला जाता था और उसके भाग्य का निर्णय किया जाता था । इस दिन स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ तैयार करके मृतात्माओं की शान्ति के लिए अलग-अलग फातिहा दी जाती थी, इसके बाद हर एक के नाम का भाग उसकी कब्र पर रख दिया जाता था और जो लोग कब्र पर भोजन नहीं रख पाते थे वह फातिहा के भोजन को दीन दुखियों में बाँट दिया करते थे । इन खाद्य-पदार्थों में कभी भी माँस नहीं पकाया जाता था अपितु भिन्न-भिन्न प्रकार के मीठे पकवान, मीठे चावल तथा रोटियाँ बनवाई जाती थी । इसके अतिरिक्त इस अवसर पर आतिशबाजी एवं अन्य प्रकार के मनोरंजन प्रबन्ध होता था।[1] धार्मिक विचार धारा के व्यक्ति इस रात्रि को अपने पापों के प्रायश्चित करने के लिए प्रार्थना करते थे । यह दिन इमाम मेंहदी के जन्म दिन होता था इसलिए शिया लोग इस त्यौहार को बड़ी श्रद्धा और भक्ति से मनाते थे । इसके अतिरिक्त यह लोग इमाम हसन और हुसैन को याद करते तथा उनके दुःखों की स्मृति में दुःख प्रकट करते तथा अंतिम नबी तथा इमामों को याद करते । यह सभी प्रथाएँ शब-ए-बारात की रात को ही अदा होती थी।[2]

शाबान :

शाबान के अवसर पर नाव की भाँति लकड़ी का ढाँचा बनाया जाता था । रंगीन मलमल, या रेशमी जरी के सुनहरे तथा चाँदी के काम किए हुए

---

1. अली, श्रीमती, मीर हसन-आब्जरवेशन ऑनद मुसलमान ऑफ इण्डिया-पृ0- 302,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 587,

कपड़ो से, जिनके किनारों पर सुन्दर तथा जरी के काम किए हुए कागज की गोट लगी होती थी, ढक दिए जाते थे । उस नाव में मिट्टी के दिए जलाए जाते थे । इस नाव को "इलियास। एक पैगम्बर। की नाव" के नाम से पुकारते थे और एक बड़े जुलूस के रूप में नदी तक ले जाते थे । जैसे-जैसे यह जुलूस के रूप में नदी तक ले जाते थे । जैसे-जैसे यह जुलूस नदी के किनारे होता जाता इसको देखने वालों की भीड़ बढ़ती जाती थी । बड़ी धूमधाम से यह नाव पानी में छोड़ दी जाती थी । इसी के साथ इस उत्सव का भी समापन हो जाता था ।[1]

हेलाल :

यह त्यौहार प्रत्येक पूर्णमासी के दिन मनाया जाता था। नवाबों तथा अमीरों के यहाँ इस अवसर पर तोपे दागी जाती थी ।[2] धार्मिक व्यक्ति उस दिन विशेष रूप से स्नान आदि करके नए वस्त्र पहनते और तोपें दागने के बाद कुरान का पाठ करते । तत्पश्चात लोग दर्पण में पूर्ण चाँद को देखते और खुशियाँ मनाते, मिष्ठान बाँटते तथा एक दूसरे को शुभकामनाएँ देते थे ।[3]

बारावफात -

बारावफात का त्यौहार अवध में फैजाबाद और लखनऊ के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी मनाया जाता था जैसे बिलग्राम में । इस त्यौहार

1. मुशहफी, गुलाम हमदानी-दीवान-ए- मुशहफी-ए- मुशहफी- पृ0- 91,
2. मुशहफी, गुलाम हमदानी- दीवान-ए-मुशहफी-पृ0- 292,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद- पृ0- 540,

पर दीन-दुखियों को भोजन कराया जाता था तथा प्रार्थनाएँ करते थे ।[1]

हिन्दू त्यौहार -

18 वीं शताब्दी के अवध में मुस्लिम त्यौहारों की, भाँति हिन्दुओं के भी त्यौहार अत्यन्त उत्साह और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में मनाए जाते थे । इन त्यौहारों में हिन्दुओं के साथ मुसलमान भी बड़ी उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे । जैसे- बसन्त, होली, दशहरा, दीपावली, रक्षाबन्धन एवं कृष्ण जन्माष्टमी इत्यादि । "बसन्त" का उत्सव अवध की सामान्य पूजा ही नहीं वरन् अवध के नवाब भी बड़ी उत्साह से मनाते थे और लाखों रूपया खर्च करते थे । बसन्त के दिनों में हिन्दू तथा मुसलमान सभी पीले वस्त्र पहनते थे तथा खुशी और आनन्द के गीत गाते थे । इसके अतिरिक्त हजारों की संख्या में एकत्र होकर शहर से बाहर जाकर पतंग उड़ाते और पंतगबाजी की प्रतियोगिताएँ आयोजित करते थे ।[2] "होली" का त्यौहार हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही संयुक्त रूप से मनाया करते थे । मीर तकी मीर ने होली के त्यौहार पर दो मसनवियों की रचना की है, जिनमें नवाब आसफउद्दौला के दरबार में होली मनाए जाने का रोचक विवरण प्रस्तुत किया है । मीर की दोनो मसनवियाँ नवाबी शानौशौकत तथा विलासिता को भी अभिव्यक्त करती है उसका एक उदाहरण-

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी मे हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0- 541,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0- 93, अनुवाद-डॉ0 मोहम्मद उमर,

प्रस्तुत है -

" कुमकुमे जो मारते भर कर गुलाल,
जिसके लगता आकर फिर मुँह है लाल ।
बर्ग-ए-गुल मिलो उड़ाते थे अबीर
थी हवा में गर्द सा चर्ख अबीर ।।[1]

यह मसनवी अवध में होली की लोकप्रियता प्रकट करती है । मिर्जा कतील ने लिखा है कि, होली के अवसर पर मुसलमानों के घरों के सामने भी नाच गाना होता था । नवाब आसफउद्दौला के युग में लखनऊ में अत्यन्त उत्साह से होली मनाई जाती थी, सारा दिन रँग और अबीर तथा गुलाल का प्रयोग होता रहता था और रात्रि में स्त्रियों का नृत्य होता था, इसके अतिरिक्त नदी के किनारे रोशनी और आतिशबाजी होती थी जो बहुत ही आकर्षक होती थी ।[2]

होली के अतिरिक्त दशहरे का भी त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था । शहजादा सुलेमान शिकोह दशहरे के उत्सव में बड़ी उत्साह और रूचि से भाग लेते थे ।[3] दशहरे के दिनो में हिन्दुओं की भाँति मुस्लिम समुदाय के भी लोग बड़ी खुशियाँ मनाते थे । मुसलमान अमीरों के लिए दशहरे के दिन यह आवश्यक होता था कि उस दिन वह अपने हाथियों और घोड़ों को मेंहदी और दूसरे रँगो से रँग कर सोने तथा चाँदी के चमकीले वस्त्रों से

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीरका अहद-पृ०- 698,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ०- 92-98, अनुवाद -डॉ० मो० उमर,
3. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 700,

सुसज्जित सोने-चाँदी के हौदे पर बैठ कर शाही वैभव के साथ नगर का भ्रमण करें और दीन-दुखियों को पुरस्कार वितरित करे । तत्पश्चात शहर के बाहर जा कर नीलकण्ठ के दर्शन करें, तथा शाम को घर वापस लौट कर नृत्य एवं गायन की महफिल आयोजित करते थे ।[1] हिन्दू बालकों की भाँति मुसलमान बालक भी दशहरे से दस दिन पूर्व मिट्टी की एक मूर्ति बना लेते तथा इसे लकड़ियों पर लटकाते थे, इसका नाम " टेसू राय" होता था । शाम के समय कुछ बालक तथा जवान मिल कर अपने रिश्तेदारों के दरवाजों पर विशेष रूप से आनन्द के गीत गाते थे और लोगों से चन्दा। दान। माँगते थे तथा इस चन्दे से जो धन एकत्र होता उससे दशहरे के दिन मिष्ठान खरीद कर आपस में बाँट लेते थे । दशहरे के अन्तिम दिन "टेसूराय" को निशान झण्डों, और नक्कारों के साथ बाहर निकालते थे और बड़ी शानोशौकत से एक जुलूस के रूप मेंनदी की ओर ले जाते तथा नदी में बहा कर वापस आ जाते थे ।[2] अवध में " दीपावली" के दिनों में हिन्दुओं की भाँति जो मुसलमान जुआँ खेलने से परहेज रखते थे वह अपने घरों में रोशनीकरते थे । दीपावली की रात्रि में औरतें सभी बच्चों के नाम से अलग-अलग मिट्टी के खिलौने मँगवाती तथा बाँटती थी । तत्पश्चात पहले पूरे घर में दीपक जलाती थी तत्पश्चात उस स्थान पर दीपक जलाती थी, जहाँ मँगवाए गए खिलौनें तथा मिठाइयाँ रखी होती थी, इस प्रथा को " दीवाली भरना"

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद- पृ०- 702,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ०- 86-87- अनुवाद, डॉ० मो० उमर,

कहते थे ।[1] हिन्दुओं की भाँति अवध के अनेक मुसलमान वर्ग में भी रक्षाबन्धन का त्यौहार प्रचलित था और मुसलमान औरतें अपने भाइयों को राखियाँ बाँधती थी और यह उत्सव मनाती थी ।[2] इसके अतिरिक्त अवध में श्री कृष्ण जन्माष्टमी का त्यौहार भी हिन्दू तथा मुसलमान मिल कर मनाते थे, इस अवसर पर कंस की एक मूर्ति बनाकर उसके पेट में शहद भर देते और इसके बाद चाकू से उसके पेट को फाड़ देते थे, काटने पर जो शहद निकलता उसे रक्त समझ कर पीते थे ।[3] इस प्रकार मुस्लिम समुदाय के लोग अवध में त्यौहार तथा उत्सव मनाते थे । हिन्दू समुदाय भी अपने परम्परागत त्यौहारों को बड़े उत्साह से मनाता था ।

अवध के लोकप्रिय मेले :

त्यौहारों की भाँति अवध में लगने वाले मेलों में भी हिन्दू मुसलमान सभी बड़ी उत्साह के साथ भाग लेते थे । अवध राज्य के अन्तर्गत अयोध्या मे एक बहुत बड़ा मेला लगता था जिसमें हिन्दुओं के साथ-साथ हजारों की संख्या में मुसलमान भी भाग लेते थे ।[4] अयोध्या में ही " सावन का झूला मेला" श्रावण मास तृतीया का मणिपर्वत के मेले से

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ0-86-87-अनुवाद - डॉ0 मो0 उमर,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद, 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 703,
3. मुसहफी, गुलाम हमदानी-दीवान-ए-मुसहफी-पृ0- 18-19,
4. उमर, डॉ0 मोहम्मद 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात , मीर का अहद-पृ0- 697,

प्रारम्भ होता था। इस उत्सव में एक विशेष समुदाय के लोग मूर्तियों के स्थान पर बालकों को राम व सीता का स्वरूप बना कर झूलों पर बिठाते तथा झुलाते थे। ग्रामों व नगर के हजारो नरनारी उनके चरणों की रज को अपने मस्तक से लगा कर अपने को पापों से मुक्त मानते थे। विद्वानों का मत है कि, यह परम्परा कृष्ण भक्ति के प्रभाव में पड़ी तथा पनपी।[1]
अवध के प्रख्यात शॉयर मीर हसन देहल्वी ने अवध के मेलों का रोचक विवरण अपनी कृतियों में किया है, मिर्जा कतील ने भी लखनऊ के कुछ मेलों का वर्णन किया है जिसमे हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों के भी भाग लेने का उल्लेख किया है। मिर्जा कतील ने " मियाँ फतहअली के तालाब" पर लगे मेले तथा मेला "हनुमान सूरज कुण्ड" और गोमती नदी के तट पर लगने वाले मेलों का वर्णन किया है, जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान सभी शामिल होते थे।[2] एक समकालीन पुस्तक" शहर-ए-आशूब" में लखनऊ के प्राचीन जलसे " खास बाग", "जर्द कोठी", " रहस मंजिल, और " बेतकल्लुफ मजलिस " इत्यादि मेलों का रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त समकालीन लेखक मिर्जा कमालुद्दीन हैदर ने अपनी पुस्तक में " कैसरबाग" के प्रसिद्ध मेले का भी वर्णन किया है, जिसमें नवाब वाजिद अली शाह स्वयं कृष्ण बनते और सुन्दर स्त्रियाँ गोपियाँ बनती।[4] इस प्रकार अवध में लगने वाले मेलों में अवध के प्रत्येक वर्ग के लोग भाग लेते थे। जैसा कि कर्नल

---

1. अमृत-प्रभात" दैनिक समाचार पत्र, इलाहाबाद- 19 जुलाई 1987-पृ0-6,
2. बख्श, मोहम्मद फैज-तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-53,
3. सिद्दीकी अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 40,
4. हैदर, मिर्जा कमालुद्दीन - कैसरुत्तवारीख-पृ0- 107-भाग-2,

स्लीमन भी लिखते है कि, कभी ताजियादारी, मुहर्रम, कभी रोशनी, हिन्दू त्यौहार यह सभी दक्षिण तथा मध्य भारत के हिन्दू राज्यों के समान लगते थे, किन्तु कट्टर मुस्लिम वर्ग के लोग यह सब पसन्द नहीं करते थे ।[1]

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द-वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन पृ0- 21-उद्धृत कर्नल स्लीमन की डायरी,

अध्याय-6

## 18 वीं शती के अवध की धार्मिक स्थिति -

### मुस्लिम समाज की धार्मिक दशा -

नवाब सआदत खाँ बुरहानुल्मुल्क का जब अवध में पदार्पण हुआ तो उनके साथ उनका धर्म एवं उनकी संस्कृति भी अवध आ गई जो मूलतः शिया मत एवं शिया संस्कृति थी । इस प्रकार नवाब बुरहानुल्मुल्क और उसके उत्तराधिकारियों ने भी शिया मत के विकास का प्रयत्न किया और नवाबों के प्रभाव से बहुत से सुन्नी मुसलमानों ने भी शिया मत अपना लिया जैसे अमीर मदारुद्दौला मीर युसुफ के पूर्व सुन्नी थे किन्तु नवाब बुरहानुल्मुल्क के प्रभाव से शिया हो गए ।[1] डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार नवाब सआदत खाँ बुरहानुल्मुल्क को सुन्नी मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं पर अधिक विश्वास था और उसने अनेक हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त कर रखा था । जब नवाब सआदत खाँ आगरा के गवर्नर थे तो उसने नीलकण्ठ नागर को अपना सहायक नियुक्त किया था, इसी प्रकार नवाब का वित्त मंत्री भी आत्माराम नामक एक हिन्दू था । इस प्रकार नवाब बुरहानुल्मुल्क के शासन काल में सुन्नी मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू और शियाओं को ही उच्च पद प्राप्त होते थे ।[2] यही स्थिति अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग की थी । नवाब सफदरजंग ने भी अपने

---

1. उमर, डा० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात-मीर का अहद-पृ०- 645,
2. श्रीवास्तव, डा० आशीर्वादी लाल - द फर्स्ट टू नवाब्स ऑफ अवध-पृ०- 79,

युग मे इटावा के निवासी कायस्थ नवलराय को अपना मुख्य सहायक नियुक्त किया, इसके साथ ही नवाब ने शिया मौलवियों को भी राज्याश्रय प्रदान किया था।[1] तत्पश्चात तृतीय नवाब शुजाउद्दौला ने भी शिया मत से निरन्तर प्रोत्साहन देते रहे। वह सैय्यदों का बड़ा आदर करते थे और उन्हें पुरस्कृत करते थे। नवाब शुजाउद्दौला बड़े उत्साह से ताजियादारी भी करते थे और कभी-कभी स्वयं ताबूत अपने कंधों पर उठा कर इमामबाड़े तक ले जाते था। वह मोहर्रम के दिनों में काला वस्त्र पहनते थे। मातम तथा मोहर्रम के दिनों में नवाब काला वस्त्र पहनते थे और शोक मनाते थे।[2] यहाँ तक कि यात्रा और रणभूमि के समय भी मोहर्रम के सभी नियमों का पालन करते थे। उदाहरणार्थ- पानीपत के तृतीय युद्ध के समय (सन् 1761-62 ई०) रणभूमि में ही नवाब शुजाउद्दौला ने ताजियादारी की सभी प्रथाओं को पूर्ण किया था।[3] रूहेलों तथा नवाब शुजाउद्दौला के मध्य संघर्ष का एक प्रमुख कारण यह था कि रूहेला सुन्नी विचारधारा के थे तथा शक्तिशाली थे और कभी भी अवध राज्य को क्षति पहुँचा सकते थे। इस प्रकार नवाबों के संरक्षण में अवध में शिया मत फलता फूलता रहा।[4] नवाब शुजाउद्दौला के बाद नवाब आसफउद्दौला ने भी शिया मत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नवाब आसफउद्दौला

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 645.
2. दास, हरचरन-बहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-पृ०- 192.
3. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध-पृ०- 56.
4. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद, पृ०- 648.

का सहायक हसन रजा खाँ भी धार्मिक व्यक्ति था, जिसके प्रभाव से हजारों सुन्नी परिवार शिया हो गए । इसी काल में शाह अली अकबर चिश्ती मौदूदी के परामर्श और मुल्ला मुहम्मद अली फैजाबादी के प्रयत्नों से नवाब हसन रजा खाँ ने सर्वप्रथम मौलवी सैय्यद दिलदार नसीराबादी के पीछे 13 रज्जब 1200 हिजरी सन् 1786 ई0, को शुक्रवार की नमाज जमात [1] में पढ़ी थी । इसी दिन से शियाओं ने अपनी जुमे की नमाज अलग कर ली था ।[2] नवाब आसफउद्दौला भी इतनी जोर-जोर से अपनी छाती पीटते थे कि कभी-कभी उसमें से रक्त बहने लगता था ।[3] नवाब आसफउद्दौला मोहर्रम के अवसर पर लाखों रूपया खर्च करते थे ।[4] मोहर्रम की मजलिसों के लिए नवाब ने एक इमामबाड़ा भी बनवाया था जहाँ आज भी धूमधाम से मजलिसें होती है और बड़ी शानोशौकत से इमामबाड़े को सजाया जाता है । नवाब आसफउद्दौला ने दो लाख रूपये के दो शीशे के ताजिये इंग्लैण्ड से मँगवाये थे ।[5] इस तथ्य से यह ज्ञात होता है कि नवाब आसफउद्दौला की ताजियादारी के प्रति गहन रूचि थी । बहू बेगम भी वार्षिक ताजियादारी की मजलिसें करती थी और फातिहा पढ़ती थी ।[6] नवाब सआदत अली खाँ भी अपनेपूर्ववर्ती नवाबों की भाँति शिया मत के विकास

---

1. जमात-एक साथ पंक्तियों में नमाज पढ़ना जमात कहा जाता है।
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद-पृ0- 649,
3. दास, हरचरन -चहार-ए- गुलजार-ए- शुजाई -पृ0- 254,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ -तारीख-ए-अवध-पृ0- 1,
5. लन्दनी, अबू तालिब- तफ्जीहुल गाफलीन- पृ0- 115,
6. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए- फरहबख्श-पृ0- 293, अंग्रेजी अनुवाद- विलियम हई,

में सहयोग देते रहे । मिर्जा कतील, जो पहले सुन्नी विचारधारा के थे तथा बाद में शिया हो गए थे, यह लिखते है कि सआदत अली खाँ के युग में यमीनउद्दौला नाजिमुल्मुल्क तथा प्रसिद्ध सन्त मिर्जा मोहम्मद हुसैन कर्बला से अवध आए थे ।[1] नवाब सआदत अली खान स्वयं ताजियादारी व मजलिस का प्रबन्ध करते थे, और लोगों को निमंत्रित करते थे ।[2] नवाब सआदत अली खाँ ने हजरत अब्बास की दरगाह का निर्माण करवाया और इस प्रकार हजरत अब्बास के प्रति अपनी श्रद्धा का परिचय दिया ।[3] नवाबों की इस श्रद्धा के परिणामस्वरूप आम जनता की भी इसमें बहुत रूचि हो गई थी, इस दरगाह के सम्बन्ध में गुलाम अली नकवी ने लिखा है कि, लखनऊ का मिर्जा फकीर बेग नामक एक व्यक्ति रूस्तम नगर में रहता था, उसके पास एक अलम था जिसके सम्बन्ध में उसने यह प्रचारित कर रखा था कि, यह अलम हजरत अब्बास का है । इसलिए बहुत से लोग उसके दर्शन को आते थे और उसकी दक्षिणा से उसका प्रतिदिन का दैनिक व्यय आराम से चलने लगा ।[4] इस घटना से यह ज्ञात होता है कि, उस समय अवध में भी अनेक पाखण्डी लोग भी होते थे जो धन के लिए धर्म का सहारा लेते थे । नवाब गाजीउद्दीन की बेगम ने तो बाकायदा इमाम मेहदी की छठी की रस्म प्रारम्भ की थी ।[5] जिससे ज्ञात होता है कि शासक वर्ग

---

1. कतील, मिर्जा, मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ०- 3, उर्दू अनुवाद- डा० मोहम्मद उमर,
2. कतील- मिर्जा मोहम्मद हसन-रूक्कात-ए-मिर्जा कतील-पृ०- 52,
3. उमर, डा० मोहम्मद उमर- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 668,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध-पृ०- 168,
5. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए- अवध-पृ०- 168,

भी धार्मिक अंधविश्वास से मुक्त नही था। नवाब अमजद अली शाह अत्यन्त धार्मिक प्रकृति के नवाब थे उसके समय में राज्य का नियंत्रण उल्मा वर्ग के हाथ में चला गया था। नवाब वाजिद अली शाह भी शिया धर्म के प्रति पूर्ण रूप से निष्ठावान रहे ।[1]

इस प्रकार अवध के नवाबों के प्रयत्नों से शिया मत लखनऊ की संस्कृति का एक प्रमुख अंग बन गया था ।[2] अवध के नवाबों के अधीन हिन्दू और सुन्नी अमीर उमरा भी ऊपरी तौर से इसमे रूचि रखने लगे और बहुतो ने तो ताजियादारी भी शुरू कर दी जैसे- ख्वाजा ऐनद्दीन अंसारी, जो बरेली का सूबेदार था सुन्नी होने के बावजूद ताजियादारी करता था तथा मोहर्रम की दसवी को अपने तमाम धन, नगद रूपया इत्यादि कर्बला के शहीदों के नाम दान में दे देता था ।[3] इसके अतिरिक्त बुन्देलखण्ड के लगभग सभी सुन्नी मुसलमान ताजियादारी करते थे ।[4] इसी प्रकार झाऊ लाल नामक एक हिन्दू अमीर भी बड़ी श्रद्धा से ताजियादारी की सभी रस्में अदा करता था ।[5] इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि, हिन्दू जनता भी ताजियादारी करती थी और मुसलमानो की देखा-देखी वह भी अपने दरवाजों

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 678,
2. सिद्दीकी, अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ०- 28,
3. रामपुरी नजमुल गनी खॉ- तवारीख-ए- अवध पृ०- 153,
4. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 670
5. बख्श, मोहम्मद फ़ैज- तारीख-ए- फरहबख्श-पृ०- 256, अंग्रेजी अनुवाद- विलियम हई,

पर ताजिया रखाते थे।[1] इसके अतिरिक्त नवाब के सभी सैनिक चाहे वह शिया हो या सुन्नी सभी ताजियादारी करते थे।[2]

अवध के नवाबों के समर्थन और प्रोत्साहन के कारण शियाओं का प्रभाव बहुत बढ़ गया। उदाहरणार्थ - एक प्रसिद्ध विद्वान मुल्ला अब्दुल अली बहरूल उलूम लखनवी का शियाओं ने इतना प्रताड़ित किया कि, उन्हें लखनऊ ही छोड़ना पड़ा।[3] ऐसी ही घटना मुल्ला हसन फिरंगीमहल के साथ भी हुई। नवाब शुजाउद्दौला के काल में जब शियाओं ने अवध के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र फिरंगीमहल के विद्वानों को प्रताड़ित करना शुरू कर दिया तो मुल्ला हसन कुछ लोगों को लेकर नवाब के पास आए और उनसे यह शिकायत की कि, लखनऊ के अधिकारी गण और शियाओं को परेशान करते है। परन्तु नवाब शुजाउद्दौला ने उनकी प्रार्थनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तत्पश्चात मुल्ला हसन ने लखनऊ ही छोड़ दिया।[4] इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि अवध के नवाबों का शिया मत के प्रति ही झुकाव अधिक रहा। इस प्रकार नवाबों के प्रोत्साहन से शिया मत विकसित होता रहा और जिन शहरों में शिया कभी नहीं रहते थे

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ0-156, उर्दू अनुवाद- डा0 मोहम्मद उमर,
2. उमर, डा0 मोहम्मद- 18 वीं सदी मेंहिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद-पृ0- 670,
3. अली, रहमान - तजकिरा-उल्मा -ए- हिन्द-पृ0- 122,
4. बख्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0- 38, अंग्रेजी अनुवाद- विलियम हई,
   मआरिफ मैगजीन, नवम्बर 1970-पृ0- 58-59,

या बहुत कम थे उन शहरों या स्थानों पर शियाओं की संख्या में तीव्रता से वृद्धि हुई । उदाहरणार्थ- " अमरोहा" " हरदोई" बिलग्राम" आदि।[1] "अमरोहा" के पास " नौगांवा" मे बाबा फरीद गंजेशकर के भान्जे तथा दामाद सैय्यद बदरूद्दीन इशहाक के वंशज रहते थे, यहाँ पहले एक भी शिया नहीं थे, लेकिन 18 वीं शताब्दी के अंतिम दशक तक कुल मुस्लिम जनसंख्या के नब्बे प्रतिशत लोग शिया हो गए थे । स्वयं" अमरोहा" में हजरत शाह शरफुद्दीन खान विलायती के परिवार के अधिकांश सदस्य शिया हो गए जो पहले कट्टर सुन्नी थे ।[2]

अवध में अधिकांश मुसलमान मजारों की पूजा भी करते थे । कुछ बुजुर्गों की तो मजार ऐसी थी जहाँ स्थानीय मुसलमान ही आते थे परन्तु कुछ मजारों पर तो काफी दूर-दूर तक के लोग आते थे ।[3] उदाहरणार्थ - सैय्यद सालार मसूद गाजी की मजार पर प्रतिवर्ष एक बड़ा मेला लगता था जिसमें काफी दूर-दूर से लोग आते थे ।[4] मकनपुर मे एक शाह मदार की मजारथी जहाँ पर हर वर्ष एक बड़ा मेला लगता था जिसमे आजाद बिलग्रामी और अनेक उल्मा आते थे । कभी-

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ०- 674,
2. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ०- 674,
3. अली, श्रीमती मीर हसन- आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान ऑफ इण्डिया- पृ०- 19,
4. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात -ए- इंशा-पृ०- 86,

कभी लोग अपने पुत्रों के नाम भी शाह मदार के नाम पर रखते थे। शाह अब्दुल रज्जाक बाँसवी के एक रिश्तेदार का नाम शेख मदारी था।[1] इस प्रकार प्रत्येक कस्बे में किसी न किसी सूफी की कब्र अवश्य होती थी जिन्हे मख्दूम साहब कहा जाता था।[2] पीर अशरफ सलोनी के मुरीद अपने पीर की महत्ता को बढ़ाने के लिए " तूती"[3] नामक चिड़िया खरीद कर उसे "पीर अशरफ" का नाम रटा कर रायबरेली के पास" सलोन" के जंगलों में छोड़ दिया जाता था जो वृक्षों की टहनियों पर बैठ कर "पीर अशरफ-पीर अशरफ" की रट लगाती, जिससे जंगल से गुजरने वाले यात्री, पीर अशरफ" की महत्ता से परिचित होजायें, और "तूती" द्वारा पीर अशरफ की रट लगाना उनका चमत्कार समझें और वह पीर में विश्वास करने लगे।[4]

लखनऊ में " शाह मीना कामजार" भी बहुचर्चित था और वहाँ लोग बड़ी संख्या में दर्शन के लिए जाते थे।[5] इसी प्रकार बिलग्राम में "ख्वाजा इमदाद उद्दीन बिलग्रामी," मीर अब्दुल वाहिद" मीर अब्दुल जलाल" बरकत उल्लाह" और बीवी खुर्द" के मजारों पर दर्शन करने वालों की भारी भीड़ होती थी।[6] खैराबाद में शेख सादउद्दीन खैराबादी की मजार

---

1. खान, नवाब मोहम्मद-मलफूज रजाकी-पृ०- 138,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ०- 168,उर्दू अनुवाद-डॉ० मोहम्मद उमर,
3. तूती - "तूती" एक प्रकार की चिड़िया होती थी जिसे बचपन से पाल कर तोते की भाँति सिखाया जाता था।
4. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा-पृ०- 168-69,उर्दू अनुवाद - डॉ० मोहम्मद उमर,
5. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात,मीर का अहद-पृ०- 672,
6. जलील,मीर अब्दुल-मसनवी मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी पृ०- 75-उर्दू अनुवाद मुँशी नवल किशोर,

पर भी एक बड़ा मेला लगता था ।[1] नवाब सआदत अली खाँ भी हजरत अब्बास की दरगाह में बड़ी श्रद्धा से जाते थे । नवाब की इतनी श्रद्धा के कारण आम जनता भी दरगाह में भेंट चढ़ाने लगी । नवाब वाजिद अली शाह ने अपनी एक कविता में हजरत अब्बास की दरगाह के मेले का तथा शाही परिवार की स्त्रियों का इस मेले में जाने तथा भेंट चढ़ाने का वर्णन किया है ।[2]

इस प्रकार अवध में सूफियों की खनकाहों और बुजुर्गों की मजारों पर मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दुओं का भी एक बड़ा समूह एकत्रित होता था । सैय्यद सालार मसूद गाजी, हजरत जहाँगीर समनानी, शाह मदार, शाह मीना आदि की मजारों पर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही जाते थे ।[3] हिन्दुओं का एक वर्ग तो हजरत शेख अब्दुल कादिर जीलानी के नाम की ताबीज अपने बच्चों को पहनाते तथा फातिहा भी कराते । कुछ लोग शाह मदार के नाम की चोटी रखते थे । शाह मदार के शिष्य गाँव-गाँव में उपस्थित थे । यह हिन्दुओं से कहते थे कि, राम, कृष्ण, शिव सभी शाह मदार के रूप है तथा मुसलमानों से कहते थे कि मुर्तजा हसन हुसैन सभी शाह मदार के नाम है । निम्न श्रेणी के मुसलमान और

---

1. जलील, मीर अब्दुल मसनवी मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी -पृ0-75 उर्दू अनुवाद मुंशी नवल किशोर ,
2. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ तवारीख-ए-अवध-पृ0- 301,
3. रिजवी, अतहर अब्बास- सूफीज्म इनइण्डिया-पृ0- 102

हिन्दू शेख सद्दू की भी पूजा करते थे तथा उनके नाम से बकरा काटते थे।[1] 13 वीं शती के अवध में जिन्दापीरों के स्थान पर मृत पीरों पर लोगों का अधिक विश्वास था और अवध के प्रत्येक कस्बे में किसी न किसी बुजुर्ग की मजार थी बहुत से सुन्नी भी दरगाहों पर जाने लगे थे। इन दरगाहों पर नवाबों, अमीरों और दरबारियों से लेकर ग्रामीं तक के लोग आने लगे थे।[2] इस प्रकार यद्यपि मजारों की पूजा आदि करना धर्म के विरुद्ध था लेकिन फिरभी बड़ी संख्या में लोग मजारों की जियारत करते थे।

अवध की विचारधारा, दर्शन एवं साहित्य यद्यपि ईरानी प्रभाव से प्रभावित थी किन्तु सर्वाधिक महत्व पूर्ण प्रभाव सूफियों का पड़ाथा जो भारतीय संस्कृति के स्वभाव से मेल खाता था। इसी लिए यहाँ इसका बहुत सम्मान हुआ और यहाँ के बुद्धिजीवी वर्ग पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था फारसी शायर रूमी, जासी, खुसरो, हाफिज आदि ने मध्यकाल में तसव्वुफ (दर्शन) पर अलग-अलग विचार प्रस्तुत किए थे।[3] अवध के उपनगरों में इन सूफियों की बड़ी-बड़ी खनकाहें तथा धार्मिक केन्द्र थे जो सूफी दर्शन के प्रमुख केन्द्र थे।[4] परन्तु 18 वीं शताब्दी के अवध में सामाजिक पतन के कारण सूफियों में भी पतन होने लगा। यद्यपि तसव्वुफ

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 678,
2. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद, पृ०- 679,
3. रिज्वी, अतहर अब्बास-सूफीज्म इन इण्डिया-पृ०- 104-5,
4. रिज्वी, अतहर अब्बास- सूफीज्म इन इण्डिया-पृ०-104-5,

। सूफी दर्शन। का प्रभाव अभी भी था और लोगों के धार्मिक विचार किसी न किसी सूफी विद्वानों से सम्बन्धित थे, किन्तु 18 वीं शताब्दी में यह मात्र चिल्ला-कशी, जिक्र-ए-जहर-शमा, दरगाहों पर रोशनी चादर चढ़ाना, औरतों की भीड़, सिजदा, पैरों का चूमना आदि में उलझ कर रह गया और वास्तविक स्वरूप में अच्छे सुधार की संभावनाएँ क्षीण हो गईं। इसमें भी समाज की अन्य रस्मों की भाँति बनावटी और दिखावटी पन आ गया तथा उसकी मौलिक शिक्षाओं को छोड़कर उसमें भीवर्ग भेद की भावनाएँ आ गईं तथा समाज सेवा के स्थान पर अपनी सेवा कराने लगे, सादगी छोड़ कर शानौशौकत से अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इस प्रकार अवध की विभिन्न खनकाहों मे सूफी मत एक बीमार मरीज की भाँति दम तोड़ रहा था। किन्तु कुछ सुधारक इसके दोषों को दूर करने का भी प्रयत्न कर रहे थे। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध विद्वान शाह वली उल्लाह तथा उनके परिवार ने एक सुधारवादी आन्दोलन चला कर पुनः धार्मिक वातावरण बनाने का प्रयत्न किया।[1] शाह वली उल्लाह अत्यन्त धार्मिक प्रकृति के एक प्रसिद्ध संत थे जिन्होनें वहाँ के मुसलमानों में दीन और इस्लाम के माध्यम से उनके धार्मिक जीवन और चरित्र को सुधारने का प्रयत्न किया। मिर्जा कतील के विवरणों से ज्ञात होता है कि, 18 वीं शताब्दी के अन्त तथा 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवध में मुसलमानों के धार्मिक जीवन

---

1. बारी, सैय्यद अब्दुल-लखनऊ के शेरो अदब का मआशिरी व शकाफती, पसमंजर-पृ0- 114.
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद, पृ0- 709,

को सुधारने का कार्य शिया आलिमों ने किया ।[1] 18 वीं शताब्दी में अवध में कुदरत-उल-उल्लाह इलाहबादी, शाह अब्दुल जलाल , सैयुयद शाह मक्की , शेख मख्दूम -उल- मुल्क, ख्वाजा युसुफ, मुल्ला, मुहम्मद अली, अली, इमाम खान, मीर मोहम्मद सालेह, सनाउल्लाह , मौलाना अबुल खैर, मौलाना, मोहम्मद अस्करी, तथा सैयुयद मोहम्मद हुसैन आदि प्रमुख सूफी सन्त तथा विद्वान थे, जिन्होंने अवध में धार्मिक दशा के सुधार का प्रयत्न किया था।[2]

अवध में सूफी मतों में कादिरिया, चिश्तिया, और सोहरावर्दिया महत्वपूर्ण सम्प्रदाय थे । यद्यपि इन तीनों के रीति -रिवाजों में विरोधाभास था किन्तु इनका आध्यात्मिक बनी रही, मुसलमानों मे यह धारणा बनी रही कि, हिन्दू योगियों कीभांति सूफी भी अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करके चमत्कार करते थे और जो जितना अधिक चमत्कार करता था, वह उतना अधिक श्रेष्ठ संत समझा जाता था । 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शाह वली उल्लाह ने अपने सुधारों से लोगों को शरा के अनुसार चलने तथा इस्लाम धर्म तथा उसकी सादगी से उन्हें परिचित कराने का प्रयत्न किया। शाह वली उल्लाह ने सामाजिक बुराइयों के प्रति संघर्ष प्रारम्भ किया और कुरान की शिक्षाओं तथा उनके विचारों को प्रचारित किया । परन्तु शाह वली उल्लाह अपने उद्देश्य में सफल न हो सके और मुसलमान समाज में अंध विश्वास तथा व्यक्ति पूजा होती रही वे मजारों तथा दरगाहों पर सिजदें करते रहे तथा मन्नतें मागते रहे, ताबीज और गण्डों के द्वारा बीमारियां

1. उमर, डा0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर काअहद, पृ0- 709,
2. वर्मा, वीरेन्द्र कुमार- सूबा इलाहाबाद-पृ0- 199,

ठीक कराने के दावे किए जाने लगे, लोग भूतप्रेत पर विश्वास करने लगे।[1] मुस्लिम संस्कार जो पहले सादगी से सम्पन्न होते थे, अब स्थानीय प्रभाव से बनावटी तथा दिखावटी हो गए।

हिन्दू जनता की धार्मिक स्थिति :

अवध में बनारस और अयोध्या जैसे पवित्र नगर हिन्दुओं के धार्मिक केन्द्र थे और साधु सन्तों के बड़े-बड़े मठ वेद पाठन तथा संस्कृत विद्या के प्रमुख केन्द्र थे। अयोध्या के तीन मील पश्चिम ही अवध की राजधानी फैजाबाद थी। अयोध्या में शाही खर्च पर कुछ मन्दिरों का भी निर्माण किया गया, तथा अन्य मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया गया। उदाहरणार्थ अवध के द्वितीय नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग के दीवान राजा नवलराय ने अयोध्या में " नागेश्वर नाथ महादेव " का वर्तमान मन्दिर बनवाया। इसके अतिरिक्त नवाब शुजाउद्दौला ने प्रसिद्ध महात्मा अभयराम द्वारा अपने मरणासन्न शहजादे को ठीक करने के उपलक्ष्य में " हनुमान गढ़ी के निर्माण का आदेश दिया जो नवाब आसफउद्दौला के प्रधानमंत्री टिकयतराय के प्रबंध से परिपूर्ण हो गई। इसी प्रकार " त्रेता के ठाकुर जी" के मन्दिर का जीर्णोद्धार नवाब सआदत अली खाँ के आदेश से हुआ था, और उसमें मूर्तियाँ स्थापित की गईं[2] अयोध्या में हिन्दू धर्म के अनेक पंथ और समुदाय थे, जैसे- नाथ पंथ, परनामी, शाक्त, गोसाईं, सन्यासी तथा शिवनारायन आदि।[3] अयोध्या जैनियों

---

1. बारी, डॉ० सैय्यद अब्दुल- लखनऊ के शेरो अदब का मआशिरी व सकाफ्ती, पसमंजर-पृ०- 122.
2. राम, श्री अवधवासी सीता- अयोध्या का इतिहास-पृ०- 42-43.
3. वर्मा, वीरेन्द्र कुमार- सूबा ऑफ इलाहाबाद-पृ०- 144.

के लिए भी बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, यह पाँच जैन तीर्थंकारों की जन्मभूमि मानी जाती है और उन्हीं के नाम से पाँच मंदिर अयोध्या में विद्यमान है। आदिनाथ का मंदिर, अजितनाथ का मन्दिर, अभिनन्दन नाथ का मंदिर में तीर्थंकारों के चरण चिन्ह बने हैं और इनके दर्शन के लिए दूर-दूर से जैनी आया करते थे ।[1] अयोध्या का बौद्ध धर्म से भी अटूट सम्बन्ध है, भगवान बुद्ध ने यहाँ बहुत दिनों तक निवास किया और यही रहते हुए अंजन बाग में उपदेश दिया ।[2] अयोध्या में "बैरागी" लोग भी बड़ी संख्या में रहते थे और हनुमान गढ़ी उनका प्रमुख केन्द्र था ।[3] यहाँ बैरागी लोगों का सुव्यवस्थित संगठन था जो सात अखाड़ों में विभक्त थे - 1- दिगम्बरी अखाडा" दिगम्बर का अर्थ " निर्वस्त्र" होता है, इस अखाड़े के लोग निर्वस्त्र रहते थे । इस अखाड़े केमूल पुरूष बलरामदास जी थे जो लगभग दो सौ वर्ष पूर्व 18 वीं शता दी के पूर्वार्द्ध में अयोध्या आए और एक मन्दिर बनवा कर यहीरहने लगे । इस अखाड़े के पास प्रचुर मात्रा में धन था तथा इसे सरकारी सहायता भी मिलती थी । 2- निर्वाणी अखाड़ा- यह अखाड़ा सबसे बडा था और इसके अधिकार में "हनुमान गढ़ी" था यह भी धनी अखाडा था। 3- निर्मोही अखाड़ा- इस अखाड़े में मूल पुरूष जयपुर निवासी महात्मा गोविन्द दास जी थे । 4- खाकी अखाड़ा - नवाब शुजाउद्दौला के समय में चित्रकूट के एक साधु दयाराम जी अयोध्या आए और उन्होंने इसकी अखाड़ा"हनुमान गढ़ी" के दक्षिण में है । 5- निरालम्बी अखाडा- इसकी स्थापना कोटा के महात्मा बीरमल दास जी ने नवाब शुजाउद्दौला के ही काल में की थी । 6- संतोषी अखाड़ा- इसके संस्थापक [illegible] रती राम जी थे । 7- महानिर्वाणी अखाडा- इस अखाड़े के मूल पुरूष बाबा पुरुषोत्तम दास जी थे

1- राम, श्री अवधवासी सीता-अयोध्या का इतिहास पृ0-113-114
2- राम, श्री अवधवासी सीता-अयोध्या का इतिहास-पृ0-114
3- राम, श्री अवधवासी सीता- अयोध्या का इतिहास-पृ 114-15

और कोटा से आकर नवाब शुजाउद्दौला के ही काल में इसकी स्थापना की थी ।[1] इन अखाड़ों के सात कर्तव्य थे - मठ-मंदिर की रक्षा करना, पर्वों पर बहू बेटियों की, बच्चों और वृद्धों की रक्षा करना, विधर्मियों के आक्रमणों से तीर्थ स्थलों की रक्षा करना, डाकू लुटेरों से वैयक्तिक और सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना, विभिन्न पर्वों पर भण्डारे करना तथा कुम्भ स्नान कर सर्वांगीण रक्षा करना, निशान अर्थात् कपि ध्वजा की रक्षा करना, सम्पूर्ण वेश की मर्यादा की रक्षा करना । इसके अतिरिक्त इन अखाड़ों के सात अधिकार भी थे - धाम क्षेत्र पर अधिकार, जगद्गुरू रामानंदाचार्य की चरणपादुका पर अधिकार अस्त्र शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार, अखाड़े के महन्त के निर्वाचन में भाग लेना, देवोत्तर तथा धर्मोत्तर पर अधिकार, स्नानार्थियों से भिक्षा प्राप्त करना तथा जनता से भिक्षा प्राप्त करने का अधिकार । सन्तोषी अखाड़े वालों ने स्नानार्थियों से तथा जनता से भिक्षा प्राप्त करने का अधिकार स्वेच्छा से छोड़ दिया था।[2] यद्यपि ये अखाड़े अलग-अलग रहते थे किन्तु ये उत्सवों तथा पर्वों में साथ-साथ ही चलते थे और इनका एक निश्चित क्रम रहता था जैसे- पहले दिगम्बरी तत्पश्चात निर्वाणी दाहिनी ओर , निर्मोही बाईं ओर तथा निरालम्बी बाईं ओर, उनके पीछे निर्मोही , और उनके पीछे सन्तोषी तथा महानिर्वाणी अखाड़े के लोग होते थे । अयोध्या के वैष्णव बैरागी भगवान राम के अनन्य भक्त

---

1. राम, लाला सीता- श्री अवध की झाँकी- पृ0- 16-17,
2. राम, लाला सीता- श्री अवध की झाँकी - पृ0- 17,

तथा बहुत ही त्यागी और संयमी होते थे ।[1] इन अखाड़ों में प्रवेश के लिए एक निश्चित नियम होता था । इन अखाड़ों में प्रवेश सोलह वर्ष की आयु में होता था किन्तु ब्राह्मणों और राजपूतों के लिए यह बन्धन नहीं था । प्रथम अवस्था में शिष्य को " छोरा" कहते थे, इसे तीन वर्ष तक मन्दिर और भोजन के छोटे बर्तन धोने होते थे, लकड़ी लाना होता था और पूजापाठ करना होता था। द्वितीय, अवस्था भी तीन वर्ष की होती थी, जिसमे उसे "बन्दगीदार" कहते थे । इसमे उसे कुएँ से पानी लाना पड़ता था, बड़े-बड़े बर्तन धोने पड़ते थे तथा पूजा आरती भी करनी पड़ती थी । तृतीय अवस्था भी तीन वर्ष की होती थी जिसमें इसे "हुड़दंगा" कहते थे, इस अवस्था में उन्हें मूर्तियों को भोग लगाना पड़ता था, दोपहर के भोजन का वितरण करना पड़ता था तथा निशान या मन्दिर की पताका ले जाना होता था। तत्पश्चात् चेला उस अवस्था में जाता था जिसे " नागा" कहते थे । इस अवस्था में वह अयोध्या छोड़कर अपने साथियों के साथ भारत के समस्त तीर्थ -स्थलों का भ्रमण करने जाता था । इस अवस्था में वह मृत्यु पर्यन्त रहता था । इस अवस्था में सिवाय पूजा पाठ के कुछ नहीं करना पड़ता था । इस संगठन में उच्च तथा निम्न सभी वर्गों के लोग होते थे ।[2]

वैरागियों के अतिरिक्त भी अन्य सम्प्रदाय अवध में उपस्थित थे । 18 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अवध में राम भक्तों का एक सम्प्रदाय " पलटूदासी" प्रचलित हुआ, जिसके संस्थापक, स्वामी पलटूदास जी थे ।[3]

---

1. राम, श्री अवधवासी सीता-अयोध्या का इतिहास-पृ0- 46-47,
2. चतुर्वेदी परशुराम-भारतीय संतो की परम्परा-पृ0- 174,
3. चतुर्वेदी, परशुराम- भारतीय संतों की परम्परा-पृ0- 145,

वे लोग एक दूसरे का अभिवादन " सत्य राम" कह कर करते थे, अर्थात्
" राम ही सत्य है" । यह सम्प्रदाय अवध में राम नवमी मनाने के लिए हर वर्ष
एक भव्य मेला का आयोजन करता था।[1] राम भक्तों का एक ऐसा ही
सम्प्रदाय 18 वीं शताब्दी में उभरा जिसका नाम " अप्पापंथी" था तथा
इसके संस्थापक मुन्ना दास राम भक्त थे जो जाति के स्वर्णकार थे ।[2] इसी
काल में जगजीवन दास जी ने एक संप्रदाय की स्थापना की जिसका नाम
"सतनामी संप्रदाय" था। इसके सदस्य उत्तरभारत के व्यापक देश से आए
थे । यह सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त हुआ था । गृहस्थ अपनी ही जाति से
रहते थे किन्तु सन्यासियों की कोई जाति नही होती थी ।[3]

इस प्रकार अवध में विभिन्न सम्प्रदाय के लोग रहते थे जो समाज
के लिए एक आदर्श और पूज्य समझे जाते थे किन्तु 18 वीं शताब्दी के पतनोन्मुख
सामाजिक वातावरण का प्रभाव इस पर भी पड़ा । अब तपस्या का अर्थ शरीर
को निरूदेश्य तकलीफ देना ही सीमित रह गए थे ।[4] लेकिन फिरभी बैरागियों
ने कुछ हद तक लोगों में नैतिकता लाने तथा सामाजिक सुधार का प्रयत्न
किया ।[5]

इस प्रकार यद्यपि अवध के नवाब शिया थे और शिया मत को
प्रोत्साहन देते थे परन्तु अवध के नवाब धर्मान्ध न थे और न ही किसी शासक

---

1. चतुर्वेदी, परशुराम-भारतीय संतो की परम्परा-पृ0- 149,
2. चतुर्वेदी, परशुराम-भारतीय संतो की परम्परा-पृ0- 152
3. पुरी, चोपड़ा, दास- भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास-पृ0- 122,
4. बारी, डॉ0 सैयद अब्दुल -लखनऊ के शेरो अदब का मआसिरी व सकाफती पसमंजर-पृ0- 137,
5. राम, लाल सीता-अयोध्या का इतिहास-पृ0- 18,

ने बलपूर्वक अपनी प्रजा का धर्मपरिवर्तन करने का प्रयत्न किया । नवाब आसफउद्दौला के समय में इतना अवश्य हुआ कि, शाह अली अकबर चिश्ती मोहूदी के परामर्श और मुल्ला मोहम्मद अली फैजाबादी के प्रयत्नों से 13 रजब 1200 हिजरी अर्थात् सन् 1786 ई0 को शियाओं ने अपनी जुमा की नामज पृथक कर लिया ।[1] लेकिन इस घटना से किसी धर्म व सम्प्रदाय के लोगों या सल्तनत के प्रशासन पर कोई प्रभाव नही पड़ा । अवध में नवाबी राज्य की स्थापना के पूर्व भारत में "मातम" मनाने का आम प्रचलन था। यहाँ तक कि, शिया, सुन्नी और हिन्दू भी मोहर्रम के दिनों में दरगाह सैयदुल शोहदा में "खिराज-ए-अकीदत" पेश करते थे । बाबर, हुमायूँ अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब के राज्यकाल में भी "मातम" मनाया जाताथा ।[2] लेकिन नवाब आसफउद्दौला के युग मेंमोहर्रम का स्वरूपबदल गया । क्योंकि इस कालमें मोहर्रम के अत्यधिक शोकपूर्ण भावना के साथ मनाया जाता था । इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के साथ भी कोई कठोर व्यवहार नही होता था और हिन्दू त्यौहार होली, दीपावली, बसन्त, आदि शाही संरक्षण में मनाए जाते थे । जैसा कि, कर्नल स्लीमन यह लिखते है कि, कभी ताजियादारी, कभी मुहर्रम, कभी रोशनी , कभी हिन्दू त्यौहार - ये सभी दक्षिण तथा मध्य भारत के हिन्दू राज्यो के समान है।[3] यद्यपि कट्टर मुसलमान यह सब पसन्द

---

1. रिज़्वी, अतहर अब्बास- शियाइज्म इन इण्डिया-पृ0- 158,
2. रिज़्वी, अतहर अब्बास- शियाइज्म इन इण्डिया-पृ0- 160,
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य कापतन- पृ0- 21,

नही करते थे । लेकिन अवध के नवाबों ने कभी भी हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव नही किया । नवाब शुजाउद्दौला ने धर्म के प्रति अपने विचार प्रस्तुत करते हुए यह कहा कि मेरी प्रजा में सभी मजहब के लोग है, शासक को यदि न्यायोचित शासन करना है तो उसका कोई मजहब नही होना चाहिए तथा धर्म का शासन में कोई हस्तक्षेप नही होना चाहिए तथा एक संप्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय से विशिष्ट नही समझना चाहिए ।[1] इस प्रकार कुछ उदाहरणों को छोड़कर नवाबी का धार्मिक दृष्टिकोण सामान्य रूप से उदार था। अंत में लेखक अमज अली खाँ का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि, नवाब-ए-अवध की फैय्याजियों, कद्रदानियों, खाँदारियों, काविशों, और आला नज्म नक्श के तरीकों ने इल्म व फुनून में कमाल, उठने-बैठने का तरीका, अदब व ताजीम की पाबंदी, बजे कता की दिलकशी, जबान व शायरी के शौक, मजहबी आजादी के साथ जबरदस्त कौमी एकता, दिलों में वतन परस्ती का जज्बा और हर चीज में मुफासत व लताफत पैदा कर दी जिसके नतीजे में एक नई तहजीब का जन्म हुआ जो गंगा-जमुनी तहजीब कहलाई । इस जमाने में ऐसा मजहबी समाज शायद ही दुनिया के किसी भाग में हो ।[2]

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द -वाजिद अली शाह औरअवध राज्य का पतन- पृ04-15
2. खाँ, अमजद अली तवारीख-ए-अवध का मुखतसर जायजा-पृ0- 240-42.

## भाग - दो

## 18 वीं शताब्दी में अवध की संस्कृति

अध्याय - 1

## 18 वीं शताब्दी के अवध में भाषा एवं साहित्य का विकास :

### भाषा का विकास -

अवध की राजधानी लखनऊ की प्रधान भाषा उर्दू ही थी ।[1] और लखनऊ के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों की भाषा अवधी थी । किन्तु अवधी भाषा अभी पूर्णता पर नहीं थी जब कि शाही संरक्षण और प्रोत्साहन के कारण उर्दू भाषा लखनऊ में पूर्णता पर पहुँच गई थी ।[2]

बोलचाल का ढंग और वार्तालाप सामाजिक रीति-रिवाज कामहत्वपूर्ण अंग है । प्रत्येक विकसित और सभ्य समाज अपनी भाषा में विकास करता है । कुछ इसी प्रकार की स्थिति उर्दू की भी थी । कुछ विद्वान उर्दू भाषा की उत्पत्ति बृजभाषा से तथा कुछ पंजाबी से और कुछ फारसी व हरियाणवी से घोषित करते है ।[3] जिस प्रकार प्रत्येक भाषा कीउत्पत्ति और विकास में बहुत समय लगता है, और उस भाषा पर तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषाओं का भी प्रभाव पड़ता है । उसी प्रकार उर्दू भाषा का भी उत्पत्ति और विकास में अनेक प्रवाहों का समावेश है ।

भारत में मुस्लिम शासन स्थापित होने के साथ ही भारतीय भाषाओं में फारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग होने लगा था ।[4] फलतः

---

1. लखनऊ गजेटियर-पृ0- 86,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस ऑफ ओरियंटल कल्चर-पृ0-82, अंग्रेजी अनुवाद-डॉ0 ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
3. सक्सेना, रामबाबू-ए-हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0-219,
4. सन्दीलवी , डॉ0 शुजाअत अली- तआरफ-ए-तारीख-जबान-ए-उर्दू-पृ0- 15,

देशी और विदेशी भाषा के आदान-प्रदान से एक नई भाषा का विकास होने लगा, जिसे अमीर खुसरो ने हिन्दवी अथवा देहलवी भाषा का नाम दिया । इस नवीन भाषा के विकास में सूफी सन्तों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया ।[1] अमीर खुसरो की रचनाओं और इन सूफी सन्तों द्वारा अपने उपदेशों तथा कृतियों में हिन्दवी के प्रयोग से हिन्दवी अर्थात् उर्दू भाषा का प्रचार एवं प्रसार दिल्ली ही नहीं वरन् सुदूर क्षेत्रों में भी फैल गया ।[2] सूफी सन्तों के अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने भी उर्दू के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।[3] अकबर के काल तक आते आते हिन्दवी को लोग रेख्ता के नाम से जानने लगे ,[4] और अब यह बोलचाल की सीमा पार कर भाषा की सीमा में प्रविष्ट हो चुकी थी । शाहजहाँ और औरंगजेब के काल तक रेख्ता पूर्ण रूप से विकसित हो गई थी ।[5] कालान्तर में नादिर शाह के आक्रमण के पश्चात जब दिल्ली वीरान हो गई तब प्रान्तीय शासकों ने कवियों तथा साहित्यकारों को संरक्षण देना प्रारम्भ किया, और इनमें अवध के शासकों की कलाप्रियता एवं साहित्यक रूझान के कारण तत्कालीन कवि तथा साहित्यकार और विद्वान अवध आने लगे और इन्होंने अवध मे ही रह कर अपनी कृतियों के

---

1. चटर्जी, डॉ० एन०के० - दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ दि बंगाली, लैंग्वेज-पृ०- 12,
2. सुल्ताना, डॉ० राफिया- उर्दू नस्त्र का आगाज और इरतका-पृ०- 47,
3. हुसैन, डॉ० युसूफ- ग्लिम्पसेस आफ मेडिविल इण्डियन कल्चर-पृ०- 108,
4. सक्सेना , डॉ बनारसी प्रसाद- हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ आफ देहली- पृ०- 254 ,
5. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ:द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ०- 200, अनुवाद ई०एस० हारकोर्ट , फाकिर हुसैन,

द्वारा उर्दू भाषा का विकास करना प्रारम्भ किया।[1]

किसी भी भाषा को अच्छी सुसंस्कृत भाषा तभी हम कह सकते हैं जब वह अप्रिय एवं व्यर्थ के शब्दों से मुक्त हो । यदि कभी कड़वी विषय पर कोई बात कहना आवश्यक हो तो उसे इस प्रकार कहना चाहिए कि दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचे, और उसे सभ्य तथा मधुर भाषा में ही करना चाहिए । मौलाना अब्दुल हलीम शरर के अनुसार, अन्य देशों के लोग जब लखनऊ के निवासियों से बात करते थे तो उनकी बुद्धिमत्ता से प्रभावित हो जाते थे ।[2] अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि, लखनऊ के निवासी विशेष कर शिक्षित व्यक्ति इस कला में पारंगत थे । लखनवी निवासियों द्वारा विनम्र और परिष्कृत भाषा का प्रयोग उनकी प्रधान विशेषता थी ।

लखनऊ के बोलचाल की भाषा वहाँ के साहित्यक प्रभाव को इंगित करती है, क्योंकि यहाँ के संबोधन का तरीका अन्य देशों से भिन्न था । लखनवी भाषा में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि जब एक व्यक्ति अपने से बड़े के साथ या विद्वान के साथ बात कर रहा हो तो उसे प्रत्येक शब्द और वाक्य में आदर दिखाना चाहिए तथा अपनी आवाज को उसी प्रकार मधुर आवाज में बात करना चाहिए । इसी प्रकार जब एक वृद्ध व्यक्ति

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 200.
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 200 अंग्रेजी अनुवाद-ई0 एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन

अपने से छोटे और एक श्रेष्ठ व्यक्ति अपने से नीचे और एक विद्वान जब एक अशिक्षित व्यक्ति से बात करता है, तो उसे दयालुता तथा त्यागपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना चाहिए । इन सब बातों का ध्यान रखते हुए लखनऊ के निवासियों ने अत्यन्त परिष्कृत और विनम्र भाषा का विकास किया । और यही कारण है कि, अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा लखनऊ के निवासी अच्छी उर्दू भाषा बोलते थे ।[1]

लखनऊ के अतिरिक्त अवध के अन्य क्षेत्रों के निवासियों की साधारण बोलचाल की भाषा अवधी थी जो पूर्वी हिन्दी भाषी और बिहार के पश्चिमी भोजपुरी से मिलती जुलती है, जो पूर्वी परगना की मुख्य भाषा है, फैजाबाद में और मुसलमानों में साधारणतः उर्दू या पश्चिमी हिन्दी भाषा प्रायः प्रयुक्त होती थी । 19 वीं शती के उत्तरार्ध में हुई जनगणना के अनुसार 68.9% लोग अवधी बोलते थे, 26.1% निवासी भोजपुरी बोलते थे । यद्यपि यह आंकड़े 19 वीं शती के उत्तरार्ध के है किन्तु फिर भी इन आंकडो से यही प्रतीत होता है कि अवध के अन्य क्षेत्रों की प्रधान भाषा अवधी ही थी, फैजाबाद में बोली जाने वाली भोजपुरी उतनी शुद्ध नही है जैसा कि गोरखपुर मे है, यद्यपि शब्दकोष प्रायः वही है ।[2]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 201, अनुवाद-ई0 एस0 हॉरकोर्ट ,फाकिर हुसैन .
2. फैजाबाद गजेटियर -पृ0- 70-71,

इस प्रकार अंत में कहा जा सकता है कि, उर्दू भाषा के विकास में अवध के शाही दरबार का योगदान विशेष महत्व रखता है । अवध से ही उर्दू सम्पूर्ण भारत में तीव्रता के साथ प्रचलित हुई और शीघ्र ही यह विद्वानों, साहित्यकारों तथा सम्मानित लोगों की भाषा बन गई । अपने छोटे से अल्पकाल में उर्दू ने अन्य भाषाओं की अपेक्षा भाषा का विनम्रता, पूर्णता और सामाजिक एकीकरण के क्षेत्र में अपना स्थान ग्रहण कर लिया । उर्दू भारत के सभ्य समाज की आवश्यकताओं की माँग के अनुरूप विकसित हुई किन्तु दुर्भाग्यवश ब्रिटिशकाल में पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य ने अपना स्थान जमाना प्रारम्भ किया, जो उर्दू के विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ ।

अवध मे साहित्य का विकास :

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है । यथार्थ के धरातल पर साहित्य कीभूमिका इतिहास की ही भाँति व्यापक होती है और साहित्य को समाज का दर्पण नहीं वरन् सम्पूर्ण इतिहास अथवा युग विशेष, जिसमें साहित्य विशेष की रचना की गई, का प्रतिबिम्ब कहना अधिक उचित है । जब आज हम एक इतिहासकार के रूप में किसी युग के साहित्य का मूल्यांकन करते है, तो हमारा मुख्य आधार यह होता है कि, साहित्य मात्र सामाजिक मूल्यों को ही ग्रहण नहीं करता वरन् उसका सम्बन्ध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों एवं घटनाओं से भी होता है । इस प्रकार साहित्य का भाषा एवं साहित्य के विकास की दृष्टि से चाहे जोभी महत्व हो, समकालीन समाज, धर्म एवं संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से साहित्य इतिहास रचना में बहुमुखी भूमिका का निर्वाह करता है । इस प्रकार जब हम 18 वीं शती के अवध के साहित्य का अध्ययन करते हैं, तो उसमें भी उपरोक्त तत्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । 18 वीं शताब्दी के अवध का अधिकांश साहित्य यद्यपि उर्दू में ही मिलता है, किन्तु फारसी तथा हिन्दी में भी अवध का साहित्य मिलता है । अतः 18 वीं शती के अवध के फारसी, उर्दू तथा हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन पृथक-पृथक करना समीचीन होगा।

फारसी -

मुगलकाल में शासकीय भाषा फारसी ही थी,[1] यद्यपि अरबी भाषा को भी प्रमुखता प्राप्त थी, किन्तु अरबी का प्रचार और प्रसार धार्मिक नेताओं और उनके अनुयायियों तक ही सीमित रहा ।[2] राजकीय पद प्राप्त करने एवं समाज में सम्मानित स्थान पाने के लिए फारसी का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था।[3] जिसका परिणाम यह हुआ कि, शासक वर्ग के साथ - साथ आम जनता भी फारसी के प्रति आकर्षित हुई, और यही कारण है कि न केवल अवध वरन् समस्त भारत में फारसी भाषा और साहित्य कोप्रधानता स्थापित हो गई । मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में जब दिल्ली का पतन हो गया, तब दिल्ली के विद्वानों, कलाकारों तथा साहित्यकारों ने दिल्ली छोड़कर विभिन्न प्रान्तों में शरण लेना प्रारम्भ किया । इन कलाकारों और विद्वानों तथा साहित्यकारों में से अधिकांश ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र अवध राज्य को ही बनाया, क्योंकि एक तो अवध के शासक कला और साहित्य-प्रेमी थे तथा दूसरे अवध 18 वीं शताब्दी में एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र था। मुसलमान ही नहीं वरन् अनेक हिन्दू कवियों और लेखकों ने फारसी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया उदाहरणार्थ,टेकचन्द बहर ने 'बहर-ए-आजम' की 18 वीं शती में रचना की जो उत्कृष्ट फारसी मुहावरों का अतुलनीय संग्रह है ।[4] कालान्तर में जब लखनऊ की उन्नति प्रारम्भ हुई

---

1. सक्सेना, बनारसी प्रसाद- मुगल सम्राट शाहजहाँ -पृ0- 258-259,
2. सन्दीलवी, डॉ0 शुजाअत अली- तआरुफ- तारीख-ज़बान-ए-उर्दू-पृ0-73,
3. कादरी, हामिद हुसैन- दास्तान-तारीख-ए-उर्दू-पृ0- 48,
4. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ-द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 99,

तो लखनऊ में फारसी का भी विकास हुआ । उदाहरणार्थ 18 वीं शती के अंतिम दशक में फारसी के ग्रंथ 'बोस्तान-ए-अवध' की रचना एक हिन्दू लेखक दुर्गा प्रसाद ने की, जो हिन्दुओं के फारसी प्रेम का द्योतक है ।[1] इन कवियों के अतिरिक्त मुस्लिम कवि मुल्ला फैज और उनके पश्चात मिर्जा मोहम्मद हसन कतील (मृत्यु 1824) ने फारसी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया । मिर्जा मोहम्मद हसन कतील का तो इतना अधिक प्रभाव हो गया था कि, 18 वीं शती के अंत तक अवध से लेकर बंगाल तक कतील का नाम एक प्रसिद्ध कवि के रूप में आदर से लिया जाता था।[2] मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख होने पर बुद्धिजीवियों ने नवीन व सुरक्षित केन्द्रों में आश्रय लिया। अवध ने अनेक ऐसे तत्वों का स्वागत कर उन्हें संरक्षण प्रदान किया । लखनऊ में फारसी का अध्ययन कातिल (लगभग 1770 ई0) से ही प्रारम्भ होता है। कतील के कुछ समय पूर्व ही मुल्ला फैज का भी परिवार आगरा से आकर लखनऊ में बस गया था (लगभग 1750) मुल्ला फैज ने पद्य एवं गद्य दोनो ही प्रकार के अनेक फारसी ग्रंथों की रचना की जो फारसी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते है ।[3] यह उल्लेखनीय है कि 13 वीं शती के उत्तरार्ध में भारत में स्वयं फारस की अपेक्षाकृत फारसी का ज्ञान अधिक था और विद्वतापूर्ण व्याख्याएँ और फारसी संग्रह लिखा जाता था । दिल्ली के शासकों के संरक्षण में फारसी भाषा एवं साहित्य ने बहुत प्रगति की थी । इसी प्रकार लखनऊ में फारसी का इतना अधिक

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ : द लास्ट फेज ऑफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 100-अंग्रेजी अनुवाद -ई. एस. हारकोर्ट फाकिर हुसैन,
2. कादरी, हामिद हुसैन-दास्तान-तारीख-ए-उर्दू-पृ0- 190,
3. अहमद, कलीमउद्दीन-उर्दू शायरी पर एक नजर-पृ0- 49,

प्रचार एवं प्रसार था कि, यहाँ का शिक्षित वर्ग ही नहीं वरन् अशिक्षित वर्ग भी धारा प्रवाह फारसी बोलता था ।[1] यद्यपि यहाँ उर्दू की ही प्रधानता थी, किन्तु फारसी के प्रति भी लोगों में रुचि थी, यहाँ तक कि अवध के छोटे कस्बों तथा शहरों में मध्य वर्ग के मुसलमानों के जीवन-यापन का साधन फारसी की शिक्षा प्रदान करना बन गया ।[2] इस तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, वह तत्व जो राजकीय सेवा के इच्छुक थे, या फिर वह जो साहित्यप्रेमी हिन्दू थे, वह भी फारसी सीखने के इच्छुक थे ।[3]

मुगल शासन के प्रारम्भिक दिनों में अनेकानेक फारसी के विद्वान और व्याख्याता हुए और यह स्थिति अवध में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब लखनऊ में बहुत से फारसी के हिन्दू विद्वान हुए । इस वातावरण में विकास की प्रक्रिया उस समय और तीव्र हुई जब लखनऊ के कायस्थों और काश्मीरी ब्राह्मणों ने फारसी सीखना प्रारम्भ किया । इन लोगों ने फारसी का विकास इस श्रेणी तक किया कि, मुसलमानों और इनके मध्य फारसी के ज्ञान में बहुत कम अन्तर रह गया, ये फारसी कहावतों और मुहावरों का प्रयोग बिना किसी भेदभाव के करते थे ।[4] इसका एक प्रमुख उदाहरण महाराजा नवलराय कायस्थ ( 1740-1781 ) इटावावासी है जो नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग का प्रमुख सहयोगी और अधिकारी था।

---

1. तकी, मिर्जा मोहम्मद-तारीख-ए-आफताब-ए-उर्दू-पृ0- 112,
2. तकी, मिर्जा मोहम्मद- तारीख-ए-आफताब-ए-उर्दू-पृ0- 112-13,
3. तकी, मिर्जा मोहम्मद- तारीख-ए- आफताब-ए-उर्दू-पृ0-113,
4. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तारीख-ए-अवध-पृ0- 48,

महाराजा नवल राय ने क्लर्क के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया था, किन्तु अपनी विद्वता के बल पर प्रधानमंत्री के पद तक पहुँच गया था । नवल राय फारसी का उत्कृष्ट ज्ञाता था ।[1] किन्तु फिर भी देश के अन्य भागों में हिन्दू समाज में फारसी को बहिष्कृत समझा जाता रहा ।

लखनऊ में नवाबी शासन में फारसी गद्य और पद्य के सैकड़ों लेखक थे और यहाँ फारसी काव्य के मुशायरे उसी प्रकार होते थे जैसे उर्दू काव्य के मुशायरे होते थे । यद्यपि इस समय तक फारसी का दरबारी स्वरूप समाप्त हो चुका था और इसके स्थान पर उर्दू ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। फिर भी फारसी के महत्व में कमी नहीं आई और इसका प्रभाव समाज के सभी देशों पर पड़ा । परन्तु अवध के प्रथम तीन नवाबों के पश्चात के नवाबों द्वारा उर्दू भाषा एवं साहित्य को संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान करने के कारण फारसी का स्थान उर्दू ने ले लिया ।[2]

उर्दू साहित्य -

अवध में उर्दू साहित्य के विकास में अवध के शासकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान था। यद्यपि उर्दू की प्रारम्भिक उन्नति का युग दक्षिण राज्य

---

1. खान, सैय्यद गुलाम हुसैन -सैरूल मुताखरीन- पृ0- 850
2. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ-द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर पृ0- 100.

विशेषकर गोलकुण्डा और बीजापुर का था, और यह कहा जाता है कि सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह प्रथम कवि था जिसने अपना उर्दू संकलन लिखा ।[1] किन्तु दक्षिण में विपरीत राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उर्दू कविता को समुचित विकास का अवसर प्राप्त नहीं हो सका । किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि, उर्दू कविता को अपने विकास की चरमावस्था अवध में ही प्राप्त हो सकी ।

प्रायः अवध के सभी नवाब कला और साहित्य के प्रेमी थे, यही नहीं उनमें से बहुतों ने फारसी और उर्दू में शायरी भी लिखी । अवध के प्रथम नवाब सआदत खाँ बुरहानुल्मुल्क । सन् 1720 ई0- सन् 1739 ई0। का स्वभाव ही शायराना था और "अमीन" उपनाम से शायरी करते थे । नवाब बुरहानुल्मुल्क के दरबार से कई शायर सम्बद्ध थे जैसे- मीर इमाम कुली खाँ हशमत, सैय्यद मुहम्मद फिदाई, शेख अब्दुल रजा मतीन, अली कुली खान, आका अब्दुल अली तहसीन, मीर जाहिद अली सना, मोहम्मद रहीम खाँ मीर अब्दुल अली साले और मीर गुलाम नबी बिलग्रामी गुलाम इत्यादि।[2] यह सभी शायर नवाब के दरबार में रहते हुए शायरी करते थे। यद्यपि आजाद बिलग्रामी के अनुसार, अवध के द्वितीय नवाब सफदरजंग । सन् 1739 ई0- सन् 1756 ई0। को शिक्षा और साहित्य से कोई रुचि नहीं थी ।[3] किन्तु अन्य प्रमाणिक स्त्रोतों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि, नवाब अबुल मंसूर

---

1. सिद्दीकी, अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी पृ0- 68,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 585,
3. बिलग्रामी, मौलाना आजाद- मआसिरूल अकराम-पृ0- 221,

खाँ सफदरजंग को भी शिक्षा और साहित्य से बड़ी दिलचस्पी थी ।
नवाब शायरों और आलिमों का संरक्षण करते थे । ख्वाजा बासित नवाब
के समय के प्रसिद्ध शायर थे । एक अन्य हिन्दू शायर भगवान दास का भी
उल्लेख मिलता है ।[1] ख्वाजा बासित सूफी संत भी थे और नवाब सफदरजंग
के गुरू भी थे, जिससे ज्ञात होता है कि नवाब को सूफियों से भी अत्यन्त
प्रेम था । यद्यपि इस युग में यह परम्परा ही थी कि प्रत्येक शासक, अमीर
उमरा किसी न किसी बुजुर्ग का मुरीद होता था, क्योंकि वे यह विश्वास
करते थे कि उनकी उन्नति का एक प्रमुख कारण इन फकीरों की दुआएँ है।
इसके अतिरिक्त शेख मोहम्मद हसन ईरानी, सैय्यद जैनुद्दीन, सैय्यद मुहम्मद
अली औरंगाबादी, मीर गुलाम नबी बिलग्रामी, मौलवी फजलुल्लाह खान,
मिर्जा अली नकी आदि नवाब शुजाउद्दौला के संरक्षक थे । अन्य विद्वानों में
काजी अहमद अली संदीलवी, मौलवी अहमद हुसैन लखनवी, मौलवी मुहम्मद
आजम, मौलवी अब्दुल्ला, मीर सैय्यद मुहम्मद, शाह अब्दुल्ला वाजिद
अमेठवी, सैय्यद मुहम्मद अशरफ आदि भी नवाब के दरबार से सम्बद्ध थे ।[2]
मोहम्मद अली खाँ ने नवाब सफदरजंग को शायरी सिखाने से सम्बन्धित
एक घटना का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि नवाब शायरी से

---

1. दास भगवान-सफीने हिन्दी-पृ0- 33,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद - पृ0- 585,

कितनी दिलचस्पी रखते थे।[1] इस्फहानी केअतिरिक्त मिर्जा बाकर हकीर, मीर मोहम्मद इस्माईल शेख मोहम्मद रजा मतीन, मीर फैज अली नासिखी, मिर्जा इब्राहीम नूर, मोहम्मद यहया खान खुसरो, सैय्यद अहमद अहमदी बिलग्रामी, सैय्यद अजीम उद्दीन, बिलग्रामी, हिदायत अली खान इत्यादि शायर नवाब सफदरजंग के दरबार से सम्बद्ध थे।[2] इन शायरों के अतिरिक्त अन्य शायरों को भी समय- समय पर पुरस्कृत किया जाता था। शुजाउद्दौला के जन्म के अवसर पर जब एक हिन्दू शायर राय सनात सिंह बेदार ने शहजादे के जन्म की तारीख शायरी में कही तो नवाब सफदरजंग ने सब सनात सिंह को पाँच हजार रूपये प्रदान किए।[3] इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि नवाब-अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग को भी शायरी से लगावथा और वह शायरी को प्रोत्साहित करते थे।

नवाब सफदरजंग के पश्चात अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला (सन् 1756ई0 सन् 1775 ई0) भी शेरो-शायरी से अत्यधिक दिलचस्पी

---

1. एक दिन नवाब मुगल बादशाह की सेवा में जाते हुए दिल्ली मे लाल किले में नहर के किनारे कुछ देर के लिए रूक गए और वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर कुछ क्षणों तक विचारमग्न हो गए। इस अवसर पर नवाब के साथ मिर्जा इस्फहानी शायर भी उपस्थित थे। नवाब ने इस्फहानी को उस अवसर के अनुकूल शायरी करने को कहा, अतः इस्फहानी ने नवाब की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए एक बहुत नायाब शेर पढ़ा, जिसे सुन कर नवाब बेहद खुश हुए और इस्फहानी को इस मौके पर एक घोड़ा सुनहरे साज सहित तथा पाँच हजार रूपया नगद देकर पुरस्कृत किया- बिलग्रामी मौलाना आजाद मआसिरूल अकराम-पृ0- 105
2. अहमद, कलीमउद्दीन,-उर्दू शायरी पर एक नजर-पृ0- 58,
3. उमर, डाँ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद-पृ0- 586,

रखते थे। नवाब शुजाउद्दौला के दरबार का एक शायर हातिफ तीन सौ रूपये माहवार वेतन पाता था।[1] नवाब शुजाउद्दौला ने जब 'खान-ए-आरजू' को दिल्ली से बुलाया था तो उसे भी तीन सौ रूपये माहवार ही देता था। नवाब शुजाउद्दौला ने 'सौदा' को भी बुलाया था, पहले तो उन्होंनें आने से मना कर दिया लेकिन बाद में हालात से विवश होकर फैजाबाद चले आए।[2] खान-ए-आरजू और सौदा केअतिरिक्त शेख सनाउल्लाह सना, मिर्जा मुहम्मद शमी जराह, मिर्जा अबू अली हातिफ, मिर्जा हसन अली हसन, शाह वासित, मिर्जा इनायतउल्लाह साकिन, इत्यादि नवाब के दरबार में उपस्थित थे। एक अन्य शायर अली कुलीवाला को तो नवाब ने सौले का आधा भाग ही पुरस्कार में दे दिया था। मीर फखरूद्दीन साहिर को सात रूपये माहवार वेतन मिलता था। नवाब शुजाउद्दौला के पुत्र मिर्जा सैफ अली खान स्वयं शायरी करते थे। नवाब शुजाउद्दौला के एक अन्य पुत्र नवाब अमीरउद्दौला के यहाँ मुशायरा होता था।[3]

नवाब आसफउद्दौला (सन् 1775 ई0- सन् 1797 ई0) जब अवध की गद्दी पर बैठे तो शायरी का विकास और तीव्र हो गया क्योंकि नवाब आसफउद्दौला को भी शायरी से अत्यधिक प्रेम था। नवाब आसफउद्दौला भी स्वयं फारसी और उर्दू दोनों में शायरी करते थे।[4] वह शायरों को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार भी देते थे। उदाहरणार्थ, एक शायर शाहकमाल को एक अवसर पर दो हजार रूपया नगद तथा एक दोशाला पुरस्कार में प्रदान किया

---

1. दास, भगवान-सफीने हिन्दी-पृ0- 241,
2. देहलवी, मीर हसन-तजकिरा शोयरा-ए-उर्दू-पृ0- 83,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद पृ0- 587
4. कमाल, शाह मोहम्मद- तजकिरा मजमुआ इंतखाब-पृ0- 5,

था ।[1] नवाब के अन्य दरबारी शायरों मे जसवंत सिंह दीवाना, सलाम-उल्ला और सलाम, मिर्जा शमीउद्दीन मोहम्मद सफाई आदि प्रमुख थे और अच्छा वेतन पाते थे । यही नहीं नवाब आसफउद्दौला दरबारी मुशायरे के अध्यक्ष की भी भूमिका निभाते थे ।[2] नवाब आसफउद्दौला के पश्चात् नवाब वजीर अली खान को भी शायरी से बड़ी दिलचस्पी थी । यद्यपि नवाब वजीर अली का शासन काल अत्यन्त अल्प था । सन् 1797 ई0 से सन् 1798 ई0। इसलिए इस काल के शायरों के सम्बन्ध में बहुत कम विवरण मिलता है। नवाब वजीर अली के बाद नवाब सआदत अली खाँ । सन् 1798 ई0 सन् 1814 ई0। गद्दी पर बैठे । यह भी शायरी से अत्यधिक दिलचस्पी रखते थे, इनके दरबार में कातिल,बशारत और इंशा जैसे शायर उपस्थित थे।[3] सआदत अली खाँ के पुत्र नवाब गाजीउद्दीन हैदर। सन् 1814 ई0 सन् 1827 ई0। अनेक शास्त्रों के ज्ञाताथे । गाजीउद्दीन हैदर के काल में साहित्य का संरक्षण इतना बढ़ गया था कि लखनऊ में एक शाही प्रेस की स्थापना की गई ।[4] बादशाह नासिरुद्दीन हैदर । 1827-1837 । के बाद के नवाब मुहम्मद अली शाह और नवाब अमजद अली शाह । 1837-1842, 1842-1847। साहित्य के प्रति उदासीन रहे किन्तु अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह ।1847-1856 । सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा साहित्य प्रेमी कवि और लेखक था।

---

1. अली, मिर्जा लतीफ-तजकिरा-ए- गुलशन-ए-हिन्द-पृ0- 15,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात ,मीर का अहद-पृ0- 588,
3. उमर,डॉ0 मोहम्मद, 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद- पृ0- 588
4. अली, मोहम्मद अहद- नवाब-ए-लखनऊ-पृ0- 49,

नवाब वाजिद अली शाह ने " अख्तर" उपनाम से अनेक उत्कृष्ट कविताएँ संकलित की तथा अनेक धार्मिक साहित्यक , ऐतिहासिक ,संगीत, नृत्य तथा इसी प्रकार की अन्य बहुत सी पुस्तकों की रचना की । नवाब वाजिद अली शाह की काव्य शैली का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हुज्न-ए-अख्तर" है । जो नवाब वाजिद अलीशाह के देश निष्कासन का काव्य वर्णन है । नवाब वाजिद अली शाह का कुछ पुस्तकों में उसकी प्रिय बेगमों के पत्रों का संकलन है । नवाब वाजिद अली की एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक "दस्तूर-ई-वाजिदिया" है, जिसमें छियासठ अध्याय है, और जिसमें प्रशासन सम्बन्धी वर्णन है । संगीत तथा नृत्य पर उनकी पुस्तकें - "नाजो", बाजी", "दुल्हन", विशेष उल्लेखनीय है ।[1] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि, प्राय: अवध के सभी नवाबों ने उर्दू कविता और उर्दू गद्य साहित्य को सदैव प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्रदान किया । इस प्रकार अवध के शासकों ने उर्दू के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

अवध के शासक ही नहीं वरन् दरबारी अमीर भी शायरी में अत्यधिक दिलचस्पी रखते थे । नवाब सालारजंग नवाब मोहब्बत खान, नवाब खाने आलम, नवाब शौकतजंग, राजा टिकैतराय, जवाहर अली खान तथा हसन रजा खान जैसे अमीर शायरी में दिलचस्पी रखते थे तथा उन्हें प्रोत्साहित करते थे ।[2] हिदायत ने भी अवध के उन अमीरों का वर्णन

---

1. किदवई, इकरामउद्दीन-लखनऊ : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट पृ0- 69.
2. देहलवी, मीर हसन-तजकिरा-शोयरा-ए-उर्दू-पृ0- 196.

किया है जिन्होंनें शायरों के अपना संरक्षण प्रदान किया ।[1] दिल्ली के भी कुछ अमीर लखनऊ आए जो शायरी प्रेमी थे । उदाहरणार्थ,परवर्ती मुगल सम्राट शाहआलम के पुत्र मिर्जा सुलेमान शिकोह आसफउद्दौला के काल में लखनऊ आए । मिर्जा सुलेमान शिकोह भी उर्दू तथा फारसी में शेर कहते थे । इंशा, जुर्रत, सोज, मुसहफी, आदि मिर्जा सुलेमान शिकोह के दरबार से सम्बद्ध थे । इसके अतिरिक्त रंगीन, सादिक, तालिब , शेख वलीउल्लाह, मीर मुहम्मद हुसैन, मिर्जा नईम बेग भी मिर्जा सुलेमान शिकोह की सेवा में थे ।[2] नादिरशाही आक्रमण के बाद दिल्ली उजड़ गई और वहाँ के बचे हुए लोग भी लखनऊ आने लगे ।

अवध में उर्दू कविता का प्रारम्भ प्रसिद्ध शायर सिराजउद्दीन खाँ आरजू । सन् 1689 ई0- सन् 1756 ई0 । के आने के पश्चात ही होता है ।[3] आरजू का जन्म सन् 1689 ई0 में हुआ था ।[4] प्रारम्भिक शिक्षा ग्वालियर में ही रह कर प्राप्त की । सन् 1717 ई0 में सिराजउद्दीन खाँ आरजू दिल्ली आए । परन्तु नादिरशाही आक्रमण के पश्चात फैजाबाद चले आए । लगभग सन् 1740 । ।[5] प्रख्यात कवि मीर तकी मीर को फारसी भाषा में विशेष दक्षता प्राप्त थी किन्तु इनकी कृतियाँ उर्दू के लेखकों

---

1. देहलवी, मीर हसन - तजकिरा- शोयरा-ए-उर्दू - पृ-१९६,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरत-पृ0-588,
3. सिद्दीकी अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0-83,
4. सक्सेना रामबाबू- ए हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 47,
5. सक्सेनारामबाबू -ए- हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर- पृ0-48,

का मार्ग दर्शन करती रही ।[1] आरज़ू की कृतियों के सम्बन्ध में भी मतभेद है, यद्यपि उनके साहब -ए- तसनीफ[2] होने में कोई शक नही है । आरज़ू की प्रसिद्ध कृतियों में दीवान फारसी शरह, सिकन्दरनामा, शरह कसायद उरफी, शरह गुलिस्तॉं, सिराजुल लोहात इत्यादि प्रसिद्ध है ।[3] आरज़ू उर्दू के शेर स्वाभाविक तरीके से कहते थे, इसलिए उनमें वह उत्कृष्टता नही आई जो उनकी फारसी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । किन्तु उनकी महत्ता यह है कि, उर्दू के बहुत से कवि उनसे लाभान्वित हुए । मीर तकी मीर और मीर हसन ने अपनी रचनाओं में उनके बहुत से शिष्यों का वर्णन किया है, किन्तु आरज़ू की छाया में पले मीर तकी मीर ने लखनऊ की कविता पर अत्यधिक प्रभाव डाला ।[4] मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद (1832-1910) ने आरज़ू की कृतियों की अत्यधिक प्रशंसा की है।[5]

दिल्ली से अवध आने वाले कवियों में द्वितीय महत्वपूर्ण कवि मिर्जा मुहम्मद रफी सौदा थे, जिनका जन्म 1100 हिजरी (सन् 1688-89ई0) के पूर्व माना जाता है । सौदा ने गजल से अपने काव्य जीवन का प्रारम्भ किया ।[6] ग़जल शब्द अरबी भाषा की स्त्री लिंग शब्द है, जिसका अर्थ

---

1. अहमद, कलीमउद्दीन- उर्दू शायरी पर एक नजर-पृ0-59,
2. साहब-ए-तसनीफ-किसी विशेष कला में दक्ष व्यक्ति को साहब-ए-तसनीफ कहा जाता था।
3. सिद्दीकी, अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 83
4. सिद्दीकी, अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 83-84,
5. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 89, अनुवाद-ई0-एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
6. सिद्दीकी, अबु लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0-83-84,

है- प्रेमपात्र से वार्तालाप" । उर्दू कविता का एक विशेष प्रकार या रूप "गजल" कहलाता है । एक "गजल" से कम से कम पाँच और अधिक से अधिक ग्यारह शेर होते है । प्रत्येक शेर में एक स्वतंत्र भाव होताहै। "गजल" का प्रथम शेर" मत्ला" और अन्तिम शेर प्रवक्ता " मक्ता कहलाता है । मक्ते" में हीशायर उपनाम रखता है । गजल का संग्रह दीवान कहलाता है ।[1]
सौदा के गजल तत्कालीन समय में अवध में बहुत लोकप्रिय हो गए थे । सौदा सन् 1759 ई0 और 1761 ई0 के मध्य फैजाबाद पहुँचे ।[2] मुशहफी के अनुसार, नवाब शुजाउद्दौला सौदा का बहुत आदर करते थे ।[3] नवाब आसफउद्दौला के काल में । 1775 ई0- 1797 ई0। सौदा को भी लखनऊ जाना पड़ा । शायरी कीएक महत्वपूर्ण विधा मर्सिये की उन्नति में सौदा का स्थान बहुत ही ऊँचा था। इसके अतिरिक्त गजल और कसीदे में सौदा का योगदान अतुलनीय है किन्तु सौदा का प्रभाव सीधे लखनऊ की उर्दू कविता पर नहीं पड़ा और न ही लखनऊ के उर्दू कवियों ने मीर की भाँति इनकी श्रेष्ठता स्वीकार की । कसीदा सौदा की मशहूर विधाथी ।[4] सौदा निश्चित रूप से आरजू के योग्य शिष्य थे, जिन्होंने उर्दू काव्य पर शासन किया ।

सौदा के पश्चात मीर हसन देहलवी का नाम आता है । मीर हसन देहलवी का जन्म ।140 हिजरी । 1727-28। में आगरे में हुआ था।[5]

---

1. अहमद, कलीमुद्दीन-उर्दू शायरी पर एक नजर-पृ0- 62,
2. अस्करी, मिर्जा मोहम्मद-तारीख-ए- अदब-ए- उर्दू-पृ0-85,
3. सिद्दीकी की अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-शायरी-पृ0- 90,
4. शरर, अब्दुलहलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 88,
5. अहमद, कलीमउद्दीन-उर्दू शायरी पर एक नजर-पृ0- 63,

मीर हसन 1164-65 हिजरी । 1750-1752। के लगभग दिल्ली से फैजाबाद आए और फिर लखनऊ आ गए । इनकी प्रसिद्ध कृति" मसनवी सहरूल बयान" है जो लखनवी सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित है । [1] इसी कारण मीर हसन देहलवी का नाम उर्दू साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है। यद्यपि इनकी अन्य रचनाएँ मसनवी 'गुलजारे यरम' और 'कुतज्वाहर' भी है ।[2] किन्तु मीर हसन " सहरूल बयान " जिसको कभी केवल "मसनवी मीर हसन" भी कहा जाता है के कारण अमर हो गए । इसमें एक राजकुमार बेनजीर और एक राजकुमारी बद्रे मुनीर की प्रेम कहानी का वर्णन किया गया है। इस कृति के अध्ययन से उस युग के जीवन पर गहरा प्रकाश पड़ता है, जन्म, उत्सव, विवाह और अन्य दूसरे अवसरों का चित्रण ऐसी सुन्दरता से किया गया है कि पढ़ने वाले के समक्ष वह युग जीवित हो जाता है, जिसका उल्लेख है । प्रकृति, मनुष्य जाति और सभ्यता का आकर्षक चित्रण किया गया है । यद्यपि इस कहानी में आलौकिक जीवन का वर्णन भी बहुत किया है परन्तु उसकी ओट में वास्तविकता छिपी है, जिससे अवध की सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है । मीर हसन को स्वयं अपनी इस कृति का गर्व था और इसके लेखन में अपने जीवन का एक बड़ा भाग व्यय किया था । इनकी इसी प्रसिद्ध कृति " सहरूल बयान" का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

---

1. अहमद, कलीमउद्दीन-उर्दू शायरी पर एकनजर-पृ0-63,
2. अस्करी, मिर्जा मोहम्मद -तारीख-ए-अदब-ए-उर्दू-पृ0-86,

"गई थी वह शह को लबे बामसर,

दिखाया कि वह सोया था सीम बर ।

यही थी वह जगह जहाँ से वह गया,

कहा हाय !बेटा तू ईया से गया !"

1 सिद्दीकी -अबुलैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी, पृ0-91.

मीर हसन ने मर्सिया और कसीदा भी लिखा है किन्तु उसमें उन्हें कुछ अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई । मसनवी के बाद उनकी गजलें साहित्यक महत्व रखती है । उनकी गजलों में सादगी और करूणा के वही रंग-प्राप्त होते है जो मीर तकी मीर में पाये जाते है - उदाहरणार्थ -

तू रहा दिल में दिल रहा तुझमें ।

तिस प तेरा मिलाप हो न सका ।।

हँसना और बोलना तो एक तरफ ।

सामने उसके मैं तो रो न सका ।।

दिल गम से तेरे लगा गए हम ।

किस आग से घर जला गए हम ।।

खोया गया उसम गो दिल अपना ।

पर यार तुझे तो पा गए हम ।।

बस गया जब से यार आँखों में ।

तब से फूली बहार आँखों में ।।

गुल हुए जाते है चिराग की तरह।

हमको टुक जल्द आन कर देखो ॥[1]

(हुसैन, एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0- 85-86)

मीर हसन देहलवी की 1201 हिजरी । सन् 1786-87। मे मृत्यु हो गई।[2]

दिल्ली से लखनऊ आने वाले उर्दू कवियों में एक प्रमुख कवि मीर मुसतहसन खलीक थे। मीर मुस्तहरसन खलिक का युग । 1774 ई0-1804 ई0 । 18 वीं शती का अन्तिम युग था। मीर खालिक ने ही लखनऊ में मर्सिया का प्रारम्भ किया था । मीर खलिक मीर हसन के पुत्र थे । [3] मीर खलिक का एक प्रसिद्ध शेर प्रस्तुत है, जिसे सुन कर कहा जाता है कि, मीर आतिश ने अपनी गजल फाड़ डाली और कहा कि, जब यह शख्स यहाँ उपस्थित है तो यहाँ मेरी क्या आवश्यकता ।[4] मीर खालिक का यह शेर इस प्रकार है -

" मिसलाइना है इस रश्क खमर का पहलू ।

साफ इधर से नजर आता है उधर का पहलू ।[5]

मीर कमरूद्दीन मिन्नत भी दिल्ली से अवध आए, और यहीं रह कर अपनी कृतियों की रचना की । [6] मीर कमरूद्दीन मिन्नत की उर्दू

---

1. हुसैन, एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0-85,
2. सिद्दीकी अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 9।
3. सक्सैना रामबाबू- ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर पृ0-124
4. सक्सैना रामबाबू -एन हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर पृ0- 125
5. सिद्दीकी, अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 113,
6. सिद्दीकी, अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 117,

कविता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि, इनकी कविता में त्यागपूर्ण महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि , इनकी कविता में त्यागपूर्ण भावना प्रमुखता से लक्षित होती है । इसका उदाहरण मीर कमरूद्दीन मिन्नत का यह शेर है -

"मिन्नत ऐसे को दिल दिया तूने,
ऐ मेरी जान क्या किया तूने ।[1]

दिल्ली के एक अन्य प्रसिद्ध कवि मिर्जा जाफर अली हसरत (1737 ई0- 1792 ई0) नवाब शुजाउद्दौला के समय में अवध आए । मिर्जा जाफर अली हसरत की मृत्यु 1792 ई0 में हुई थी ।[2] मिर्जा जाफर अली हसरत का एक प्रसिद्ध शेर प्रस्तुत है -

"आखिर तेरे गम में मर गए हम,
मरना था तो कुछ सो मर गए हम ।
उकबा की भी कुछ खबर नहीं है
दुनिया से तो बेखबर गए हम ।[3]

दिल्ली से अवध आने वाले कवियों में सैय्यद मीर सोज (1720 ई0- 1798 ई0) का नाम उन प्रमुख लोगों में आता है, जो सूफी सन्त थे । मीर सोज का जन्म दिल्ली में हुआ था। सन् 1798 ई0 में

---

1. अहमद, कलीमउद्दीन -उर्दू शायरी पर एक नजर- पृ0- 103,
2. सक्सेना, रामबाबू, -ए- हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 98,
3. सिद्दीकी अब्लैस- लखनऊ- का दबिस्तान-ए- शायरी- पृ0- 120,

सैय्यद मीर सोज की मृत्यु हो गई ।[1] मीर हसन ने सैय्यद मीर सोज के उर्दू गद्य लेखन कला की भूरिशः प्रशंसा की तथापि इन्होंने उत्कृष्ट उर्दू कविताओं की भी रचना की[2] उदाहरणार्थ, सैय्यद मीर सोज की एक प्रसिद्ध रचना इस प्रकार है -

" मै किसके हाथ लिख भेजूँ,
मियाँ साहब सलाम अपना ।
मुझे तो भूल जाता है,
तेरे धड़के से नाम अपना ।।[3]

मौलाना अब्दुल हलीम शरर ने सोज को उर्दू काव्य का अग्रदूत बताया है ।[4]

नवाब आसफउद्दौला के समय में दिल्ली से अवध आने वाले महत्वपूर्ण उर्दू के कवि मीर हैदर अली हैराँ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मीर हैदर अली हैराँ राय सर्व सिंह दीवाना के शिष्य थे ।[5] मीर हैदर अली हैराँ आसफउद्दौला के आमंत्रण पर लखनऊ आए । मीर हैदर अली हैराँ की मृत्यु भी सन् 1800 ई0 में हो गई थी ।[6] मीर साहब की उर्दू कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

---

1. सक्सेना रामबाबू -ए-हिस्ट्री आँफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 59,
2. देहलवी, मीर हसन- मजमुआ मसनवियात मीर हसन- पृ0-75,
3. सिद्दीकी, अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-एशायरी-पृ0-130,
4. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ0- 89- अंग्रेजी अनुवाद ई0एस0 हारकोर्ट,फाकिर हुसैन ,
5. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल पृ0- 90
6. अहमद कलीमउद्दीन-उर्दू शायरी पर एकनजर-पृ0- 98,

" कल कहा मैने घर चलिए,
इससे कुछ कम न होगी महसूबी ।
सुन के मेरी बदल लगा कहने,
रस्म राह में अब तो सब डूबी ।।[1]

सन् 1782 ई0 में अवध में दिल्ली से एक और प्रख्यात शायर ने प्रवेश किया, जिनका नाम था मीर तकी मीर । मीर मोहम्मद तकी मीर की साहित्यक प्रतिभा के कारण हीउन्हें इमामुल शोयरा की उपाधि प्रदान की गई थी ।[2] मीर ने अपनी आत्मकथा 'जिक्र-ए- मीर' की रचना भी की थी ।[3] मीर तकी मीर का उर्दू साहित्य में एक पृथक स्थान है । मीर तकी मीर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि, इनकी रचनाओं में सादगी और सरलता है। मीर की शायरी सन्तोष की शायरी है। किन्तु मीर की अधिकांश रचनाएं गम और दुख की ही है। जैसा कि, मौलवी अब्दुल हक कहते हैं कि, अनीस रुलाते है जब कि मीर खुद रोते है, एकजगबीती दूसरी आप बीती।[4] दोनो में अन्तर स्पष्ट है। इसी लिए मीर को गम की कविता का गुरू माना जाता है।मीर हसन और मुसहफी ही ऐसे है जो मीर तकी मीर से कुछ हद तक साम्य रखते हैं । किन्तु मीर इनसे कहीं आगे हैं । मीर के शिष्यों का सम्पूर्ण जीवन गम और परेशानी में ही व्यतीत हुआ था, इसलिए इनकी कविता में भी यही रंग झलकता है ।[5]

---

1. सदटीकी अबु लैस -लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 127,
2. फारूकी, डॉ0 ख्वाजा अहमद-मीर तकी मीर,हयात और शायरी-पृ0- 112
3. फारूकी , डॉ ख्वाजा अहमद मीर तकी मीर,हयात और शायरी-पृ0-112-13,
4. हक, मौलवी अब्दुल-जिक्र-ए-मीर-पृ0- 92,
5. फारूकी, डॉ0 ख्वाजा अहमद -मीर तकी मीर हयात और शायरी-पृ0-114,

जो इस उदाहरण से स्पष्ट है -

" सरहाने मीर के आहिस्ता बोलो,

तू कभी रोते- रोते सो गया ।[1]

प्रख्यात शायर शेख कलन्दर बख्श यहया खान जुर्रत । मृत्यु -सन् 1810 ई0। सन् 1800 ई0 में लखनऊ आए ।[2] जुर्रत ने दिल्ली से आकर उर्दू शायरी को एक नई दिशा प्रदान की, वह स्वरूप जिसे उर्दू में "मामलाबन्दी" कहा जाता है ।[3] शेख कलन्दर बख्श जुर्रत ने लखनवी अन्दाज में उर्दू शायरी शुरू की, यही कारण है, कि जुर्रत की रचनाएँ लखनवी सभ्यता को उजागर करती है ।

शेख कलन्दर बख्श जुर्रत दिल्ली के प्रसिद्ध कवि मिर्जा जाफर अली हसरत के शिष्य थे । जिस समय वह लखनऊ आए वहाँ मिर्जा सुलेमान शिकोह का दरबार बहुत लोकप्रिय था। सुलेमान शिकोह दिल्ली के बादशाह शाह-आलम के पुत्र थे और नवाब आसफउद्दौला के राज्य काल में लखनऊ चले आए थे । वह स्वयं भी कवि थे और कवियों का बड़ा आदर सत्कार करते थे, इस कारण दिल्ली से अवध आने वाले कवि पहले इन्हीं के पास आते थे इस प्रकार जुर्रत भी इनके दरबारी बन गए । कहा जाता है कि जुर्रत ज्योतिष शास्त्र के विद्वान और कुशल संगीतज्ञ भी थे तथा सितार बजाने में सिद्धहस्त [illegible]

---

1. सिद्दीकी अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 129,
2. सक्सेना रामबाबू -ए- हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0-88,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद उमर- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद-पृ0- 611,

रखते थे । जुर्रत कुछ अधिक शिक्षित व्यक्ति नहीं थे लेकिन भाषा के प्रयोग में निपुण थे । जुर्रत का काव्य संग्रह हरप्रकार की कविताओं से भरा हुआ है जिसमें अधिकतर तो गजलें हैं पर मसनवी इत्यादि भी पाई जाती है । उनकी गजलें बहुधा एक ही भावना के अधीन लिखी गई है । इसलिए जो चित्र वह बनाना चाहते थे सुन्दरता के साथ बन जाता था मनोभावनाओं को प्रस्तुत करने में उन्होंनें केवल श्रृंगार-रस को अपनाया और उसी को वह विचित्र प्रकार से प्रस्तुत करते थे, उदाहरणार्थ -

बात ही अव्वल तो वो करता नहीं मुझसे कभी ।
और जो बोले भी है कुछ मुँह से तो शरमाया हुआ ।।
है कलक से दिल की ये हालत मेरी अब तो कि मैं ।
चारसू फिरता हूँ अपने घर में घबराया हुआ ।।

लगता गले में ताब अब ऐ नाजनीं नहीं ।
है है खुदा के वास्ते, मत कर नहीं नहीं ।।
परी-सा जो मुखड़ा दिखा कर चले ।।[1]

रोज कहते है वह आए तो कहीं गम जुर्रत ।
जब वह आता है तो उस वक्त नहीं होते हम ।।
दिले वहशी को ख्वाहिश है तुम्हारे दर पे आने की।
दीवाना है वह लेकिन बात कहता है ठिकाने की ।।[2]

---

1. हुसैन, एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0-86-87,
2. सिद्दीकी , अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी पृ0- 133,

दिल्ली से लखनऊ आने वाले कवियों में सैयद इंशा उल्लाह खाँ इंशा का भी नाम बहुत प्रसिद्ध है । सैयद इंशा । 1756 ई0-1818 ई0। की रचनाओं में पंजाबी, अरबी, फारसी, और तुर्की, भाषा का भी उत्कृष्ट प्रयोग हुआ है। इंशा का जन्म सन् 1756 ई0 के लगभग हुआ था । इंशा के पिता माशाउल्लाह खाँ नवाब शुजाउद्दौला की सेवा में थे ।

इंशा उल्ला खाँ को उच्च कोटि की शिक्षा मिली थी, अपने स्वभाव में तेज और तीव्र बुद्धि एवं व्यक्तित्व रखते थे । वह भी प्रत्येक स्थान पर सम्मानित हुए । लगभग 18 वर्ष दिल्ली में रह कर अन्य कवियों की भाँति इंशा भी लखनऊ चले आए और अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ । इंशा के आने के पूर्व लखनऊ में जुरंत तथा मुसहफी पहले से ही विद्यमान थे और इंशा के आने से लखनऊ में शेरो शायरी का रंग और भी चमक उठा। लखनऊ के जीवन में विलास और भोग की जो भावनाएँ उत्पन्न हो रही थी उनका प्रभाव उस समय की शायरी में पूर्ण रूप से देखा जा सकता है । इंशा की रचनाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि, वह फारसी, तुर्की, पंजाबी, मारवाड़ी, काशमीरी और हिन्दी इत्यादि अच्छी तरह से जानते थे, कभी-कभी अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते थे । उनके काव्य संग्रह में सभी प्रकार की कविताएँ मिलती है । कुछ कविताएँ तो ऐसी है, जो उनसे पहले उर्दू में दिखाई नही पड़ती- जैसे- बिना बिन्दियों की कविताएँ । उर्दू में ऐसे अक्षर बहुत कम है जिन पर बिन्दु न हो, परन्तु उन्होंने

गद्य और पद्य दोनों में ऐसी लम्बी -लम्बी रचनाएँ की है, जिनमे एक बिन्दु भी नही आता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्त्रियों की भाषा में भी कुछ कविताएँ लिखी है जिसे " रेख्ती" कहा जाता था। इंशा की बहुत सी रचनाएँ फारसी में भी है। यद्यपि कविता के दृष्टिकोण से इंशा की काव्य रचनाओं में गम्भीरता और चिन्तनशीलता का अभाव है इसीलिए उनकी गजलें हल्की जान पड़ती है किन्तु कला और साहित्य की दृष्टि से इनके कसीदे अवश्य सराहनीय है। निःसन्देह वह एक बड़े कवि थे। उनके विचारों में विविधता और उनकी शैली में नवीनता है लेकिन वह उनके ज्ञान एवं विद्वता के स्तर के अनुसार नही दीखती। इंशा की सबसे महत्वपूर्ण रचना "दरिया-ए-लताफत" है जो भाषा विज्ञान, व्याकरण, काव्य शास्त्र और अन्य विषयों का एक बड़ा कोष है। इस पुस्तक के अध्ययन से उनकी जानकारी और गहराई का अनुमान मिलता है। उस समय उर्दू भाषा का जो रंग रूप था, जिस प्रकार वह विभिन्न लोगों में प्रचलित थी, जिस तरह वह उससमय की सामाजिक परिस्थिति में विकसित हो रही थी, उस पर इंशा ने बड़ी गम्भीरता से प्रकाश डाला है। यद्यपि यह पुस्तक फारसी मे है, लेकिन इसमे उर्दू गद्य और पद्य के जो उदाहरण दिए गए है उसमें इंशा की भाषा विज्ञान की जानकारी प्राप्त होती है। उनकी एक और महत्वपूर्ण गद्य रचना " रानी केतकी और कुँवर उदय भानु" की कहानी है जोउर्दू के अतिरिक्त नागरी लिपि में प्रकाशित हो चुकी है। इंशा की गजलें तत्कालीन अवध में बहुत लोकप्रिय थीं। उनकी एक प्रसिद्ध गजल, जो उनकी अंतिम गजल कही जाती है, उनकी दूसरी गजलों में अलग है-

" कमर बांधे हुए चलने को या सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गए बाकी जो है तैयार बैठे हैं ।।
न छेड़ निकहते-बादे- बहारी राह लग अपनी ।
मुझे अठखेलियाँ सूझी है हम बेजार बैठे हैं ।।
तसौव्वुर अर्श परहै और सर है पा-ए-साकी पर ।
गरज कुछ और धुन में इस घड़ी मयखार बैठे हैं ।।
ये अपनी चाल है उफ्तादगी से अब कि पहरों तक ।
नजर आया जहाँ पर साया-ए-दीवार बैठे हैं ।।
भला गर्दिश फलक की चैन देती है किसे इन्शा ।
गनीमत है कि हम-सूरत यहाँ दो चार बैठे हैं।।

झिड़की सही, अदा सही, चीं-बर-जबीं सही ।
सब कुछ सही, पर एक नहीं की नहीं सही ।।
ये जो महन्त बैठे हैं राधा के कुण्ड पर ।
ले के मैं ओढूँ बिछाऊँ या लपेटूँ क्या करूँ ।
रूखी फीकी ऐसी -सूखी मेहरबानी आपकी ।।
लगी है मेंह की झड़ी बाग में चलो झूलें।
कि झूलने का मजा भी इसी बहारमें है ।।[1]

दरबार में बंधे होने के कारण इंशा की प्रारम्भिक कविता दरबारी प्रभाव से युक्त थी किन्तु स्वतंत्र प्रकृति होने के कारण उन्मुक्त

---

1. हुसैन, एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- पृ0- 89-90.

शायरी भी की किन्तु फिरभी बादशाह की खुशी के लिए हेजो । किसी की बुराई। और फहशगोई । गाली गलौज। की भी शायरी की और इसी को अपनी आय का साधन बनाया ।[1] इंशा की रचना का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत है -

" गर तू मुशायरा में सबा आजकल चले,
कहियों अजीम से जरा सँभल चले ।
इतना भी हद से अपनी न बाहर निकलचले,
पढ़ने को सब्ज-ए- यार गजल दर गजल चले ।
बहर रिज न डाल के बहर रमल चले ।। [2]

दिल्ली से लखनऊ आने वाले कवियों में गुलाम हमदामी मुसहफी । 1750 ई0- 1824 ई0। का नाम दो कारणों से बहुत प्रसिद्ध है । एक तो इंशा से मुसहफी की प्रतिद्वन्द्विता के कारण और द्वितीय स्वयं उनकी कविता की विशेषता के कारण । मुसहफी का जन्म सन् 1750 ई0 में अमरोहा में हुआ था । मुसहफी सत्रह-अठारह वर्ष की आयु में ही शायरी करने लगे जब नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात दिल्ली वीरान हो गई तब मुसहफी दिल्ली छोड़ कर अवध चले आए, जहाँ इन्हें दरबार में आश्रय मिला ।[3]

इंशा के मुसहफी की साहित्यक प्रतिद्वन्द्विता होती रहती थी, और वे एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे । मुसहफी के आठ

---

1. हुसैन, एहतेशाम - उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - पृ० - 89,
2. खाँ इंशाउल्ला - दरिया-ए- लताफत-पृ0- 64,
3. मुसहफी, गुलाम हमदानी- तजकिरा-हिन्दी-पृ0- 5,

काव्य संग्रह प्राप्त होते हैं । इनमें गजलें, कसीदे, मसनवी आदि भी कुछ मिलते हैं । मुसहफी ने फारसी में तीन और पुस्तकें लिखी हैं जिनमें फारसी तथा उर्दू के कवियों के जीवन चरित्र और उनकी रचनाओं पर आलोचना की गई है, उर्दू साहित्य के इतिहास में इन्हें बड़ा महत्व प्राप्त है । क्योंकि उनमें केवल बहुत से कवियों के बारे में ही ज्ञान प्राप्त नही होता परन्तु उस समय के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है । इन ग्रंथों के नाम इस प्रकार है -"अंकदे सुरैया" "तजकिरा-ए-हिन्दी "और" रियाजुल-फुसहा" । इनमें मुसहफी ने अपने व्यक्तिगत विवरण भी प्रस्तुत किए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने फारसी में भी अनेक संग्रह एकत्र कर लिए थे परन्तु उनमें से अधिकांश नष्ट हो गए । मुसहफी उर्दू के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते है । उनकी गजलों में भावुकता सादगी और कलात्मक निपुणता पाई जाती है । उदाहरणार्थ -

सोते ही हम रह गए अफसोस हाय ।
काफिला यारों का सफर कर गया ।।
किस्सा कहूँ क्या दिले-बीमार का ।
इश्क की तप थी न बचा मर गया ।।
तेरे कूचे हर बहाने मुझे दिन में रात करना ।
कभी इससे बात करना कभी उससे बात करना ।।
मैं एतमाद करूं किसी आशनाई पर ।
कोई किसी का जमाने में आशना भी है ।।

क्या जानते थे हम कि खफ़ा होगा बाग़बाँ ।
गुलशन में ले गईं थी नसीमे सहर हमें ।।
जो सैर करनी है कर ले, कि जब खिज़ाँ आई।
न गुल रहेगा चमन में, न खार ठहरेगा ।।
यही है लूट तो दस्तें जुनूं के हाथों से ।
न एक मेरे गरीबाँ में तार ठहरेगा ।।[1]

मुसहफी की प्रसिद्ध कृति "रियाजुल-फुसहा" अवध में बहुत लोकप्रिय हुई ।[2] यद्यपि मुसहफी दिल्ली से अवध आ गए थे किन्तु इन्हें अपने शहर की याद सदैव आती रही, जैसा इन पंक्तियों से स्पष्ट है-

" या रब शहर अपना छुड़ाया तूने,
वीराने मुझको ला बिठाया तूने ।
मैं कहाँ और कहाँ ये लखनऊ की खिलकत,
ऐ वाये ये क्या किया खुदाया तूने ।।[3]

गुलाम हमदानी मुसहफी सन् 1783 ई0 में लखनऊ आए, और इन्हें नवाब आसफउद्दौला ने विशेष संरक्षण प्रदान किया था।[4]

इंशा के मित्रों में एक सआदत यार खाँ नामक दिल्ली का सैनिक था रंगीन उनका उपनाम था । उन्हें इधर उधर घूमने-फिरने का बहुत

---

1. हुसैन, एहतेशाम- उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0-91-92
2. हुसैन, एहतेशाम- उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0-92,
3. सिद्दीकी, अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 169,
4. हुसैन, सैय्यद सुलेमान-लखनऊ के चन्द नामवर शोअरा -पृष्ठ 53,

शौक था । बड़े बड़े अमीरों और नवाबों के दरबारों में इनका आदर होता था । अन्त में यह नौकरी छोड़कर घोड़ों का व्यापार करनेलगे थे और इसी सिलसिले में इंशा के साथ अक्सर लखनऊ आते थे । जैसा उनका उपनाम था वैसा ही उनका स्वभाव भी था । चूँकि उन्हें एक विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त था अतः वह शेरो-शायरी में अपना जीवन व्यतीत करने लगे । उनके विचारो में कोई गम्भीरता नही थी लेकिन उनकी कविताएँ और पुस्तकें बड़ी संख्या में हैं, कई रचनाएँ फारसी में भी है सन् 1834-35 में इनकी मृत्यु हुई थी । उनकी पुस्तकों में चार काव्य-संग्रह , कई मसनवियाँ तथा एक पुस्तक "मजलिस-ए-रंगीन" के नाम से प्रसिद्ध है जिसमे उन्होनें शायरों, मुशायरों और उनके साहित्यिक जमघटो का उल्लेख किया है । इस पुस्तक में उस समय के जीवन परभी अच्छा प्रकाश पड़ता है । " रंगीन" के फारसी संग्रह में भी प्रत्येक प्रकार की कविताएँ मिलती है । उनकी गजलें कोई विशेषता नही रखती । वास्तव में "रंगीन" कोजेकुछ महत्त्व उर्दू साहित्य में प्राप्त है वह इसीलिए है कि उन्होनें स्त्रियों कीभाषा में उन्हीं के जीवन से सम्बन्धित समस्याओं पर बहुत सी कविताएँ लिखी और यह दावा किया कि वही इस शैली के जन्मदाता है । "रंगीन" ने इस कविता को "रेख्ती" से संबोधित किया है । उदाहरणार्थ -

चलो चल कर कुतुब साहब में झूले डाल कर झूला ।
दुगाना मेंह बरसता है, म्हीना है ये सावन का ।।
कोई पीस कर खूब- सी लाल मिर्चें ।
तरे दोनो दीदो में भर जायें आसूं ।।
नन्हे से कलेजे को क्या इसके हुआ लोगों ।
कुछ इन दिनो रहती है दिलगीर मेरी छू-छू ।।

जो तरे पास से आता है, मैं पूछूं हूं यही ।

क्यों जी कुछ जिक्र हमारा भी वहां रहता है ।।[1]

रंगीन के सम्बन्ध में इंशा ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ दरिया-ए-लताफत में लिखा है, कि , इस बेचारे रंगीन का भी किस्सा इसी प्रकार का है, भला कोई उससे पूछे कि, तेरा बाप तो रिसालदार था, तुझे शायरी कहां से आ गई ।[2] इंशा ने रंगीन की बहुत बुराई की, किन्तु रंगीन का योगदान उर्दू कविता के विकास में किसी से कम नहीं माना जा सकता है । रंगीन का जन्म सन् 1757 ई0 में दिल्ली में हुआ था तथा मृत्यु सन् 1835 ई0 में लखनऊ में हुआ था ।[3] रंगीन की गजलें अवध में बहुत लोकप्रिय हुईं ।

दिल्ली से अवध आने वाले शायरों में अंतिम शायर का नाम नसीम देहलवी ( 1794 ई0- 1864 ई0 ) था । हसरत तथा अन्य लेखकों के अनुसार नसीम देहलवी की प्रकृति स्वतंत्र थी तथा इनका अन्दाज सूफियाना अन्दाज था ।[4] नसीम देहलवी नवाब वाजिदअली शाह के समय में लखनऊ आए ।[5] नसीम देहलवी ने भी उर्दू कविता के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । नसीम देहलवी की रचनाओं का एक उदाहरण

---

1. हुसैन एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0-91-92,
2. खाँ, इंशा उल्ला- दरिया-ए-लताफत-पृ0- 64,
3. सक्सेना, रामबाबू-ए-हिस्ट्री आँफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 93,
4. सिद्दीकी , अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान -ए- शायरी-पृ0- 171,
5. सिद्दीकी, अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0-207

प्रस्तुत है -

" दिल ही तो है क्या अजब बहल जाय,

कुछ जिक्र करो, इधर उधर का,

आराम कहाँ नसीब हमको,

खटका दर पेश है सफर का ।[1]

नसीम देहलवी लखनऊ के प्रसिद्ध प्रेस नवल किशोर प्रेस के उर्दू अनुवादक थे ।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि,अवध में उर्दू कविता के विकास में दिल्ली से आए हुए कवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, इनकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि, इन्होनें उर्दू शायरी के एक नवीन युग का सूत्रपात किया था। सिराजउद्दीन खाँ आरजू के शिष्यों ने उर्दू काव्य पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर ली, सौदा मीर सोज इस चरण के मुख्य अग्रदूत हैं । इसके अतिरिक्त मिर्जा जाफर अली हसरत , मीर हैदर अली अली हैराँ, ख्वाजा हसन, मिर्जा फाकिर मकीन, मीर जाहिक, बकाऊल्लाह खाँ बका, मीर हसन देहलवी इत्यादि विद्वानों ने अवध में प्रवेश कर उर्दू साहित्य को समुन्नत किया । जुर्रत, इंशा मुसहफी, कातिल और रंगीन की कविताओं का चरमोत्कर्ष अवध में ही हुआ ।[3] अतः उर्दू कविता के विकास में इनका योग्दान अविस्मरणीय है।

---

1. सिद्दीकी ,अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 208,
2. सक्सेना, रामबाबू-ए- हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 152,
3. मुसहफी, गुलाम हमदानी-तजकिरा-हिन्दी-पृ0- 68,

यहाँ तक जिन कवियों का उल्लेख किया गया, उनकी आयु का एक बड़ा भाग कहीं और बीता, लेकिन अपने जीवन के अंतिम क्षणों में यह लोग-लखनऊ के ही हो गए । उर्दू साहित्य के इतिहासकार इन कवियों को दिल्ली और लखनऊ दोनों में गिनते हैं । इन लोगों की रचनाएँ दिल्ली के रंग से थोड़ा हटी हुई हैं, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये लखनऊ केन्द्र के कवि थे । यह बात अवश्य है कि, इन्होंने काव्य रचना को जिस डगर पर डाल दिया था वह सर्वथा नया था।

दिल्ली का मुगल राज्य शताब्दियों की उन्नति और प्रतिभा के बाद विनाश की ओर अग्रसर था, अतः दिल्ली के कवियों की भावना नैराश्य-पूर्ण थी और हृदय की गहराई से उत्पन्न होती थी । लखनऊ की परिस्थिति इससे भिन्न थी, यहाँ नया-नया राज्य स्थापित हुआ था, जो वाह्य रूप से उन्नति की ओर बढ़ रहा था । दिल्ली के मुकाबले में यहाँ शांति भी अधिक थी और लोग एक प्रकार से अच्छी आर्थिक दशा में थे । उस समय के कवि और अन्य कलाकार इतिहास की गति से अनभिज्ञ थे । वे नहीं जानते थे कि जो घुन दिल्ली को खा रहा है वही लखनऊ को भी खा रहा है इसीलिए वे इस चढ़ते हुए सूर्य के प्रकाश में खो गए और सुन्दरता के वाह्य रूप के पुजारी बन कर अपनी कविता को उन्होंने वह सुन्दरता नहीं दी जो हार्दिक भावों को प्रकट करने के लिए आवश्यक होती है । इसके अतिरिक्त कवियों को जो संरक्षण और सम्मान दिल्ली में नहीं मिल रहा था, वह अब लखनऊ में प्राप्त था । इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे यहाँ

के जीवन में घुल-मिल जायें और समस्याओं को एक नई दृष्टि से देखें । इसमे सन्देह नहीं कि यह दृष्टि एक प्रकार की बनावट रखती थी और गम्भीर से गम्भीर विषयों को केवल ऊपर से ही देखती थी । इसका प्रभाव भी उस समय के साहित्य पर देखा जा सकता है । इसके अतिरिक्त लखनऊ के नवाब और बादशाह मुसलमानों के उस समुदाय से सम्बन्धित थे जिन्हें "शिया" कहा जाता था ।[1] उनकी वैचारिक दृष्टि और रीति-रिवाज दूसरे मुसलमानों से अलग थी । वे मुसलमानों के नबी, उनकी सुपुत्री, उनके चचेरे भाई और दामाद हजरत अली तथा दो नाती इमाम हसन और इमाम हुसैन से असाधारण प्रेम रखने के कारण उनके जन्म और मृत्यु से सम्बन्धित दिवस बड़े उत्साह और धूम-धाम से मनाते है । विशेषकर इमाम हुसैन की शोक-प्रद शहादत की याद में प्रत्येक वर्ष के कई महीने शोक और विलाप में व्यतीत करते हैं । अपने लौकिक जीवन को भी किसी न किसी प्रकार से उन्हीं महान पुरूषों के जीवन से सम्बन्धित करके अपने दुख औरसुख के हर अवसर पर उन्हे याद करते और उससे नैतिक बल प्राप्त करने की चेष्टा करते थे ।[2] साहित्य के कई रूप इसी धार्मिकता के परिणामस्वरूप विकसित हुए थे जैसे- मर्सिया, नौहा, सलाम इत्यादि ।[3]

ये सारी बातें लखनवी साहित्य को एक नवीन मार्ग पर चलाने के लिए पर्याप्त थे । इसके अतिरिक्त भाषा की भिन्नता ने भी इस नवीनता

---

1. रिज़वी, डॉ0 अतहर अब्बास- शियाइज़्म इन इण्डिया-129,
2. हुसैन, डा0 एजाज-उर्दू शायरी का समाजी पसमंजर-40,
3. सिद्दीकी अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान -ए- शायरी-पृ0-206

को प्रकट करने में सहयोग दिया । निःसन्देह लखनऊ की बोलचाल की भाषा पर अवधी की नम्रता और मीठेपन का प्रभाव भी पड़ा था । जिस प्रकार यहाँ की सभ्यता में एक प्रकार की सूक्ष्म सुन्दरता पाई जाती है उसी प्रकार यहाँ की बोलचाल से भी कोमलता का आभास होता था । कुछ शब्दों की ध्वनि, कुछ स्त्रीलिंग और पुल्लिंग, कुछ मुहावरे एक दूसरे से भिन्न थे और साहित्य का कोई आलोचक जो गहरी दृष्टि से दिल्ली और लखनऊ की कविता को देखना चाहता है, इसे अनदेखा नहीं कर सकता इस प्रकार लखनऊ और दिल्ली की कविता में कई रँग मिलते हैं । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जो त्रुटियाँ लखनऊ में थी वह दिल्ली में नहीं पाई जाती थी या जो विशेषताएँ दिल्ली में मिलती है, उनसे लखनऊ का समस्त साहित्य वंचित था ? हम केवल यह कह सकते हैं कि कुछ भावनाएँ और उन भावनाओं के प्रकट करने का ढंग एक जगह कम और भिन्न है तो दूसरी जगह अधिक । संभवतः वैचारिक अन्तर अधिक न होते हुए भी शैलियों का अंतर कभी-कभी एक मौलिक भेद का रूप धारण कर लेता है, जिसे एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता ने और रूढ़ बना दिया लेकिन फिर भी 18 वीं शती के अंतिम दशक तक लखनऊ के कोने-कोने में मुशायरे होते थे और कविता की भावनाएँ प्रत्येक श्रेणी के लोगों में इस प्रकार बस गई थी कि अपढ़ लोग तक काव्य की रचना कर लेते थे और कविता की सुन्दरता से आनन्द प्राप्त कर सकते थे ।[1]

---

1. हुसैन, डॉ० एजाज- उर्दू शायरी का समाजी पसमंजर- 41,

लखनऊ केन्द्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम "नासिख" और "आतिश" के नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। वास्तव में लखनऊ केन्द्र को जो व्यक्तित्व और महत्ता प्राप्त है, वह इन्ही दो कवियों और विशेषकर "नासिख" को माना जाता है उन्हे एक प्रकार से "साहित्यक अधिनायक" कहा जा सकता है, क्योंकि साहित्य जगत में उनकी अधीनता केवल लखनऊ ही के लोग स्वीकार नहीं करते थे, बल्कि दिल्ली के बड़े-बड़े साहित्यकार भी उनका लोहा मानते थे।[1]

"नासिख" का नाम इमामबख्श था। उनका जन्म फैजाबाद में हुआ था। नासिख थोड़े ही समय में इतने अधिक प्रसिद्ध हो गए कि लखनऊ के बड़े-बड़े राज्याधिकारी और अमीर उनके शिष्य बन गए। "नासिख" ने कभी राज-दरबार से अपना नाता नही जोड़ा, परन्तु उनके चारों और राजदरबार का ही वातावरण था। इसलिए वे इस बात के लिए विवश थे कि, दरबारी नियमों का पालन करें, जब वे आत्मभिमान के कारण ऐसा न कर सके तो उन्हें लखनऊ छोड़ना पड़ा। उन्होनें कुछ समय इलाहाबाद में भी व्यतीत किया। वहाँ वे दाराशाह अजमल में रहते थे, अपनी कविता में अनेक स्थलों पर इसकी चर्चा की है उदाहरणार्थ -

हिर फिर के दायरे में रहता हूँ मैं फुदम।
आयी कहाँ से गरदिशे- परकार पाँव में।।
तीन त्रिवेणी वो दो आँखें मेरी।
अब इलाहाबाद भी पंजाब है।[2]

---

1. हुसैन, डॉ० सैय्यद सुलेमान-लखनऊ के चन्द नामवर शोयरा-पृ०-47
2. हुसैन, एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ०-95,

इसी प्रकार उन्हें लखनऊ छोड़कर फैजाबाद बनारस और कानपुर में भी रहना पड़ा लेकिन उन्होनें कभी बादशाह की सराहना में एक भी कविता नही लिखा । नवाब गाजीउद्दीन हैदर ने उन्हे "कविराय" की उपाधि देनी चाही लेकिन उन्होनें अस्वीकार कर दिया । नासिख का यश दूर-दूर तक फैला और महाराजा चन्दू लाल-शादा "ने जो निजामेल्टकन के दीवान थे, दस बाहर हजार रुपया भेज कर हैदराबाद बुलाना चाहा लेकिन इसके लिए वे तैयार न हुए । सन् 1833 में इनकी मृत्यु हो गई ।[1]

नासिख ने तीन काव्य संग्रह लिखे जिनमे से दो बहुत प्रसिद्ध है। इन्होनें धार्मिक विषय पर एक मसनवी भी लिखी थी जिसका नाम "सिराज-नज्म" है ।[2] यह भी कहा जाता है कि इन्होनें व्याकरण और काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में भी छोटी-छोटी पुस्तके लिखी थी, किन्तु निश्चित रूप से इनका पता नही चलता । "नासिख" "एक गजल लिखने वाले कवि थे और इसी शैली के कारण वे प्रसिद्ध हुए । नासिख भाषा के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी काव्य शास्त्र के निपुण विद्वान थे । उनकी कविताओं में बनावट और अलंकारो का प्रयोग अधिक पाया जाता है । इसलिए उनकी गजलें बहुधा रूखी और नीरस प्रतीत होती है । अगर कविता केवल शब्दों के शुद्ध प्रयोग का नाम होता तो "नासिख" से बड़े बहुत कम कवि निकलते, लेकिन भावनाओं की कमी और गम्भीरता के न होनेसे उनकी कविता

---

1. हुसैन, एहतेशाम, -उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0-96,
2. अहमद, कलीमउद्दीन- उर्दू शायरी पर एक नजर-पृ0- 92,

हृदय पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ती । इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी कविता अच्छे शेरों से एकदम खाली है बल्कि वास्तव में किसी प्रकार की स्पष्ट त्रुटि न होते हुए भी उनकी कविता बेजान सी जान पड़ती है।[1] भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ किया उससे भाषा को लाभ भी हुआ और हानि भी । हानि यह हुई कि उसके विकास की दिशाएँ सीमित हो गईं और कवियों का पूर्ण ध्यान विचार के बदले शब्दों और अलंकारों पर केन्द्रित हो गया । और लाभ यह हुआ कि भाषा के प्रयोग में एक प्रकार की समानता आ गई और एक ऐसा नियम प्रतिपादित हो गया जिससे विमुख होना काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विरूद्ध ठहरा । संक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि "नासिख" एक कवि के रूप में असफल है, क्योंकि वे भावनाएँ जो कविता का प्रभावशाली बनाती है, बुझी-बुझी सी है इसके विरूद्ध भाषा मुहावरें ,और अलंकार सारी कविता पर इस प्रकार छाए है कि वही उनकी रचनाओं का मूल अंग जान पड़ते है, उदाहरणार्थ -

आज होता है दिला ,, दर्द जो मीठा-मीठा ।
ध्यान आता है तुझे किसके लबे-शीरीं का ।।
सैंकड़ों आहें करूं पर जिक्र क्या आवाज़ का ।
तीर जो आवाज दे, है नक्स, तीरंदाज का ।।
नाजनीनों से करूं क्या खत में नाजुक-मिजाज ।
बोझउठ सकता नहीं मुझसे किसी के नाज का ।।

---

1. सिद्दीकी अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0-207.

तुफां गुल इस बाग में है और शबनम है अजीब ।

हँस के बैठा जो तेरी महफिल मे वो रो कर उठा ।।

बात जिन नाजुक मिजाजों से उन उठती थी कभी ।

बोझ उनसे सैकड़ों मन खाक का क्योंकर उठा ।।

इश्क से नाम नहीं लेते कि सुन ले न कोई ।

दिल ही दिल में उसे हम याद किया करते है ।।

वो नहीं भूलता जहाँ जाऊँ ।

हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊ ।।

किसी का कब कोई रोजे-सियह में साथ देता है।

कि तारीकी मे साया भी जुदा रहता है इंसा से ।[1]

नासिख की भाँति प्रसिद्ध और उतने ही महत्वपूर्ण लखनऊ के दूसरे कवि ख्वाजा हैदर अली थे, जिनका उपनाम "आतिश" था । उनका परिवार दिल्ली के सूफियों का परिवार था । "आतिश" के पिता दिल्ली से फैजाबाद चले आए थे और वहीं "आतिश" ने जन्म लिया । वह एक स्वछन्द और स्वतंत्र प्रकृति के थे तथा सूफी घराने से सम्बन्धित होने के कारण उनमे एक प्रकार संतोष और आत्माभिमान पैदा हो गया था, जिसकी झलक उनकी शायरी में कदम-कदम पर दिखाई देती है । "आतिश" ने "मुसहफी" का शिष्यत्व ग्रहण किया, परन्तु बाद में अलग हो गए । शीघ्र ही "आतिश" बहुत लोकप्रिय हो गए और बहुत

---

1. हुसैन, एहतेशाम-उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- पृ0- 97-98.

से लोग इनके शिष्य हो गए । सन् 1846 में उनका देहान्त हो गया था।[1] आतिश की कविता एक प्रकार से नासिख से मिलती जुलती है । यद्यपि उनकी कविता भी अलंकारों से भरी हुई है, लेकिन उसमें भावनाओं और कल्पनाओं का कुछ भी है, बोलचाल की शुद्ध भाषा में बड़े प्रवाह के साथ मुखर हो उठता है, और भाषा की सुन्दरता के साथ-साथ करुणा की अपार धारायें भी थीं। "आतिश" के जीवन में जो स्वछन्दता, निर्भीकता और सरलता थी वही उनकी काव्य रचना में भी देख पड़ती थी उन्होंने कोई अधिक कविताएँ नहीं लिखी । केवल उनके दो छोटे-छोटे काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं । उनमें गजलों के सिवा कुछ भी नहीं है, लेकिन इन्ही गजलों में वह तसव्वुफ के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और प्रेम के गहरे से गहरे विचार प्रकट करते हैं । उनके यहाँ नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख बार-बार आता है । जिनसे पता चलता है कि वे जीवन में संघर्ष और सुन्दरता की खोज को मानव जीवन का कर्तव्य समझते थे । आतिश का विचार था कि कविता एक कला है, जिससे शब्दों का सुन्दर से सुन्दर प्रयोग होना चाहिए,[2] इसीलिए उनके यहाँ कला के साथ भावनाएँ इस प्रकार सम्मिलित है कि उन्हें अलग नही किया जा सकता, उदाहरणार्थ -

जमीने-चमन गुल खिलाती है क्या क्या ।
बदलता है रँग आसमाँ कैसे कैसे ।।
न गोरे-सिकन्दर न है कब्रे-दारा ।
मिटे नामियो के निशाँ कैसे कैसे ।।

---

1. हुसैन, सैय्यद सुलेमान-लखनऊ के चन्द नामवार शोयरा- पृ०- 241,
2. " " - " " " - पृ० - 242,

बहारे गुलिस्ताँ की है आमद-आमद ।
खुशी फिरते है "बाँगवाँ" कैसे-कैसे ।। [1]

"नासिख" और "आतिश" के बाद उर्दू काव्य का तृतीय चरण प्रारम्भ होता है जिसमे वजीर, जिया, रिन्द, गोया, रश्क, नासिम देहलवी असीर, नवाब मिर्जा, शम्श, पंडित दयाशंकर "नसीम" इत्यादि ने अपने ज्ञान का प्रदर्शन किया , और अपनी रचनाओं में प्रेम, हास्य तथा करूणा को प्रमुख स्थान दिया ।[2] ऐसे समय में जबकि दिल्ली में मोमिन ।1800-1851। जौक । 1789 ई0- 1854 ई0। और गालिब आदर्शवादी और धार्मिक कविताओं का निर्माण कर रहे थे, लखनऊ में शायरोंने प्रेम और आनन्दमयी तथा मनोरंजक कविताओं का निर्माण किया ।[3]

18 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से उर्दू कविता के विकास का वह युग प्रारम्भ होता है, जिसके अन्तर्गत भाषाई एकता सर्वत्र स्थापित हो चुकी थी और लखनऊ समृद्धि के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था । महिलाओं ने भी कवितायें करनी प्रारम्भ कर दीं थी , यहाँ तक कि, अशिक्षित लोगों की बोलचाल में भी कवितापूर्ण, अन्दाज की भाषा तथा उपमा और अलंकार का समावेश हो जाता है । इस युग में अमीर, दाग, तसलीम, मारूज, जलाल,

---

1. हुसैन एहतेशाम उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ0- 100,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर-पृ0 -88- अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन ।
3. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर -पृ0-89, अनुवाद-ई0एस0 हारकोर्ट , फाकिर हुसैन,

लताफत, अफजल, हाकिम, तथा अन्य विद्वानों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।[1]

18 वीं शताब्दी के अवध में उर्दू कविता की मुख्यतः तीन प्रकार की विधायें प्रचलित थी - मसनवी, मर्सिया और हजलगोई अर्थात् हास्य रस की कवितायें।[2]

मसनवी:

उर्दू कविता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा और उर्दू कविता की शक्ति ही मानी जाती है।[3] सल्तनत काल में अमीर खुसरो ने मसनवी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया और प्रख्यात मसनवी "नूहसिपेहर" की रचना की, इसके अतिरिक्त अमीर खुसरो ने एक अन्य मसनवी "तुगलकनामा" की रचना की, इसके अतिरिक्त और भी अनेक मसनवियों की रचना कर मसनवी साहित्य का विकास किया।[4] मुगलकाल में भी मसनवियाँ लिखी जाती रही।[5] 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शम्सुद्दीनवली (सन् 1648 ई0- सन् 1744 ई0) ने भी कुछ मसनवियाँ लिखी तथा मीर तकी मीर ने भी कुछ मसनवी लिखी।[6] परन्तु ये मसनवियाँ इतनी छोटी और संक्षिप्त थी

---

1. हुसैन, सैयद सुलेमान-लखनऊ के चन्द्र नामवर शोयरा-पृ0- 241-265,
2. सिद्दीकी अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 208,
3. हुसैन, डॉ0 युसुफ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति-पृ0- 100-108,
4. हुसैन डॉ0 युसुफ- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति-पृ0- 108-9,
5. हुसैन, डॉ0 युसुफ -मध्यकालीन भारतीय संस्कृति-पृ0- 109,
6. फारूकी, डॉ0 ख्वाजा अहमद-मीर हयात और शायरी-पृ0- 94,

कि उन्हें मसनवियों की श्रेणी में नहीं रखी जा सकती । अवध में मसनवियाँ लिखने की एक निश्चित परम्परा मीर गुलाम हसन "हसन" । 1741 ई0। ने किया और मीर हसन को ही अवध में मसनवी लिखने वाला प्रथम कवि माना जाता है ।[1] मीर हसन की प्रसिद्ध रचना " सहरूल बयान" थी जो सन् 1785 ई0 में पूर्ण हुई ।[2] मीर हसन के पिता का नाम मीर जाहिक था और मीर बचपन में ही अपने पिता के साथ लखनऊ आ गए थे । लखनऊ में इन्होंने अपना स्वयं एक संगठन बनाया और अपनी कविताओं को स्थानीय वातावरण में विकसित किया । मीर हसन ने एक मसनवी " दे नजीर ओ बादरे मुनीर" की रचना की थी जो लखनऊ में बहुत लोकप्रिय हुई ।[3] 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मिर्जा मुहम्मद तकी खान हवस ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी "लैला मजनूं " की रचना की जिसने लखनऊ के लोगों में मसनवी के प्रति विशेष रूचि पैदा कर दी ।[4] इमामबख्श नासिख और मीर आतिश के समय । सन् 1800 ई0 के लगभग । मसनवी की लोकप्रियता अपने शिखर पर पहुँच गई थी ।[5] पण्डित दयाशंकर नसीम । सन् 1811ई0- सन् 1843। की "गुलजार-ए-नवाब", मिर्जा जौक । सन् 1789 ई0- सन् 1804 ई0। की "बहार-ए- इश्क," जहर -ए- इश्क" तथा फरेब-ए- इश्क इत्यादि प्रसिद्ध मसनवियों ने मसनवियों की लोकप्रियता में वृद्धि की ।[6]

---

1. सिद्दीकी अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0-209,
2. सिद्दीकी, अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 209-10,
3. सिद्दीकी, अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 210,
4. अस्करी, मिर्जा मोहम्मद- तारीख-ए-अदब-ए-उर्दू-पृ0- 96,
5. सिद्दीकी, अबू लैस-लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 211,
6. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ:द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर- पृ0- 83,

दिल्ली मे एक प्रख्यात कवि मोमिन खाँ ( सन् 1800 ई0- सन् 1851 ई0) ने भी अनेक मसनवियों की रचना की ।[1] मोमिन की काव्य रूचि बहुत ही शुद्ध विचारधारा की थी । मोमिन ने उपमाओं, अतिशयोक्तियों और काल्पनिक आकांक्षाओं से अपनी मसनवियों को सजा कर आकर्षक बनाया । इसी मोमिन खाँ के शिष्य नसीम देहल्वी ( सन् 1794 ई0- सन् 1864 ई0) जब लखनऊ आए तो उन्होनें अपने गुरू का अनुसरण करते हुए मसनवियों की रचना की जिसमे कल्पना का बाहुल्य था । यह मसनवियाँ इतनी लोकप्रिय होगई कि लखनऊ के अनेक शायर इनके शिष्य बन गए ।[2]

18 वी शताब्दी के अंतिम दशक में लखनऊ में मीर हैदर अली ने एक ऐसी मसनवी की रचना की जो सामाजिक सुधार कीदृष्टि से अतुलनीय थी । इस मसनवी का नाम" साकीनामा शकसकिया" था इस ग्रंथ में मद्यपान के तिरस्कार का वर्णन किया गया है ।[3] मद्यपान को एक सामाजिक अभिशाप घोषित करने का कार्य इस ग्रंथ ने किया । इस प्रकार हम देखते हैं कि, इन लोकप्रिय साहित्यकारो ने मात्र समकालीन सामाजिक व्यवस्थाया को ही नही दर्शाया अपितु उसमे व्याप्त दोषों के निवारण हेतु पाठकों को प्रेरित भी किया।

## मर्सिया-

उर्दू कविता की द्वितीय महत्वपूर्ण विधा मर्सिया है। प्राचीन अरब की

---

1. सक्सेना, रामबाबू, -ए- हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 148-152,
2. सिद्दीकी, अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी =पृ0- 213,
3. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर, पृ0- 84, अनुवाद-ई0- एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,

कवितायें शोकगीत और युद्ध गीत के रूप में अधिक है। फारसी मे शोकगीत बहुत कम था किन्तु बाद में शिया राज्यो में पैगम्बरो और उनके अनुयायियों की मृत्यु के संस्मरण को पुनर्जीवित करने के लिए कवियों ने शोकगीतों का संकलन करना प्रारम्भ किया। मौलाना मुहतशिम काशी ने एक प्रसिद्ध मर्सिया संकलित की जो कुछ भी पद्यों की थी ।[1] तत्पश्चात् मुस्लिम कवियों मे यह आम प्रथा हो गई कि, वह इमाम हुसैन की शहादत पर मर्सिया लिखे । किन्तु फिर भी मर्सिया लिखना अत्यन्त निन्दनीय कार्य समझा जाता था ।[2] कालान्तर मे जब अवध का शिया राज्य सफवी साम्राज्य का धार्मिक उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ तो लखनऊ में मातम को भी बहुत महत्व दिया जाने लगा । परिणामस्वरूप मर्सियाखानी को भी महत्ता प्राप्त हो गई ।[3] वास्तव में लखनवी संस्कृति शिया संस्कृति के उत्थान का साधन बन गई ।

सौदा और मीर के समय मियाँ सिकन्दर, गदा, मिस्कीन इत्यादि मर्सिया के प्रमुख लेखक थे ।[4] इन कवियों ने हजरत इमाम हुसैन की शहादत की स्मृति में छोटी-छोटी कवितायें लिखी जिन्हे मातम के समय पढ़ा जाता था, इसके पश्चात मीर खालिक । सन् 1774 ई0-सन् 1804ई0।

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊः द लास्ट फेस ऑफ एनओरियंटल कल्चर-पृ0-85, अंग्रेजी अनुवाद-" ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिरहुसैन,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ- दलास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ085-86, अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0 हारकोर्ट ,फाकिर हुसैन,
3. हुसैन, सैय्यद सफदर-मर्सिया-बद-ए-अनीस-।शोध प्रबन्ध।,
4. उमर ,डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद-पृ0- 611,

और मीर जमीर ने भी मर्सिया लेखन का विकास किया ।[1] मीर जमीर के शिष्य मिर्जा दबीर । 1803 ई0-सन् 1875 ई0। तथा मीर खलीक के पुत्र मीर अनीस । सन् 1802 ई0- सन् 1874 ई0। ने तो मर्सिया लेखन में ऐसी उच्च कोटि की रचनाएँ की कि, वे सूर्य और चन्द्र के समान उर्दू कविता और साहित्य में चमकने लगे । मीर, सौदा, आतिश और नासिख में जो विरोधाभास था वह मीर अनीस तथा मिर्जा दबीर पर केन्द्रित हो गया ।[2] मिर्जा दबीर ने भाषा के महत्व तथा उच्च विचारों के प्रकट करने में अपनी कला का प्रदर्शन किया जबकि मीर अनीस की शैली सादगी और स्पष्टवादिता से प्रभावित थी । मीर अनीस ने मर्सिया लेखन में एक विशेष कला बनाई जिसे मर्सियाख्वानी कहा गया ।[3] प्राचीनकाल में कुछ ग्रीक कवियों ने भी ऐसा ही प्रयत्न किया था, जैसे अपनी भाषा को प्रभावशाली बनाने मे और अपनी आवाज को ऊँची -नीची करने तथा उसमें भिन्नता लाते हुए अपनी ध्वनि को प्रभावित किया जाय ।[4] इस्लाम के दीर्घकालीन युग में मीर अनीस ही ऐसा व्यक्ति था जिसनेइस कला को विकसित किया ।[5] शब्दो की ध्वनि में वांछित परिवर्तन लाने की कला तथा एक दूसरे के प्रभाव के समायोजित करने एवं शक्तिशाली बनाने में मीर अनीस ने अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया, और मर्सिया को उर्दू काव्यमें एक प्रतिष्ठित स्थान

---

1. सक्सेना, रामबाबू-ए-हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 124-125,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 85, अनुवाद-ई0एस0हॉरकोर्ट -फाकिर हुसैन,
3. सक्सेना- रामबाबू,-ए-हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर -पृ0- 129,
4. किदवई, इकरामउद्दीन- लखनऊ: पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट पृ0- 72
5. किदवई, इकरामउद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 72,

पर स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।[1]

हजलगोई -

हजलगोई अर्थात् हास्यरस की कविता को लखनऊ में लाने का श्रेय सईद इमाम अली को प्राप्त है जो मूलतः बिलग्राम (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे और आसफउद्दौला के काल में लखनऊ आए थे ।[2] यद्यपि इनकी रचनाएँ अश्लील है, किन्तु इनमें से कुछ काव्य-सौन्दर्य और भाषा प्रबन्ध तथा परिष्कृत मुहावरों के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं अवध के अंतिम चरण में मियाँ मुशीर ने जो मिर्जा दबीर के शिष्य थे, हजलगोई को उर्दू कविता में लाए ।[3]

हजलगोई की उत्पत्ति का कारण 'तबर्रा' है। वास्तव में शिया मत दो सिद्धान्तों पर आधारित है प्रथम तावल्ला जिसका तात्पर्य पैगम्बर के परिवारों के प्रति प्रेम दिखाना, तथा द्वितीय सिद्धान्त 'तबर्रा' है । जिसका तात्पर्य , उस सम्मानित परिवार के शत्रुओं के प्रति क्रोध, और घृणा की अभिव्यक्ति ।[4] सिद्धान्त रूप में सुन्नी शिया के इस मत से सहमत थे किन्तु वे यह मानते हैं कि पैगम्बर के प्रथम तीन उत्तराधिकारी मानवता के प्रधान और खुदा के प्रतिनिधि हैं । यद्यपि मुस्लिम विद्वानों ने इस मतभेद

---

1. हुसैन, सैय्यद सफदर-मर्सिया अद-ए-अनीस (शोध प्रबन्ध),
2. हुसैन , डॉ० सैय्यद सुलेमान-लखनऊ के चन्द नामवर शायरा-पृ०- 143,
3. शरर, अब्दुल, हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ०- 84, अनुवाद -ई०एस० हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
4. रिजवी, अतहर अब्बास-शियाइज्म इन -इण्डिया-पृ०- 159,

को कम करने का प्रयत्न किया । किन्तु सामान्यत: शिया सम्प्रदाय ने प्रथम तीन खलीफाओं का अपमान और तिरस्कार किया। शिया और सुन्नियों में विरोध का यही मुख्य आधार है। इन्ही दोनों सिद्धान्तो ने लखनऊ के उर्दू साहित्य कोभी प्रभावित किया। तावल्ला ने मर्सिया लिखने की कला अपनाई जब कि ताबर्रा ने हजलगोई का स्वरूप ग्रहण कर लिया। सुन्नी वर्ग के विरोधात्मक दृष्टिकोण के कारण तनाव बना रहता था जिसके परिणाम स्वरूप शीघ्र ही इस कला का पतन हो गया । इस कला का प्रसिद्ध कवि मिर्जा दबीर का शिष्य मियाँ मुशीर था।[1] पहले इसे उपहासपूर्ण समझा गया किन्तु मुशीर ने जिस प्रकार से इसमें मुहावरों का प्रयोग किया, शब्दों को पिरोया तथा शैली निर्धारित की , हास्य रस और उपमाओं का प्रयोग किया, वह सराहनीय है । मुशीर का सर्वाधिक विद्वतापूर्ण कार्य यह था कि उन्होनें अश्लील विषय सामग्री में स्वच्छता प्रदान कर सुसंस्कृत व्यक्तियों के समक्ष रखा । [illegible] मुशीर के पूर्व किसी ने ऐसी प्रतिभा नही प्रदर्शित थी ।[2]

इसी समय एक और कला " रेख्ती " का प्रचार एवं प्रसार हुआ ।[3] अवध में रेख्ती का प्रारम्भ नवाब शुजाउद्दौला के काल से हुआ

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0-85,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरयंटल कल्चर-पृ0-85, अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट फाकिर हुसैन,
3. हुसैन, डॉ0 एजाज- उर्दू शायरी का समाजी पसमंजर-पृ0- 99,

था । रेखती से तात्पर्य महिलाओं की भाषा में काव्य पाठ करना था। पुरूष और स्त्रियों के कथनों और मुहावरों में अन्तर होता था जो अरबी, फारसी में भी है तथा उर्दू में और स्पष्ट है । अरबी और फारसी में यह परम्परा थी कि, यदि एक महिला कविता करती थी तो उसे उसी की भाषा में लिखना था। यदि एक व्यक्ति किसी महिला के द्वारा अपने विचार व्यक्त करता है तो वह महिला की भाषा में किया जाता था, और सुना जाता था । उर्दू मे यदि कोई महिला कविता लिखती थी तो वह पुरूषों की भाषा का प्रयोग करती थी और अपने लिए पुलिंग सर्वनाम का प्रयोग करती थी । यदि कवि का नाम अज्ञात है तो यह कहना कठिन हो जायगा कि यह रचना पुरूष की है या स्त्री की ।[1] 18 वीं शताब्दी में तत्कालीन समय की प्रसिद्ध पुस्तक " फरहंग आसिफिया" मे रेखती के अनेक उदाहरण मिलते है ।[2] कुछ विनोदी नवयुवकों ने तो रेखती काव्य की रचना की । जो महिलाओं की भाषा में थी और रेखता (पुरूष प्रधान) से साम्य रखती थी । मीर हसनने अपनी मसनवी में इसी भाषा का प्रयोग किया है, जहाँ पर अच्छा प्रभाव डालने केलिए आवश्यक था। दिल्ली के मियाँ रंगीन ने भी जो लखनऊ में मुशायरों में भाग लेते थे, इसी शैली को अपनाया ।[3] इस

---

1. सिद्दीकी अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 220,
2. सिद्दीकी अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 220,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद, पृ0- 610,

प्रकार रेखती उर्दू काव्य में स्थापित हुई जिसकी उत्पत्ति तो दिल्ली मे ही हुई, लेकिन पूर्णता अवध में ही आकर प्राप्त हुई। जान साहब [ सन् 1698 ई0- सन् 1780 ई0 ] हजलगोई के लेखक के रूप में रंगीन के उत्तराधिकारी थे।[1] यद्यपि रंगीन के पश्चात बहुत से लेखक हुए किन्तु जानसाहब के समान न थे। जान साहब ने गजल, वसोख्त और दूसरी तरह की कविताएँ इसीशैली में लिखी[2]। यदि रेख्ती मे अनैतिकता और अश्लीलता का वर्णन न होता और इसमें शुद्धता और अच्छे विचारों का वर्णनहोता तो यह कला अत्यन्त लोकप्रिय होती, किन्तु रेख्ती सदैव इसके विपरीत रही। यद्यपि भाषा इससे कुछ समृद्ध हुई किन्तु यह नैतिकता के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

उर्दू कविता का एक विशेष प्रकार "वसोख्त" है, जो एक प्रकार की छः पक्तियों की कामुक स्वभाव की कविता होनी थी जिसे "मुशादा" कहते थे। इन कविताओं की विषय सामग्री में प्रायः एक प्रेमी होता था जो पहले अपने प्रेम का प्रदर्शन करता है। फिर अपनी प्रेमिका का वर्णन करता है, तत्पश्चात प्रेमिका की वादाखिलाफी का। इसके बाद प्रेमी क्रोधित होकर यह कहता है कि वह दूसरे पर मोहित हो गया है। प्रेमी इस काल्पनिक प्रेमिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। इस प्रकार प्रेमी

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊःद लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 88, अनुवाद ई0एस0 हॉरकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ दलास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 89, अंग्रेजी अनुवाद-ई0 एस0 हॉरकोर्ट फाकिर हुसैन,

अपने वास्तविक प्रेमिका में इतनी ईर्ष्या, पीड़ा और वेदना उत्पन्न कर देता है जब तक कि, प्रेमिका का गर्व खण्डित नहीं हो जाता ।[1] इस प्रकार की रचनाएँ लिखने वाले कवि बड़ी भावुक वसोख्त लिखते थे । बाद में बहुत सी वसोख्त दिल्ली में रची गईं उनमें से मोमिन खाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] प्रतिष्ठित लोगों और धनवानों की विलासी प्रकृति ने इस प्रकार की कविताओं को बहुत प्रोत्साहित किया।[3]

अवध में " तुकबन्दी" के द्वारा भी उर्दू शायरी का विकास किया गया । 'तुकबन्दी' कविता के द्वारा होती थी । जब लखनऊ में अशिक्षित वर्ग में कविता की प्रतियोगिता होती थी तो वह बहुत अच्छी-अच्छी कविता में तुकबन्दी करते थे । इस प्रकार से साधारण बोलचाल में भी तुकबन्दी के रूप में बहुत से नवीन विचार बनाए जाते थे ।[4] यही कारण है कि यहाँ के निम्न वर्ग की भी भाषा सुसंस्कृत परिष्कृत और प्रभावशाली शब्दों से युक्त होती थी । इसी समय लखनऊ में एक और कला "ख्याल" अर्थात् कल्पना विकसित हुई । ख्याल के अन्तर्गत लोग उत्कृष्ट और काल्पनिक विचार रखते थे । अनेक महत्वपूर्ण प्रसिद्ध विद्वान इसकला के क्षेत्र में हुए जिन्होंने वास्तविक और प्राकृतिक कविता भी "ख्याल" के रूप में प्रस्तुत की । यह अरब में मूर्तिपूजा

---

1. सक्सेना, रामबाबू, -ए- हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0- 148,
2. सक्सेना- रामबाबू, ए हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर पृ0- 148-149,
3. सिद्दीकी अबू लैस - लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 223,
4. सिद्दीकी ,अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 223-24,

के समय प्रस्तुत की जाने वाली कविता के समान होती थी ।[1] इसी प्रकार की एक अन्य शैली "उंडा" विकसित हुई जिसका उद्देश्य अति महत्वपूर्ण और प्रचलित घटनाओं के सम्बन्ध में कविता करना था।[2] पूर्ण स्वतंत्रता के साथ भावों को स्पष्ट करना इन कविताओं का उद्देश्य होता था। किसी व्यक्ति को वास्तविक रूप से ही दर्शाना चाहे वह व्यक्ति कितना ही अमीरऔर प्रभावशाली हो, इस कला की मुख्य विशेषता थी, इसी प्रकार लखनऊ में एक अन्य शैली " फब्ती" विकसित हुई । लखनऊ के शिक्षित युवक एवं अशिक्षित व्यापारी तथा दुकानदारभी फब्तियाँ कसने में माहिर थे, और वे इस प्रकार फब्ती कसते कि, कोई उनका बुरा भी नही मानता था अर्थात् उसमें भी वे शालीनतायुक्त शब्दों का प्रयोग करते थे । लखनऊ में यह कला इतनी लोकप्रिय हुई की, इस पर एक पुस्तक की भी रचना की गई। मियाँ अमानत ने अपनी रचनाओं में इसका प्रयोग किया है ।[3]

18 वीं शताब्दी के अवध में शायरी का कार्य क्षेत्र वह मुशायरे होते थे जो लखनऊ के अमीर-उमरा आयोजित करते थे । वास्तव में मजलिस-ए- रेखता की भाँति ही लखनऊ में मुशायरे होते थे ।[4] ये मुशायरे अवध के नवाबों के द्वारा भी आयोजित किए जाते थे । अवध के अन्य मुशायरा के आयोजन करने वालों में सुलेमान शिकोह, मिर्जा तकी खाँ, तथा मिर्जा रजाबेग का नाम

---

1. अस्करी, मिर्जा मोहम्मद-तारीख-ए-अदब-ए-उर्दू-पृ0- 132,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ0- 91-93, अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0हॉरकोर्ड, फाकिर हुसैन,
3. सक्सेना, रामबाबू - ए हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर -पृ0- 121,
4. मीर, मीर तकी- तजकिरा नुकातुश शोयरा-पृ0- 50,

उल्लेखनीय है ।[1] मुशहफी ने भी लखनऊ के मुशायरों का उल्लेख किया है, जैसे- मुशायरा सुलेमान शिकोह, मुशायरा अनीस, मिर्जा, हुसैन खान, सदुउद्दीन सद्र, कमरूद्दीन अहमद खॉ, मुशायरा दर खाना, मुशहफी दर लखनऊ, मुनव्वर खॉ, मुशायरा मोतीलाल, सैय्यद जाफर जुबेर, इत्यादि । मिर्जा कातिल और मीर हसन देहलवी भी मुशायरो का उल्लेख अपनी कृतियो में करते है ।[2]

इन मुशायरों में शायर अपने शिष्यों को भी साथ ले जाते थे और श्रोताओं के समक्ष कलाम पढने का अभ्यास कराते थे । अब्दुल कादिर खॉ रामपुरी ने अपने सफरनामें में लखनऊ के एक मुशायरे का जिक्र किया है जो मिर्जा जाफर के घर पर हुई थी ।[3] यह मुशायरे सायंकाल लगभग चार बजे से छः बजे के मध्य सम्पन्न होती थी । ये मुशायरे इतने लोकप्रिय हो गए थे और उनके आयोजक मुशायरे के इतने प्रेमी थे कि शोक के अवसर परभी स्थगित नही होते थे । उदाहरणार्थ - एक मुशायरे के आयोजक मेंहदी अली खॉ आशिक के यहॉ प्रत्येक शुक्रवार को मुशायरा होता था। एक दिन उनके लड़के की मृत्यु शुक्रवार की सुबह हो गई, परन्तु परम्परानुसार तीसरे पहर मुशायरा सम्पन्न हुआ ।[4] परन्तु कालान्तर में समय की यह बाध्यता न रह सकी और विश्राम के समय अथवा अवकाश के दिन ये मुशायरे होने लगे ।[5]

---

1. देहलवी , मीर हसन-मजमुआ मसनवियात-पृ0- 379,
2. देहलवी, मीर हसन- तजकिरा-शोयरा-ए- उर्दू -पृ0- 135,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद-पृ0- 598,
4. देहवल मीरहसन- मजमुआ मसनवियात-पृ0- 379,
5. सिद्दीकी अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी-पृ0- 223,

जिस प्रकार राजनीति में दरबारियों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता और षडयंत्र होते थे उसी प्रकार दरबारी शायरी में भी जलन और प्रतिद्वन्द्विता होती थी जो कभी- कभी बहुत उग्र रूप ले लेती थी । जब कोई शायर किसी दरबार से जुड़ जाता था तो उसका यही प्रयत्न होता था कि, कोई अन्य शायर इस दरबार मे न आने पाये, और अगर किसी प्रकार कोई अन्य शायर आ भी जाता था तो उसे जमने न देते थे । इस कारण उनमें परस्पर जलन, और प्रतिद्वन्द्विता की भावना भड़क उठती जो कभी-कभी संघर्ष का रूप धारण ले लेती और लोग मरने-मारने पर उतारू हो जाते ।[1]

उर्दू शायरी के प्रसिद्ध विद्वान राम बाबू सक्सेना का कथन है कि, अब चूँकि शायरी अमीरों की चापलूसी का एक माध्यम हो गई थी अतः शायर एक दूसरे से सख्त प्रतियोगिता रखते थे और इनके मुकाबले अब सभ्यता और संस्कृति की सीमा से दूर अत्यन्त निम्न श्रेणी तक पहुँच गई । इंशा तथा मुसहफी का संघर्ष उस युग की शायरी के इतिहास पर एक काला धब्बा है ।[2] इंशा और मुसहफी का संघर्ष इतना बढ़ गया कि , शहर कोतवाल को शान्ति के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा । दरबार से सम्बन्ध विच्छेद होने के पूर्व मुसहफी ने नवाब की सेवा में इंशा के सम्बन्ध में एक कसीदा पेश कर सत्यता बताने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे । कुछ समय बाद नवाब सआदत खान के इंशा से भी सम्बन्ध खराब हो गए और उन्हे पदच्युत कर दिया गया । इन दरबारी घटनाओं का प्रभाव अन्य मुशायरों परभी पड़ा और उनमें भी

---

1. कतील, मोहम्मद हसन मिर्जा -रूक्कात-ए- मिर्जा कतील-पृ0- 140,
2. सक्सेना, रामबाबू-तारीख-ए- अदब-ए-उर्दू-पृ0- 176,

प्रतियोगिता होने लगी।[1]

दिल्ली के अधिकांश शायर मुगल दरबार से सम्बद्ध नहीं थे, वे अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुरूप अपने कलाम कहते थे और अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखते थे। अगर किसी अमीर या बादशाह से आर्थिक सहायता लेते भी थे। तो वह भाण्डों का पेशा न अपना कर मात्र यशगान ही नहीं करते अपितु सच्चाई ही कहते चाहे वह उन्हें बुरा ही क्यों न लगे।[2] ख्वाजा बासित एक बार मीर तकी मीर की निर्धनता को देख कर उन्हे हुसामुद्दौला के पास ले गए और सहायता की अपील की। अतः नवाब ने एक रुपया प्रतिदिन देने का आदेश दे दिया, और नवाब ने कहा कि, यह बात लिख कर दे दी जाय ताकि राजकोष से पैसा मिलने में कोई परेशानी न हो। यह सुनकर मीर प्रार्थना पत्र लिखने लगे जो ख्वाजा बासित ने कहा कि यह कलमदान का समय नहीं है। यह सुनकर मीर ख्वाजा के बोलने के तरीके पर नाराज हो गए और नौकरी छोड़ दी। बाद में राजा जुगल किशोर ने अपनी रचनाओं मे सुधार के लिए मीर को रख लिया। किन्तु एक बार मीर ने उनके शेरों को सुधारके भी योग्य न समझ कर काट दिया।[3] इस प्रकार जब तक ये शायर किसी दरबार से सम्बद्ध नहीं थे स्वतंत्र थे किन्तु जब ये शायर किसी न किसी दरबार से सम्बद्ध हो गए तो उन्हें अपनी स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ा और अपनी शायरी को नवाबों की इच्छा के अनुसार शेर कहने पर विवश होना पड़ा। अवध के तृतीय

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात -मीर का अहद- पृ0- 600
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद-पृ0- 601,
3. मीर तकी मीर-मीर की आपबीती-पृ0-103-110, जिक्रमीर- निसार अहमद फारूकी,

नवाब शुजाउद्दौला विलासी प्रकृति का तथा क्रुद्ध स्वभाव का था। नवाब शुजाउद्दौला जब यात्रा भी करता था तो तवायफों के डेरे साथ होते थे। अतः इसका प्रभाव दरबारी अमीरों पर भी पड़ा। अतः शायरी पर भी यह प्रभाव पड़ा।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि, दिल्ली, से आए हुए इन शायरों के साथ ही दिल्ली की पेशेवर औरतें भी फैजाबाद और लखनऊ आ रही थी। इन्हीं लोगों की विलासी प्रकृति के कारण लखनऊ में "रेख्ती" की नींव पड़ी। वास्तव में नवाबी शासन के अंतिम समय की शायरी एक ऐसे समाज की है जो ऐश और आराम में डूबा हुआ था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मुसहफी और जुरंत की शायरी है।

किन्तु जहाँ तक उर्दू कविता का प्रश्न है, उसके विकास का प्रश्न है, निश्चय ही उसकी अभिवृद्धि में मीर तकी मीर, मोहसीन, दबीर, मीर अनीस, नासिख, आतिश, सौदा, रंगीन, मुसहफी, हसरत इत्यादि, का योगदान महत्वपूर्ण है। उर्दू शायरी पर हिन्दी कविताओं का भी प्रभाव पड़ा, क्योंकि उर्दू शायरी में भी भावनाओं की आग को भड़काने के लिए प्रेम का संकेत स्त्री की ओर से कराया गया जो कि हिन्दी काव्य का प्रभाव है। जिस प्रकार हर क्षेत्र में विभिन्न धाराओं का समन्वय हो रहा था उसी प्रकार साहित्य में भी समन्वय हो रहा था। अवध के उर्दू साहित्य की एक अन्य विशेषता यह थी कि, पुरूषों की भावनाएँ, विचार और भाषा स्त्रियोचित प्रधानहो गई, और रेख्ता के बदले में

---

1. सिद्दीकी अबु लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी-पृ0- 32-33,

रेख्ती को प्रमुखता दी गई। दिल्ली की कविता भावनात्मक और अन्तरात्मक थी, जब कि लखनऊ की कविता शाब्दिक और वाह्यात्मक हो गई। किन्तु दिल्ली और लखनऊ की कविता मे जो एक विशेष समानता थी वह यह कि, दिल्ली के कवियों ने भाषा की स्वच्छता और पुष्ठता की जो परम्परा प्रारम्भ की उसे लखनऊ के कवियों ने न केवल बनाए रखा अपितु उसे एक नया स्वरूप प्रदान किया जिसे 'लखनवी अन्दाज' कहा जाता है, और जिसका प्रभाव आज तक लखनऊ में दिखाई देता है। इस प्रकार अवध का साहित्य समृद्ध था।

उर्दू गद्य साहित्य का विकास :

उर्दू कविता की भाँति उर्दू गद्य भी पहले अस्तित्व में नहीं था। काफी दिनों तक फारसी और उर्दू में कविताएं लिखी जाती रही। किन्तु जहाँ तक उर्दू गद्य का प्रश्न है मध्यकाल में सम्पूर्ण भारत में लोग फारसी मे ही गद्य लिखना और पढ़ना पसन्द करते थे, यही कारण है कि अधिकांश धर्म, विज्ञान, और कला की पुस्तकें फारसी मे ही लिखी गई, जिससे उर्दू गद्य का विकास नही हो सका। मध्यकाल में सर्वप्रथम मीर इमाम अली देहलवी ने उर्दू में "बहार दरवेश" लिखा, मौलवी इस्माइल शाहिद ने "तकवैतुल ईमान" "लिखा, जो सुन्नी मत के प्रति श्रद्धा और एकेश्वरवाद के सम्बन्ध में था।[1] किन्तु ये ग्रन्थ साहित्यक दृष्टि से पूर्ण नही थे, इनका उद्देश्य मात्र साधारण भाषा शैली में विषय सामग्री प्रस्तुत करना था जिससे साधारण लोग लाभान्वित

1. फिराक, रघुपति सहाय- उर्दू भाषा और साहित्य-पृ0- 83,

हो सके । उर्दू गद्य लेखन परम्परा में सूफी संतों का भी योगदान महत्वपूर्ण है कुछ विद्वान ऐनुद्दीन गंजुल इस्लाम को उर्दू गद्य का सर्वप्रथम लेखक मानते है किन्तु इनकी रचना अप्राप्य है ।[1] अतः अधिकतर विद्वान ख्वाजा मोहम्मद गेसूदराज को उर्दू गद्य का जन्मदाता और उनकी हस्तलिखित पुस्तक " मेराज-उल-आशिकीन" को उर्दू गद्य कीप्रथम पुस्तक स्वीकार करते ।[2]

वास्तव में 18 वी शती में अवध में उर्दू गद्य साहित्य की उत्पत्ति मिर्जा रजब अली बेग "सरूर" की 'फसाना-ए- आजाएब' तथा अन्य रचनाओं के प्रकाशन से होती है । तत्पश्चात सुरत के शिष्य मोहम्मद बख्श ने "नौरतन" की रचना की ।[3] रजब अली बेग सरूर ने एक लेखक के रूप में अपनी कला प्रदर्शित की, इसीलिए मिर्जा रजब अली बेग सरूर को उर्दू गद्य साहित्य का प्रारम्भिक लेखक माना गया । मिर्जा रजब अली बेग सरूर का जन्म लगभग 1202 हिजरी (1787 ) में हुआ था। इनके पिता का नाम मिर्जा असगर अली बेग था । इन्होंने अपने जीवन में अनेकों ग्रंथों की रचना की जिसमें महत्वपूर्ण कृतियाँ इस प्रकार है - फसाना-ए-इबरत, सरवर सुल्तानी, शिगूफा-ए- मुहब्बत, गुलजार सरवर, सबिस्तान-ए-सरवर, शरर, इश्क, नग्र-नानिसार, चन्द हिकायात मुख्यतसर वतूल इंशा-ए-सरवर, दीवान-ए-सरवर इत्यादि है रजब अली बेग सरूर ने अपनी कृतियों में तत्कालीन 18 वीं शती के अवध के रीति-रिवाजों तथा

---

1. फिराक, रघुपति सहाय- उर्दू भाषा और साहित्य-पृ0- 83-84,
2. हक, अब्दुल - उर्दू की इब्तेदाई नशो व नुमा- पृ0- 16,
3. कादरी, हामिद हुसैन- दास्तान -तारीख-ए-उर्दू-पृ0- 89,
4. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए- आजाएब-पृ0- 12-24,

रहन-सहन का उत्कृष्ट चित्रण किया है ।[1] मिर्जा रजब अली बेग सरूर की प्रसिद्ध पुस्तक फसाना-ए- आजाएब" में जहाँ एक ओर मुसलमानो के "विवाह" जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार का रोचक विवरण मिलता है वही दूसरी ओर उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "फसाना-ए-इबरत" में तत्कालीन उच्च वर्ग के जीवन पर अति सूक्ष्मता से प्रकाश डाला । 'फसाना-ए-इबरत'के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि, अवध के तत्कालीन नवाब।शुजाउद्दौला। कितनी शानौशौकत और विलासिता से अपना जीवन व्यतीत करते थे ।

उर्दू गद्य के क्षेत्र में एक अन्य विद्वान का नाम आता है, प्रसिद्ध सूफी संत मौलवी सैय्यद अब्दुर्रहमान लखनवी । इन्होंने ने भी अनेक पुस्तकों की रचनाएँ की जिसमे सर्वप्रमुख हैं -" रिसाला कलमतुल "हक" और " सरतुल इन्सान" जो तत्कालीन समय में बहुत प्रसिद्ध हुई ।[2] इस प्रकार हम देखते है कि लखनऊ में उर्दू गद्य के विकास में पूर्व की भाँति सूफी संतो, का सराहनीय योगदान था । मौलवी गुलाम इमाम साहब ने भी एक पुस्तक" मीलाद-ए-शरीफ" लिखा जिसे अवध के निवासियों ने बहुत पसन्द किया । यह पुस्तक अपने धार्मिक स्वरूप के कारण आज भी प्रचलित है । इस प्रकार यद्यपि आधुनिक उर्दू गद्य की उत्पत्ति दिल्ली में हुई किन्तु आधुनिक उर्दू गद्य शैली का चरमोत्कर्ष लखनऊ में ही हुआ और हास्यपूर्ण तथा हृदय ग्राही शैली की रचना विशेषता यही से प्रारम्भ हुई।[2]

---

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाएब-पृ0- 14,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस ऑफ एनओरियंटल कल्चर- पृ0- 90, अंग्रेजी अनुवाद -ई0 एस0 हॉरकोर्ट, फाकिर हुसैन ।

## उर्दू नाटक साहित्य :

उर्दू नाटक साहित्य में भी अवध का योगदान विशेष स्थान रखता है । अरबी और फारसी साहित्य में नाट्यकला का समावेश नहीं है । यद्यपि उर्दू फारसी से ही उत्पन्न हुई है किन्तु उर्दू साहित्य में नाट्य साहित्य पर भी ध्यान दिया गया ।[1] भारत में राम और कृष्ण का आदर्श नृत्य, संगीत और गायन के माध्यम से दर्शाया जाता था , जो नाटक और रासलीला के नाम से जाने जाते थे । अवध केअंतिम नवाब वाजिद अली शाह के राज्यकाल में ( सन् 1487 ई0 - सन् 1856 ई0 ) रासलीला का विशेष आयोजन होता था जिसमें नवाब वाजिद अली शाह स्वयं भाग लेते थे ।[2] इसी काल में मियाँ अमानत ( सन् 1815 ई0- सन् 1858 ई0) ने " इन्द्र सभा" नामक नाटक लिखा ।[3] मियाँ अमानत के "इन्द्र सभा" नाटक की सफलता से नाट्य -लेखन अत्यधिक प्रोत्साहित हुआ । अतिरिक्त विषय सामग्री के साथ और उस युग की रूचि तथा रूझान के अनुरूप अनेक नाटकों की रचना की गई ।[4] इस प्रकार उर्दू नाटक की नींव लखनऊ में ही रखी गई, जहाँ से वह सारे भारत में प्रचलित हो गई । जनसाधारण की भाषा होने के कारण इन नाटकों कामहत्वपूर्ण प्रभाव आम जनता पर अवश्य पड़ा होगा क्योंकि इसकी पहुँच अन्य फारसी अरबी व संस्कृत साहित्य से अधिक थी ।

---

1. कादरी, हामिद हुसैन-दास्तान -तारीख-ए-उर्दू-पृ0-95,
2. शाह , वाजिद अली -मसनवी वाजिद अलीशाह-पृ0- 128,
3. सक्सेना, रामबाबू -ए-हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-पृ0-121,
4. शरर , अब्दुल हलीम-लखनऊ : द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 91, अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0हॉरकोर्ट फाकिर हुसैन।

दास्तानगोई :

18 वीं शताब्दी के अवध में लखनऊ में "दास्तानगोई" अर्थात् कहानी सुनाने की भी कला का विकास हुआ । दास्तानगोई वास्तव में अरबी कला थी जहाँ मूर्तिपूजा के समय एकत्रित लोगों के समक्ष कहानी कही जाती थी । कहानी सुनाने की कला भारत में भी अति प्राचीन काल से ही विद्यमान थी और अरबों की "दास्तानगोई" इसी से मिलती जुलती थी ।[1] परवर्ती मुगलकाल में दिल्ली में अफीममची लोग इस कला का आनन्द उठाते थे ।[2] दिल्ली से ही यह कला लखनऊ में आई और इतनी लोकप्रिय हो गई कि, अधिकांश धनवान और अमीर, उमरा अपने यहाँ कहानी कहने वालों को नियुक्त करने लगा । धीरे-धीरे दास्तानगोई जन साधारण में भी लोकप्रिय हो गई।[3] इस प्रकार कहानी सुनने की कला जब विकसित हुई तो कहानी लिखने की भी कला का विकास होने लगा । अवध में ये कहानियाँ जनसाधारण की भाषा उर्दू में कही जाती थी । कहानीकार चार शीर्षकों के अन्तर्गत कहानी कहते- युद्ध, आनन्द, सौन्दर्य और प्रेम । लखनऊ के कहानीकार इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत कहानी कहते थे और इतनी कुशलता के साथ कहानी कहते थे कि, श्रोता उनकी कहानी सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाता था। इन कहानीकारों में शब्दों में चित्रों का चित्रांकन और स्थायी प्रभाव डालने की विशेष क्षमता

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : दलास्ट फेस आफ एनओरियटंल, कल्चर पृ0- 91, अंग्रेजी अनुवाद-ई0 एस0 हारकोर्ट फाकिर हुसैन ।
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ - द लास्ट फेस आफ एन ओरियटल कल्चर पृ0- 92,
3. कतील मिर्जा मोहम्मद हसन- रूक्कात - ए - मिर्जा कतील - पृ0 191,

होती थी ।[1] प्रसिद्ध शायर इंशा ने 18 वीं शती के उत्तरार्ध में सल्क-ए-गौहर " और " रानी केतकी की कहानी" इत्यादि कहानियों की रचना की, जो लखनऊ में अत्यधिक लोकप्रिय हुई । इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध कहानी संग्रह" फसाना-ए-आजायब" की रचना मिर्जा रजब अली बेग" सरूर" ने की जो 1240 हिजरी । सन् 1824 ई0। में पूर्ण हुई इसके अतिरिक्त सआदत अली खाँ । 1798-1814। के काल में "चहार-ए- चमन" तथा नवाब नासिरूद्दीन हैदर । सन् 1827 ई0- सन् 1837 ई0। के काल में गुलदस्ता आजायब-ए- रंग " ले0- जाफर अली आदि कहानी संग्रह की रचना हुई जो लखनऊ में अत्यधिक लोकप्रिय हो गई ।[2] इस प्रकार ऐतिहासिक ग्रंथो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि, लखनऊ की सभ्य स्त्रियाँ और पुरूष विशेषकर अमीर और उनके महल की रानियाँ इन पुस्तकों को पढ़कर अपना मनोरंजन करती थी । उच्च वर्ग के लोगों को तो यह आदत बन गई थी कि, सोते समय उन्हें नींद के लिए कहानियाँ सुनाया जाता था ।[3] स्पष्टतः दास्तानगोई की कला भी लखनऊ में ही विकसित और लोकप्रिय हुई ।

## हिन्दी साहित्य :

जहाँ तक 18 वी शती के अवध के हिन्दी साहित्य का प्रश्न है, अवध की हिन्दी साहित्य नवाबों के शासनकाल में बिखरा हुआ प्रतीत होता है । हिन्दी का अधिकांश साहित्य हमे अयोध्या में ही मिलता है, जो

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियन्टल कल्चर-पृ0-9।
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी का हिन्दुस्तानी मआसिरात - मीर का अहद-पृ0- 566-567 ,
3. " " " " "

हिन्दू संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था । अयोध्या के रामनाथ प्रधान ने 18 वीं शती के उत्तरार्ध में 'राम कलेवा' और अन्य पुस्तकें भी लिखी किन्तु ये पुस्तके ग्राम्य समाज तक ही लोक प्रिय रही । 18 वीं शती मे एक अन्य साहित्यकार तथा विद्वान पण्डित उमा पति द्विवेदी भी थे, जिन्होंनें भी अनेक छोटी मोटी रचनाएँ की । इस काल में एक विद्वान महाराजा मानसिंह थे जिन्होनें अपने अधीन स्थानीय कवियों को सदैव प्रोत्साहित किया।[1]

इसी प्रकार फैजाबाद मे एक विद्वान कवि गुलाम अशरफ उर्फ शेख निसार थे, जिन्होनें एक महत्वपूर्ण प्रेम काव्य" युसुफ जुलेखा" की रचना सन् 1790 ई0 मे की । शेख निसार ने यह ग्रंथ मसनवी शैली में लिखा था । "युसुफ" जुलेखा" की भाषा अवधी है तथा इसमें नवाब आसफउद्दौला की प्रशंसा की गई है। इस पुस्तक के कथानक में अलौकिता की भरमार है।[2] इसी काल में अयोध्या के महन्त और बाबा राघव दास के शिष्य जनकराज किशोरी शरण ने भी कुछ रचनाएँ की थी, किन्तु ये रचनाएँ बृजभाषा में है।[3]

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत 18 वीं शताब्दी के अवध के कवियों मे "बेनी प्रवीन" का नाम भी आता है यह लखनऊ के निवासी बाजपेयी ब्राह्मण थे तथा बल्लभ सम्प्रदाय के बंशी लाल के शिष्य थे । इस युग के नवरस विवेचक आचार्यों में संक्षिप्त लक्षणों और सरल उदाहरणों की रचना के

---

1. फैजाबाद गजेटियर -पृ0- 71-72.
2. डॉ0 नगेन्द्र-हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ0- 341.
3. डॉ0 नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास- 341.

बेनी प्रवीन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बेनी प्रवीन की रचनाओं में श्रृंगार भूषण, नवरस तरंग और नाना राव प्रकाश प्रमुख है। इनमें 'नवरस तरंग' सन् 1817 ई0 में लिखा गया था।[1]

18 वीं शती के हिन्दी साहित्य के मुस्लिम कवियों में सैय्यद गुलाम नबी " रसलीन" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रसलीन का काल सन् 1699 ई0 से सन् 1750 ई0 तक माना जाता है। यह हरदोई के प्रसिद्ध साहित्यिक केन्द्र ( 18 वी शती में ) बिलग्राम के निवासी थे। रसलीन ने सन् 1737 ई0 में " अंग दर्पण " तथा सन् 1742 ई0 में " रस प्रबोध" की रचना की जिनमे क्रमशः नखशिख वर्णन और रस विवेचन का उल्लेख है।[2]

एक अन्य मुस्लिम कवि कासिमशाह ने भी हिन्दी में एक प्रसिद्ध प्रेम काव्य" हँस-जवाहर" की रचना 18 वीं शती के उत्तरार्ध में की। कासिमशाह बाराबंकी जिले के दरियाबाद के निवासी थे। कासिमशाह ने जायसी के पदमावत की ही भाँति " हंस जवाहर" नामक प्रेमकाव्य की रचना की किन्तु यह भाषा की दृष्टि से शुद्ध अवधी भाषा की रचना नही है। इसमे ब्रजभाषा और अवधी भाषा का गंगा जमुनी स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।[3]

---

1. डाॅ0 नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ0- 342-344,
2. डाॅ0 नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ0- 389-390,
3. डाॅ0 नगेन्द्र- हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ0- 410,

हिन्दी साहित्य के एक अन्य कवि बेनी कवि का भी नाम विशेष प्रसिद्ध है । बेनी कवि का उत्कर्ष 18 वीं शती के उत्तरार्ध मे हुआ । बेनी कवि ने राजाओं और अमीरों के लिए मनोरंजन हेतु रोचक हास्य रसमयी सूक्तियों की रचना की । यह रायबरेली के रहने वाले थे ।[1] इसी प्रकार अमेठी के महाराजा प्रताप नारायण सिंह ने " रस कुसुमाकर" नामक एक काव्य की रचना की थी ।[2] एक अन्य महत्वपूर्ण रचना का उल्लेख मिलता "पद्माकर " जिसकी भाषा मिश्रित है और जो अवधी ब्रज, बुन्देलखण्डी, फारसी इत्यादि से मिली जुली है । इसका लेखक एक नागा सन्यासी था, जो शुजाउद्दौला का कमान्डर था।[3]

सूबा अवध के अन्तर्गत प्रतापगढ़ के भिखारी दास नामक कवि का भी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विशेष स्थान है इनका काल सन् 1725 ई0 से सन् 1760 ई0 तक माना जाता है । सन् 1734 से सन् 1750 ई0 तक भिखारी दास प्रतापगढ़ के राजा मेदिनी सिंह के आश्रय में रहे । भिखारी दास की निम्न रचनाएँ प्रमुख है - रस सारांश , काव्य-निर्णय, श्रृंगार निर्णय, छन्दोर्णव पिंगल शब्द नाम कोश, विष्णु पुराण, भाषा, और शतरंज शतिका ।[4] सूबा अवध के अन्तर्गत इटावा के एक अन्य साहित्यकार देवदत्त देव का नाम आता है जिनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है- देव रत्नावली,

---

1. डा0 नगेन्द्र -हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ0- 411,
2. लाला सीताराम जी- अयोध्या का इतिहास-पृ0- 155,
3. वर्मा वीरेन्द्र कुमार- सूबा इलाहाबाद ।शोध प्रबन्ध।-पृ0- 85,
4. डा0 नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ0- 329

भवानी विलास, देव सुधा, भाव विलास, जयसिंह विनोद, देवमाया प्रपंच नाटक इत्यादि ।[1]

इस प्रकार 18 वीं शताब्दी के अवध का हिन्दी साहित्य हमें बिखरा हुआ प्रतीत होता है, वह हिन्दी साहित्य विभिन्न क्षेत्रीय राजाओं के आश्रय में पलने वाले कवियों का है जो मात्र प्रशंसात्मक है और उनका कोई विशेष प्रभाव तत्कालीन समाज एवं संस्कृति पर नहीं पड़ा । वास्तव में अवध में हिन्दी साहित्य का उद्भव एवं चरमोत्कर्ष की अवस्था 19 वीं शताब्दी मानी जाती थी ।

---

1. वर्मा वीरेन्द्र कुमार- सूबा अवध (शोध प्रबन्ध) पृ0- 88,

अध्याय - 2

## 18 वीं शताब्दी के अवध में शिक्षा :

भारतीय समाज ने सदैव शिक्षा की उपादेयता को समझते हुए शिक्षा को प्रोत्साहित किया है । इस्लाम के भारत आगमन और उसके प्रारम्भिक शासकों द्वारा धार्मिक अत्याचारों के परिणामस्वरूप प्राचीन भारत के तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमाशिला जैसे हिन्दू शिक्षा के सुप्रसिद्ध विद्या केन्द्रों का पराभव हो गया । जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा के केन्द्र मंदिरों और मठों के विध्वंस से पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था की अपार क्षति हुई । क्योंकि इनके साथ ही प्राथमिक शिक्षण संस्थाएं संलग्न थी । फिर भी राजस्थान, गुजरात, और दक्षिण भारत के हिन्दू राजाओं ने शिक्षा को समुचित प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान किया । विजयनगर के राजाओं, देवगिरि के यादवों, मदुरा के नायकों ट्रावनकोर के राजाओं, राजपूत नरेशों तथा हिन्दू शासकों ने ऐसी शिक्षण संस्थाओं को राज्याश्रय प्रदान किया । इसके अतिरिक्त मुगलों के भी आगमन ने शिक्षा को पुनरूज्जीवन प्रदान किया, क्योंकि ये मुगल शासक कला, शिक्षा और साहित्य के प्रेमी थे ।

उत्तर भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के पश्चात शिक्षा और साहित्य का प्रधान केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश था । मध्य काल के प्रारम्भ मे अवध के शेखुल इस्लाम मौलाना नसीरूद्दीन सफवी थे ।

मौलाना शम्सउद्दीन यहया, मौलाना अब्दुल कलीम शेरवानी, काजी मुहीउद्दीन कस्तानी, मौलाना इफ्तेखारउद्दीन मोहम्मद गिलानी इत्यादि विद्वानों ने इस केन्द्र को विकसित किया ।[1] शेख नसीरूद्दीन चिरागे देहलवी ने प्रारम्भिक शिक्षा मौलाना अब्दुल कलीम शेरवानी तथा मौलाना अब्दुल कलीम शेरवानी तथा मौलाना इफ्तेखार मोहम्मद गिलानी से ही प्राप्त की थी ।[2] इस प्रकार अवध शैक्षणिक गतिविधियों के लिए पहले से ही प्रसिद्ध था । सुदूर क्षेत्रों से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए अवध आते थे । अवध में शासन की सहायता से मदरसों और मकतबों तथा खनकाहों में विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की जाती थी । अनेक अमीर उमरा भी विद्यार्थियों के रहन-सहन की व्यवस्था करते थे । ये अमीर विद्यार्थियों की सेवा करना एक पुण्य कार्य समझते थे । पूर्वी उत्तर प्रदेश की शिक्षा व्यवस्था को देखकर एक बार मुगल सम्राट शाहजहाँ ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि पूरब हिन्दुस्तान का सिराज[3] है । मुगल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ यह शिक्षा केन्द्र भी पतनोन्मुख हो गया । मुहम्मदशाह के काल में सआदत खान बुरहानुल्मुल्क को अवध का सूबेदार बनाया गया । इसके अन्तर्गत जौनपुर, वाराणसी, गाजीपुर , कटरा व मानिकपुर, ,कोड़ा तथा जहानाबाद आदि क्षेत्र थे । नवाब बुरहानुल्मुल्क ने

---

1. तकी, मिर्जा मोहम्मद-तारीख-ए-आफताब-ए-अवध-पृ0- 128,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 620
3. सिराज ईरान का एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र था- उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद,

सभी नए पुराने मदरसों के वजीफे बन्द कर दिए । नवाब बुरहानुल्मुल्क की इस नीति के कारण शिक्षा व्यवस्था को और भी क्षति पहुँची । नवाब बुरहानुल्मुल्क के पश्चात नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग के समय भी यही स्थिति रही । सन् 1753 ई0 तक शिक्षा की यही स्थिति बनी रही और सरकारी सहायता बन्द रही किन्तु फिर भी मदरसों, मस्जिदों खनकाहों आदि में शिक्षण कार्य चलता रहा ।[1] किन्तु मुल्ला कुत्बुद्दीन के शिष्य मौलवी सैय्यद कुत्बुद्दीन शम्साबाद में अध्यापन कार्य कर रहे थे । मुल्ला निजामुद्दीन सहाल्वी, सैय्यद इनायतउल्ला, मौलवी असगर अली, मीर अब्दुल हादी, सैय्यद गुलाम नबी, हाजी शफीउल्ला खैराबादी, तथा शेख कमालउद्दीन आदि अपने-अपने शिक्षा केन्द्रों में शिक्षा प्रदान करते रहे ।[2] जौनपुर में भी अनेक प्रसिद्ध विद्वान हुए । नवाब सआदत अली खान आदि को भी शिक्षा से कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी । हाँ, कुछ दरबारी अवश्य शिक्षा में दिलचस्पी रखते थे जैसे नवाब इब्राहीमउद्दीन खान, नवाब सरफराजउद्दौला, हसनरजा, आदि दरबारियों ने मौलाना फजल आजमी खाँ की बड़ी सहायता की थी ।[3]

विद्यार्थी जब विद्याध्ययन के लिए विद्यालयों में आते थे तो उनके अभिभावक तीन-चार रूपये माह उनके खर्च के लिए भेजते थे जो कि

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 620-21,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 621,
3. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ0- 621,

18 वीं शती में अत्यधिक धन होता था । धनी छात्र शेष धन मदरसे के कोष में जमा कर देते थे जिससे निर्धन छात्रों को मदरसे से ही भोजन मिलता था । रात्रि को पढ़ने के लिए उस्ताद की ओर से तेल मिलता था । किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया विद्यार्थियों की मदरसे की ओर से प्राप्त होने वाली यह रियायत भी समाप्त प्राय/ होती गई । ऐसी स्थिति में वह विद्यार्थी जो फारसी जानते थे वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ट्यूशन करने लगे, और पढ़ने के समय में अपने गुरू के पास चले जाते थे । किन्तु जो विद्यार्थी फारसी नहीं जानते थे और केवल अरबी जानते थे, वे अत्यधिक परेशान थे, अगर कोई अरबी पढ़ने वाला मिल जाता तभी वह रुकते अन्यथा वह अपने घर वापस चले जाते थे ।[1] विद्वानों और विद्यार्थियों की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए मिर्जा कातिल ने कहा है कि, विद्यार्थियों को बड़ी तंगी की जिन्दगी गुजारनी पड़ती थी और कभी-कभी तो वे पढ़ना ही छोड़ देते ।[2]

उस समय । 18 वीं शती। की परम्परानुसार, प्रत्येक छात्र किसी एक कला में विशेषज्ञता प्राप्त करता था। अतः छात्रों को दूसरे सुदूर स्थानों पर जाकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी । मौलवी फजल अली खाँ सफीपुर से लखनऊ फारसी पढ़ने के लिए आए थे । गणित पढने के लिए छात्रों को दिल्ली जाना पड़ता था ।[3] इस समय की एक अन्य परम्परा के अनुसार वरिष्ठ छात्र

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ0- 627,
2. कातिल, मोहम्मद हसन-रूक्कात, -ए- मिर्जा कतील-पृ0- 58,
3. बिलग्रामी, मीर गुलाम अली- मआसिरूल अकराम-पृ0- 297,

भी नए छात्रों को पढ़ाते थे । इस प्रकार की परम्परा आज भी कहीं- कहीं पर है ।[1] वास्तव में इस युग में शिक्षा प्राप्त करना एक दुष्कर कार्य था, छात्रों को अध्ययन प्राप्त करने हेतु एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाना पड़ता था, जबकि यातायात और अन्य संसाधनों का अत्यन्त अभाव था लेकिन फिर भी छात्र एक स्थान से दूसरे स्थानों पर शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाते थे । जो छात्रों की शिक्षा के प्रतितीव्र रूचि को प्रकट करता है ।

मदरसों, मस्जिदों और खनकाहों में प्रातःकाल ही शिक्षा प्रदान की जाती थी । मदरसों और छात्रावास के छात्रों पर कड़ी नजर रखी जाती थी, उसके चरित्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था और अगर कोई छात्र मदरसे और छात्रावास का अनुशासन भंग करता तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता और कभी-कभी तो उन्हें मदरसे और छात्रावास से निष्कासित कर दिया जाता था । मुल्ला निजामुद्दीन सहालवी ने एक बार एक छात्र को नियम भंग करने के आरोप में मदरसे से निष्कासित कर दिया था ।[2] इस प्रकार स्पष्टतः मदरसों और मकतबों का अनुशासन तथा उनके नियम न केवल कठोर थे अपितु उनका कठोरता से पालन भी किया जाता था।

जहाँ तक इन मदरसों के पाठ्यक्रम का प्रश्न है । पाठ्यक्रमों के सम्बन्ध में 18 वीं शती के ऐतिहासिक ग्रंथों में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता । क्योंकि इस युग की अधिकांश पुस्तके आमोद प्रमोद से ही सम्बन्धित है, किन्तु फिर भी यत्र तत्र अन्य उदाहरणों से इस युग की

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात-मीर का अहद-पृ०- 628,
2. मुआरफ, लाहौर ।मैगजीन। माह दिसम्बर- 1970ई०-पृ०- 242,

शिक्षा के पाठ्यक्रमों पर प्रकाश पड़ता है । वस्तुतः अलग- अलग उस्ताद अपनी रुचि के अनुसार अपने शिष्यों को शिक्षा देते थे । जैसे - इबारत अली खान ने बहादुर अनस निजामी मंजूई की शारी खुसरो और अन्य मसनवियाँ पढी थी अतः वह अपने शिष्यों को वही पाठ्यक्रम देता था, और लेख लिखवाना सिखाता था क्योंकि उस युग में सरकारी नौकरी के लिए लेख लिखना । प्रार्थना पत्र । आवश्यक होता था ।[1] ज्वाहर अली खां के पाठ्यक्रम में कुरान, गुलिस्ता, बोस्तान और अन्य दूसरी फारसी की पुस्तकें शामिल थी । इसके अतिरिक्त युसुफ जुलेखा, मसनवी गनीमत खुशनवीसी , लेख लिखना और कुरान पढ़ना, इत्यादि भी पाठ्यक्रम में शामिल था ।[2] यद्यपि उपरोक्त पाठ्यक्रम मदरसों में प्रचलित थे । किन्तु इस्लामी मदरसों के लिए एक विस्तृत पाठ्यक्रम मुल्ला निजामुद्दीन सहालवी ने बनाया था । वास्तव में जिस समय मुल्ला निजामउद्दीन सहालवी ने अपना " पाठ्यक्रम निजामी" प्रारम्भ किया उस समय शिक्षा की दशा वही दयनीय थी जैसा कि मौलावी अब्दुल हक कहते हैं कि 18 वीं शती मे लोगों में शिक्षा के प्रति रूझान तो थी किन्तु उस समय का पाठ्यक्रम एक सीमित पाठ्यक्रम था । केवल फका, हदीस, तफसील, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र और कुरान पर ही साराभार था । पुस्तकें भी पुरानी ही थी । इतिहास और भूगोल जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर कोई ध्यान नही दिया गया । इन्हीं कमियों को देखते हुए

---

1. बक्श, मोहम्मद फैज- तारीख-ए- फरहबक्श-पृ0-9-10, ।अनुवाद- विलियम हई -अंग्रेजी ।
2. बिलग्रामी, मीर गुलाम अली- मआसिरुल अकराम-पृ0- 210,

मुल्ला निजामउद्दीन ने "पाठ्यक्रम निजामी" बनाया, जिसमें लगभग शिक्षा के सभी पक्षों पर ध्यान दिया गया । यद्यपि तत्कालीन कट्टर धार्मिक वर्ग ने इस पाठ्यक्रम का विरोध किया किन्तु यही पाठ्यक्रम कुछ संशोधन के साथ चलता रहा । यही पाठ्यक्रम लखनऊ के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र फिरंगीमहल में भी लागू रहा ।[1]

लखनऊ की सर्वाधिक प्रसिद्ध मदरसा-मदरसा फिरंगीमहल था जो 18 वीं शताब्दी में न केवल लखनऊ वरन् सम्पूर्ण भारत का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र का मह मल पहले एक अंग्रेज व्यापारी का था जो बाद में और औरंगजेब द्वारा मुल्ला निजामुद्दीन को दान में दिया गया ।[2] मदरसा फिरंगीमहल की स्थापना सिहाली के मुल्ला निजामुद्दीन ने की थी । प्रारम्भ में मुल्ला निजामउद्दीन ने इस मदरसे को अपने हीधर में स्थापित किया था जो फिरंगीमहल के नाम से जाना जाता था। कालान्तर में मौलवी दिलदार अली ने मदरसा फिरंगीमहल को विद्यालयी स्तर से विकसित कर विश्व-विद्यालयी स्तर तक बना दिया।[3]

मदरसा शाह पीर मोहम्मद गोमती नदी के तट पर स्थित लखनऊ का एक प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र था जो उच्च शिक्षा की शिक्षण संस्था थी । शाह पीर मोहम्मद, शेख मोहम्मद आफाक, मौलाना गुलाम

1. उमर, डॉ० मोहम्मद- 18 वीं हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद- पृ०- 630-31,
2. अली, रहमान - तजकिरा-उल्मा-ए- हिन्द-पृ०- 168,
3. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, पृ०- 94, अनुवाद ई० एस० हारकोर्ट ,फाकिर हुसैन ,

नक्श बन्द तथा मौलाना गुलाम यहया । 1673-1760। जैसे प्रसिद्ध विद्वान इसी शिक्षण संस्था के थे । जौनपुर के विख्यात विद्वान मौलाना अब्दुर्रशीद ने भी इसी मदरसे के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की थी । मदरसा शाहपीर नामक शिक्षण संस्था औरंगजेब के काल में । 1658-1707। निर्मित लखनऊ की प्रसिद्ध टीला शाह पीर मोहम्मद की मस्जिद में स्थापित थी ।[1]

इन मदरसों के अतिरिक्त और भी अनेक बहुत से मदरसे तथा मकतब लखनऊ में नवाबी शासनकाल में स्थापित किए गए । लखनऊ में शैक्षिक विकास उस समय तीव्र हुआ जब सन् 1765 ई0 में एक बड़ी शिक्षा संस्था शेख मोहम्मद बिन अबू बक्र द्वारा स्थापित की गई । इस शिक्षा संस्था में बहुत से अध्यात्मवादी एवं धार्मिक विचारक उत्पन्न हुए ।[2] इसी प्रकार एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान काजी अब्दुल कादिर फारूकी ने सन् 1764 ई0 में लखनऊ में एक मदरसा स्थापित किया जिसके अध्यापकों ने दूसरे शहरों में भी जाकर मदरसे स्थापित किए ।[2] इस प्रकार लखनऊ के शैक्षिक विकास । नवाबी शासन में । में इस मदरसे का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । शिक्षा को ऐसा प्रोत्साहन उन्नीसवीं शताब्दी में भी मिलता रहा । अवध के नवाब नासिरूद्दीन हैदर। सन् 1827-सन् 1837ई0। के दरबार के एक वजीर हाकिम मोहम्मद अली खान ने मदरसा सुल्तानिया- की स्थापना की थी । लखनऊ में सआदत अली खाँ के गुम्बद के पास स्थित

---

1. हई, सैय्यद अब्दुल -इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल-पृ0- 182,
2. हई, सैय्यद अब्दुल- इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल-पृ0- 183,
3. खान, हुसैन अली - नजाहत-उल-खवातिर - पृ० - 109

मदरसा सुल्तानियां में विद्यार्थियों के निवास की भी व्यवस्था थी । हाकिम मेंहदी अली खान ने काश्मीरी विद्यार्थियों के निवास की भी व्यवस्था थी । हाकिम मेंहदी अली खान ने काश्मीरी विद्यार्थियों के लिए दस अध्यापकों के साथ इस शिक्षण संस्था को प्रारम्भ किया था जिसमें भोजन और आवास की निःशुल्क व्यवस्था थी । इसके अतिरिक्त एक अन्य लखनऊ का प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र " मदरसा अमजद अली शाह" था जिसकी स्थापना अवध के नवाब अमजद अलीशाह ( सन् 1842 ई0- सन् 1847 ई0) ने की थी यह मदरसा चूंकि शाही था अतः यहाँ के विद्वानों ( अध्यापकों ) को अच्छा वेतन दिया जाता था। मदरसा अमजद अली शाह के दो प्रमुख विद्वान महमूदाबाद के सैय्यद अहमद अली तथा मुफ्ती अब्बास चिश्तरी लखनऊ ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत में विख्यात हुए ।[1]

अवध की राजधानी लखनऊ के अतिरिक्त अवध के अन्य क्षेत्रों में भी बहुत से मदरसे स्थापित किए गए । जैसे- सारंगपुर के हसन द्वारा बरना में 'मदरसा अमेठी' स्थापित किया गया जिसका अध्यक्ष शेख जफर बिन निजामुद्दीन ( सन् 1737 ई0) था। इस विद्यालय के खण्डहर आज भी विद्यमान है। एक अन्य मदरसा मुल्ला जीवान भी अमेठी में ही था जिसके अध्यक्ष मौलाना अब्दुल कादिर थे ।[2]

---

1. हउँ सैय्यद अब्दुल- इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल- पृ0- 184,
2. अलवी, खादिम हुसैन- सुब - ए - बहर -पृ०- 195,

सन् 1733 ई0 में अवध राज्य के अन्तर्गत संडीला में मुल्ला हमीद उल्लाह और उनके पुत्र मौलवी असगर अली ने मदरसा मंसूरिया नामक शिक्षण केन्द्र की स्थापना की । इस मदरसे के प्रसिद्ध विद्वानों में मुल्ला हमीद उल्लाह, उनके पुत्र हैदर अली तथा मौलाना बाउल्लाह सर्व प्रमुख थे । एक अन्य शिक्षण केन्द्र मदरसा बिलग्रामी की स्थापना सन् 1725 ई0 में बिलग्राम में अल्लामा अबुल जलील बिलग्रामी ने की थी, जिसके अवशेष अभी भी विद्यमान हैं ।[1]

सन् 1785 ई0 में गोपामऊ के नवाब अली खाँ ने " मदरसा वाला जाहिया" की स्थापना गोपामऊ में की थी । नवाब अली खाँ ने काजी मुस्तफा अली खाँ को इस संस्था का प्रधान नियुक्त किया था ।[2] गोपामऊ मे ही एक मदरसा" मदरसा काजी कुतबुद्दीन " भी स्थापित किया गया था । प्राचीन ग्रंथ तजकिरातुल उनसब के लेखक इमामुद्दीन अहमद के अनुसार" मदरसा काजी कुतबुद्दीन" में बहुत से नवयुवक शिक्षा प्राप्त करके आये थे । अवध राज्य के ही अन्तर्गत रायबरेली के एक कस्बे सलोन में " मदरसा सलोन" की स्थापना की गई थी जिसे मुगल बादशाहों द्वारा तथा बाद में अवध के नवाबों द्वारा काफी भूमि अनुदान में दी गई जो इस मदरसे के संचालन हेतु पर्याप्त थी ।[3]

---

1. हई, सैय्यद अब्दुल- इण्डिया डयूरिंग मुस्लिम रूल-पृ0- 183,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 94, अनुवाद-ई0 एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन ।
3. काशमीरी, अकबर अली- सबीकतुज-जहाब - पृ0 - 149,

इस प्रकार हम देखते है कि, लखनऊ के मदरसों और मकतबों के विद्वानो ने इस्लामिक धार्मिक ज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की । इन विद्वानों ने अपने प्रयत्नों से धार्मिक साहित्यक, भाषागत, वैज्ञानिक ज्ञान और तर्क दर्शनशास्त्र, प्राकृतिक ज्ञान, गणित, रेखागणित ज्यामिति तथा ज्योतिष आदि के क्षेत्र में लखनऊ को भारत का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र बना दिया । प्रसिद्ध विद्वान मौलवी हैदर अली ने शिया सम्प्रदाय के लिए एक पुस्तक मुन्तहिद-उलकलाम की रचना की जो लखनऊ के शिया समुदाय में बहुत लोकप्रिय हुई । इसी प्रकार मौलवी हामिद हुसैन ने भी सुन्नी सिद्धान्त पर कई पुस्तकों की रचना की जो सुन्नी समुदाय में बहुत लोकप्रिय हुई ।[1] जहाँ तक हिन्दू शिक्षा प्रणाली का प्रश्न है, हिन्दू शिक्षा प्रणाली 18 वीं शती के अवध में पूर्व शिक्षा प्रणाली की भाँति ही चलती रही, अभी भी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही प्रचलित रही और विद्यार्थी उच्च अध्ययन के लिए अवध के बाहर अन्य शिक्षा केन्द्रों में जाते थे ।[2]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 95, अनुवाद- ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. हई, सैय्यद अब्दुल -इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल-पृ0- 183,

अध्याय - 3

नवाबी शासनकाल में संगीत एवं नृत्य कला का विकास :

प्रत्येक युग में मनोरंजन के लोकप्रिय साधन संगीत व नृत्य थे। संगीत को मानव ने प्रारम्भ से ही प्रमुखता प्रदान की।[1] जब मानवीय भावनाएँ किसी कार्य या किसी घटना के प्रभाव से अत्यधिक प्रसन्न हो जाती हैं, तो वे नृत्य करने और हर्षध्वनि करने लगते। यद्यपि धार्मिक भावनाएं किसी अन्य भावनाओं की अपेक्षा अत्यन्त तीव्रता से उद्वेलित होती है, किन्तु सांसारिक भावनाओं में सर्वाधिक विशेष भावनाएँ वह है जो प्रेम के होते हैं। इसीलिए सर्व प्रथम गायन का प्रारम्भ तपस्या और प्रेम के कारण हुआ।[2]

प्रायः संगीत का तात्पर्य गायन से लगाया जाता है, किन्तु संगीत जगत में गायन वादन और नृत्य तीनों को संगीत कहते हैं। वेदों में सामवेद प्रारम्भ से लेकर अंत तक संगीतमय है।[3] प्रख्यात मनीषी शारंगदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "संगीत रत्नाकर" में लिखा है कि, गीतं, वाद्यं, नृत्यं त्रय संगीत मुच्यते" अर्थात् गायन वादन तथा नृत्य तीनों का सम्मिलित रूप से संगीत कहलाता है।[4] जबकि पाश्चात्य देशों में संगीत से तात्पर्य मात्र

---

1. श्रीवास्तव, प्रो० हरिश्चन्द्र- राग-परिचय-पृ०- 202.
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस -ऑफ एन ओरियंटल कल्चर- अनुवाद-ई०एस० हारकोर्ट - फाकिर हुसैन, पृ०- 132.
3. श्रीवास्तव, प्रो० हरिश्चन्द्र - राग-परिचय-पृ०- 116
4. " " - " " - "

गायन और वादन समझा जाता है, नृत्य को संगीत से पृथक रखा गया । गायन, वादन और नृत्य तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, इतना ही नही यह एक दूसरे के पूरक भी है । गायन, वादन करते समय भाव प्रदर्शन के लिए थोड़ा भी है । गायन, वादन करते समय भाव प्रदर्शन के लिए थोड़ा बहुत हाथ चलाना, गाते समय मुखाकृति बनाना, आदि नृत्य के व्यापक अर्थ में इसके अन्तर्गत आते है ।[1] स्पष्टत: संगीत वह ललित कला है, जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को अभिव्यक्त करते है ।

भारत के प्रारम्भिक युग में गायन तपस्या के साथ सम्मिलित था।[2] कहा जाता है कि, सर्व प्रथम ब्रह्म्मा ने सरस्वती को और सरस्वती ने नारद को संगीत की शिक्षा प्रदान की । तत्पश्चात नारद ने भरत को तथा भरत ने " नाट्य शास्त्र" के द्वारा जनसाधारण में संगीत का प्रचार किया । प्रारम्भिक युग के गायक ब्राह्म्मण थे जो तपस्या के समय अपने देवताओं की स्तुति में गाते थे । तत्पश्चात कालान्तर में जब कृष्ण भक्ति का प्रसार हुआ तो कृष्ण के प्रेम में भक्ति, आदर और प्रेम का संगीत स्थापित हो गया । भारतीय शास्त्रकारों ने संगीत को मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया है- मार्गी संगीत और देशी संगीत । मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग बताने वाला संगीत "मार्गी"संगीत" कहलाया और साधारण जनता

---

1. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र - राग-परिचय-पृ0- 117,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, अनुवाद- डॉ0 एस0 हारकोर्ट-फाकिर हुसैन, पृ0- 132

द्वारा प्रयुक्त संगीत " देशी संगीत" कहलाया ।[1]

कालान्तर में संगीत की विभिन्न श्रेणियाँ बनने लगी, विभिन्न प्रकार के राग-रागिनियों का आविष्कार हुआ ।[2] भारतीय संगीत सात स्वरों- षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, एवं बाइस श्रुतियों पर आधारित है, राग की रंजकता श्रुतियों के उचित प्रयोग से ही निखरती है ।[3] कालान्तर में जब ब्राह्म्मण राजाओं की प्रशंसा उनके दरबार में गायन और वादन के रूप में प्रस्तुत करते थे तो वह एक राग विशेष, जो उनकी प्रतिष्ठा को उजागर करती थी, के साथ प्रस्तुत करते थे, जिसे मालकौस, शाहाना, दरबारी आदि नाम दिया गया ।[4] अमीर खुसरो भारतीय संगीत की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए अपने प्रख्यात ग्रंथ नूह सिपेहर में यह लिखते है कि, भारतीय संगीत की समानता संसार के किसी भाग के संगीत से नही हो सकती है। यहाँ का संगीत अग्नि के समान थी जो हृदय तथा प्राणकी अग्नि को भड़का के विभिन्न भागों में लोगों ने आकर भारत में संगीत की शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न किया किन्तु वर्षों के प्रयत्न परभी उन्हें यहाँ के किसी ताल स्वर का ज्ञान न हो सका ।[5]

भारत मे जब मुसलमानो ने यह नूतन संस्कृति के साथ प्रवेश किया तो वे एक संगीत का विशेष स्वरूप भी अपने साथ ले आए जिसे फारसी संगीत कहा जाता था। ये कलाकार सरोद, चंग, बरबत और रबाब जैसे संगीत के

---

1. श्रीवास्तव, प्रो० हरिश्चन्द्र-राग-परिचय-पृ०- 82, 118.
2. शरर , अब्दुल हलीम- लखनऊ : दलास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर, अनुवाद, ई०एस०हारकोर्ट-फाकिर हुसैन, पृ०- 132.
3. वर्मा, हरिश्चन्द्र, मध्यकालीन भारत-पृ०- 535.
4. शरर , अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियटल कल्चर, अनुवाद- ई० एस० हारकोर्ट, फाकिर हुसैन -पृ०- 133.
5. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास- खल्जीकालीन भारत-पृ०- 179.

उपकरणों का प्रयोग करते थे। चंग का सुर ऊँचा और दरबत का सुर नीचा होता था।[1]

यद्यपि इस्लाम में , संगीत और नृत्य दोनों ही निषेध थे किन्तु रूढ़िवादी, परम्परागत और कट्टर मुसलमानों के विरोध के बावजूद भी मुस्लिम समाज का एक बहुत भाग इन कलाओं में रुचि लेता था, उन्हें प्रोत्साहित करता था और उनसे मनोरंजन प्राप्त करता था। संगीत व नृत्य दोनों ही मानव की प्रमुख आवश्यकतायें है। कोई भी संस्कार, उत्सव व त्यौहार संगीत के बिना अधूरा माना जाता था। सुल्तान से लेकर सूफी तक समाज के विभिन्न वर्गों, समुदायों में संगीत का अत्यधिक प्रचलन था।[2] किन्तु जो संगीत मुसलमान अपने साथ भारत ले आए वह अत्यधिक लोकप्रिय नहीं हो सका। ऐसा प्रतीत होता होता है कि, भारत के प्रारम्भिक मुस्लिम शासकों ने अरबी और ईरानी संगीत के प्रचार एवं प्रसार पर कोई ध्यान नहीं दिया। क्योंकि वे अपनी समस्याओं में भी व्यस्त थे और जब वह शासक इस दिशा की ओर अग्रसर हुए तब तक वह संगीत भारतीय हो चुका था। अब ऐसी स्थिति आ गई थी कि मुस्लिम संगीत भारतीय संगीत को प्रभावित करने में सर्वथा असमर्थ हो गया था किन्तु कव्वाली के संगीत ने, जो ईरान से आया था, भारतीय संगीत को व्यापक रूप से प्रभावित किया और उनके बहुत से राग स्थानीय भारतीय संगीत में सम्मिलित हो गए।[3]

---

1. रिज्वी, सैय्यद अतहर अब्बास- खल्जीकालीन भारत पृ0- 114-115,
2. डॉ0 राधेश्याम - सल्तनत कालीन सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास-पृ0-241
3. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ:द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर, अनुवाद ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन, पृ0- 133,

संगीत के क्षेत्र में अमीर खुसरो का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । अमीर खुसरो प्रथम भारतीय मुसलमान थे जिन्होंनें फारसी और भारतीय संगीत स्वरों को आपस में मिलाने का विचार किया और इस प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत को भी सम्पन्न बना दिया । ध्रुपद के अतिरिक्त ख्याल को संगीत का रूप देने का उन्हें श्रेय प्राप्त है । कहा जाता है कि अमीर खुसरो ने निम्न रागों का आविष्कार किया जो नवीन हिन्दू मुस्लिम संस्कृति को प्रस्तुत करते है- मुजिर, सज्गरी , एमान, उश्शाक, मुवाफिक, गजन, जिलफ, फर्गाना, सर्पदा, बखार्ज, कौल, तराना, ख्याल, निगार, बसित, साहना और सुहेला ।[1] खुसरो ने प्राचीन भारतीय वीणा और ईरानी तम्बूरे के मेल से "सितार" का आविष्कार भी किया[2] यद्यपि कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं है। यह भी कहा जाता है कि, उन्होंनें प्राचीन मृदंग का रूप परिवर्तित किया और उसे "तबले" का रूप प्रदान किया ।[3]

मध्यकाल में सूफी आन्दोलन के प्रारम्भ होने से संगीत के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुआ । संगीत को सूफियों की देन"तराना। महफिलें" जो ईरान और इराक में भक्ति के रूप में उपस्थित थी, भारत में भी उसी प्रकार प्रचलित हो गई । हिन्दू गायक जो पहले हिन्दू मन्दिरों में गायक का कार्य करते थे अब मुसलमान और सूफीयों के साथ भक्ति के गीत गाने

---

1. हुसैन, डॉ0 युसुफ- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति-पृ0- 119, अनुवाद -डॉ0 अमर,
2. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र- राग परिचय-पृ0- 198,
3. हुसैन, डॉ0 युसुफ- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति -पृ0- 119, अनुवादक -डॉ0 उमर ।

लगे । यह भारतीय गायक और गायकों की टोलियाँ राजकीय दरबारों से भीप्रभावित थे ।[1] इस प्रकार सूफी सन्तों का संगीत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान था। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, ख्वाजा कुत्बुद्दीन बख्तियार काकी, ख्वाजा फरीदुद्दीन गंजेशकर, निजामुद्दीन, औलिया तथा शेख सलीम चिश्ती जैसे संतों ने ईश्वरीय भक्ति को जागृत करने के लिए सर्वाधिक सशक्त माध्यम के रूप में संगीत का उपयोग किया। तत्कालीन साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण है जिनमे कव्वालों का सूफियों की उपस्थिति में गाने का जिक्र आया है । वास्तव में ईश्वरीय भक्ति में मग्न हो कर संत महात्मा स्वयं नृत्य करने और गाने लगते थे उदाहरणार्थ,चैतन्य । इसी प्रकार भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्तों रामानन्द, कबीर, गुरुनानक, मीराबाई, बल्लभाचार्य, तुलसी, सूर आदि ने भी संगीत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।[2]

मुहम्मद तुगलक के समय में सर्वाधिक प्रसिद्ध गायक शम्सुद्दीन तबरेजी था, जो सभी प्रमुख स्त्री-पुरूषों के संगीतकारों के समूह का प्रमुख था । मध्यकाल मे दौलताबाद के एक ग्राम" तरब आबाद" में मात्र संगीतकार ही रहा करते थे । जहाँ प्रतिदिन संध्याकाल में सभी संगीतकारों की सभा होती थी । जिसमें अरबी, फारसी, तथा भारतीय संगीत के प्रमुख विशेषज्ञ अपनी कला का प्रदर्शन करते थे ।[3] इस प्रकार देशी तथा विदेशी दोनो ही

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ - दलास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर-पृ0-119 अनुवादक -डॉ0 ई0एस0 हारकोर्ट, फाकिरहुसैन,
2. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिशचन्द्र- राग परिचय- पृ0- 198,
3. हुसैन, डॉ0 युसुफ - मध्यकालीन भारतीय संस्कृति- पृ0- 119, अनुवादक -डॉ0 उमर,

कलाओं के सम्मिश्रण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी ।

भारत में मुख्यतः दो प्रकार के संगीत प्रचलित थे । प्रथम - उत्तरी संगीत, जो उत्तरी भारत में प्रचलित था और द्वितीय- दक्षिणी संगीत जो दक्षिण भारत में प्रचलित था।[1] उत्तरी भारत में संगीत के प्रमुख केन्द्र मथुरा, अयोध्या तथा वाराणसी थे । इन स्थानों परसंगीत की कला विशेष रूप से विकसित हुई, क्योंकि यह स्थान पर्यटकों के विशेष केन्द्र थे । जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की पूर्वी, संगीत का प्रेमी तथा उत्कृष्ट गायक था मुगल सम्राट अकबर संगीत का इतना प्रेमी था कि , अपने नौ रत्नों में तानसेन ( सोलहवीं शताब्दी का प्रमुख गायक) को शामिल कर लिया था। भारतीय संगीत तानसेन और उसके परिवार की सक्रिय रूचि के कारण विकास की चरमावस्था पर पहुँच गया था । अकबर स्वयं कुशल संगीतज्ञ थे और नक्कारा बजाने के विशेषज्ञ थी ।[2] अकबर ने उस समय के प्रसिद्ध संगीतकार लाल कुलवंत से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी।[3]

जहाँगीर के काल में भी संगीत में विकास होता रहा ।[4] शाहजहाँ के युग में संगीत की एक पुस्तक" शमूल असवात" प्रकाशित हुई । इसके कुछ ही समय पश्चात एक और पुस्तक "तुहफतुल हिन्द" प्रकाशित हुई, जो संगीत के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है । इसमें ज्योतिष, विज्ञान

---

1. चोपड़ा, पुरी, दास-भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इतिहास- पृ0- 225,
2. हुसैन, डा0 युसुफ - मध्यकालीन भारतीय संस्कृति-अनुवादक -डा0 उमर,
3. चोपड़ा, पुरी, दास- भारत का सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक इतिहास- पृ0- 226,
4. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र-रागपरिचय-पृ0- 197,

तथा जादू-टोने से भी सम्बन्धित अनेक लेख प्रस्तुत किए गए हैं । इस पुस्तक में भारतीय संगीत का भी विवरण प्रस्तुत किया गया ।[1] शाहजहाँ के पश्चात मुगल सम्राट औरंगजेब अपनी राजनैतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक समस्याओं में अत्यधिक व्यस्त रहा और संभवतः इसी कारण उसे संगीत की ओर पर्याप्त ध्यान देने का अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ, अतः औरंगजेब संगीत केप्रति उदासीन ही रहा । यद्यपि औरंगजेब के पश्चात मुगल साम्राज्य कापतन होना प्रारम्भ हो गया था किन्तु जहाँदारशाह से लेकर बहादुरशाह "जफर" तक लगभग सभी परवर्ती मुगल शासक संगीत प्रेमी थे ।[2] विदेशी पर्यटक टेरी यह लिखता है कि, प्रारम्भिक मुगल शासकों द्वारा संगीत को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त संगीत सदैव सभी वर्गों द्वारा प्रोत्साहित होता रहा ।[3]

मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के शासनकाल के प्रसिद्ध संगीतकार अदारंग और सदारंग थे ।[4] इस काल के विख्यात गायक " शोरी" ने भारतीय शैली की एक नवीन गायन शैली का विकास किया जिसे 'टप्पा' कहा गया । मुगल शासन के इन अन्तिम दिनों मेंभी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही सम्प्रदाय के भारतीय संगीतज्ञों ने नवीन संगीत शैली के विकास का प्रयत्न किया, जिसमें भारतीय और फारसी शैलियों का सम्मिश्रण था ।

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ- द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर- अनुवादक-ई0 एस0 हॉरकोर्ट- फाकिर हुसैन, पृ0- 138,
2. चौपड़ा, पुरी, दास,- भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इतिहास- पृ0-229
3. चौपड़ा, पुरी , दास"- भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक , आर्थिक इतिहास, पृ0- 227,
4. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र- राग परिचय- पृ0- 199,

नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के दिल्ली आक्रमणों से संगीत की कला को विशेष क्षति पहुँची ।[1]

मुगल साम्राज्य के इस विघटन के काल में समस्त कलाकार दिल्ली छोड़कर पलायन कर गए और नवोदित स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्यों में नवाबों तथा राजाओं के कलाप्रेम के कारण राज्याश्रय प्राप्त किया। 18 वीं शती तक आते-आते दिल्ली ऐसी स्थिति में नहीं थी कि, संगीत को संरक्षण और प्रोत्साहन दे सकती । इसी समय क्षेत्रीय स्वतंत्र राज्यों का अभ्युदय हो रहा था । इन राज्यों के स्वामी कलाप्रेमी शासक थे । इन नवोदित राज्यों में सर्वाधिक प्रमुख और शक्तिशाली राज्य अवध का था जहाँ के नवाब कला और संस्कृति के अनन्य प्रेमी थे अतः अन्य कलाकारों की भाँति संगीत के कलाकार भी दिल्ली से फैजाबाद और लखनऊ पहुँचे । जहाँ इन कलाकारों को अवध में राज्याश्रय प्राप्त हुआ। [2]

अवध के नवाबों का संगीत के क्षेत्र में योगदान :

प्रथम नवाब सआदत खान बुरहानुल्मुल्क ( सन् 1720 ई० सन् 1737 ई० ) संगीत के क्षेत्र में कोई विशेष कार्य न कर सके, क्योंकि वह राजनैतिक तथा आन्तरिक समस्याओं में ही व्यस्त रहे । किन्तु द्वितीय नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग के काल में ( सन् 1737 ई०- सन् 1756 ई० ) जब अवध का राज्य भलीभाँति स्थापित और सुदृढ़ हो गया तो उसके

1. वर्मा, हरिश्चन्द्र- मध्यकालीन भारत-पृ0- 539,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए- लताफत-पृ0- 117,

उत्तराधिकारियों ने संगीत को समुचित आदर और प्रोत्साहन प्रदान करना प्रारम्भ किया । अवध के तृतीय शासक नवाब शुजाउद्दौला स्वयं एक कुशल संगीतकार थे ।[1] नवाब शुजाउद्दौला के संगीत प्रेम के कारण दिल्ली और दूसरे अन्य स्थानों से हजारों गाने वाली स्त्रियों का बुलवा कर अवध में एकत्रित कर लिया था ।[2] स्पष्ट है कि नवाब शुजाउद्दौला के संगीत प्रेम के कारण भारत के कोने-कोने से प्रख्यात संगीतकार अवध आने लगे ।[3] नवाब शुजाउद्दौला के ही काल से संगीत के क्षेत्र में एक नवीन अध्याय का शुभारम्भ होने लगता है, क्योंकि नवाब शुजाउद्दौला स्वयं संगीत का उत्कृष्ट विशेषज्ञ था । परिणामस्वरूप भारत के कोने-कोने से और विशेषतः दिल्ली से बड़ी संख्या में संगीतज्ञ अवध आए, और उनका अवध में बहुत ही उत्साह के साथ स्वागत किया गया, उन्हें अधिकाधिक वेतन पर नियुक्त किया गया । संगीत में इस नवीन अनुराग के कारण अयोध्या और वाराणसी में संगीत के सुदृढ़ तथा उच्च केन्द्र स्थापित होनेलगे और कालान्तर में लखनऊ का केन्द्र भी अत्यधिक लोकप्रिय होने लगा । नवाब शुजाउद्दौला के सम्बन्धी सालारजंग संगीत की कला के विशेषज्ञ माने जाने लगे । इस समय यह प्रथा हो गई थी कि, जब कभी नवाब या अमीर अपनी यात्रा प्रारम्भ करते थे तो संगीतकारों का एक बड़ा समूह भी साथ में रहता

---

1. दास, हरचन्द -बहार-ए- गुलजार-ए-शुजाई-पृ0- 230,
2. बख्श, मोहम्मद फैज - तारीख-ए-फरहबख्श-पृ0-9-10,
3. किदवई, इकरामुद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेंट-पृ0-70,

था ।[1] अवध के अन्तर्गत बिलग्राम में संगीत को बहुत उन्नति प्राप्त हुई । सर्व-ए-आवाज के लेखक मीरगुलाम अली आजाद बिलग्रामी सुजानराय भण्डारी के कथनों को उल्लिखित करते हुए कहते है कि बिलग्राम में बहुत से मशहूर गायक थे ।[2]

नवाब आसफउद्दौला के शासनकाल में । सन् 1775 ई0- सन् 1797 ई0 । संगीत की कला का अत्यधिक विकास हुआ । नवाब आसफउद्दौला के शासनकाल में संगीत पर एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी गई, जिसका नाम था- " उसूल नगमातिया आसफिया" अर्थात् आसफी के नगमों के सिद्धान्त । भारतीय संगीत पर यह एक उत्कृष्ट पुस्तक मानी जाती है । इसके लेखक ने इस पुस्तक में संगीत के सम्बन्ध में व्यापक रूप से वर्णन और विवेचन किया है । इस पुस्तक की प्रतियाँ अब दुर्लभ है। यह पुस्तक यह बताती है कि, नवाब आसफउद्दौला के युग में संगीत की कला अपनी ऊँचाई पर पहुँच गई थी । इस पुस्तक में लेखक ने अरबी तथा फारसी संगीत के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया । यह पुस्तक नवाब आसफउद्दौला को ही समर्पित की गई थी।[3] नवाब आसफउद्दौला के शासनकाल में एक अत्यन्त प्रसिद्ध संगीतकार मियाँ शोरी थे, जो भारतीय संगीत के टप्पा शैली के विशेषज्ञ थे ।[4]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-लखनऊ : द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर, अनुवाद-ई0 एस0 हारकोर्ट- फाकिर हुसैन। अंग्रेजी।
2. बिलग्रामी ,मीर गुलाम अली आजाद सर्व-ए-आजाद -पृ0- 400।उर्दू। खाँ, अली इब्राहीम-तजकिरातुल शोयरा- पृ0- 102-105।उर्दू।
3. किदवई, इकरामउद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 68।अंग्रेजी।
4. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाद -पृ0- 130.

नवाब आसफउद्दौला, नवाब वजीर अली खान और नवाब सआदत अली खान सभी को संगीत और नृत्य से अत्यधिक प्रेम था। अवध के प्रसिद्ध कवि हिदायत ने नवाब आसफउद्दौला के गुलशन महल में नृत्य और संगीत के आयोजन का वर्णन इस प्रकार किया है-

" देखिये जिधर है खुशी से इधर को नाच रँग,
सुर से है ढोलक के पखावज के है तरोद-ए-चंग,
बज्म में हाजिर है अहले रश्क हर एक सब्जारँग,
कोई अलापे है भभात और कोई भैरवी उनके सँग,
सुबह को बोले है इस जा तम्बूरे का तार-ए-अलीफा"[1]

नवाब गाजीउद्दीन हैदर (1814-1827 तक) के काल में भी संगीत की कला को प्रोत्साहन एवं संरक्षण मिलता रहा। नवाब गाजीउद्दीन हैदर के काल में एक अत्यन्त प्रसिद्ध संगीतकार हैदरी खाँ था, जो संगीत की समस्त विधाओं का उत्कृष्ट विशेषज्ञ था। हैदरी खाँ के संगीत की यह विशेषता थी कि, वह अगर हर्षपूर्ण संगीत प्रस्तुत करता था तो श्रोतागण हर्ष और उल्लास से विभोर हो जाते थे और अगर वह शोक और रूदन का संगीत प्रस्तुत करता था तो श्रोतागण रूदन करने लगते।[2] हैदरी खाँ की संगीत के सम्बन्ध में यह

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद, 18 वी सदी मे हिन्दुस्तानी मआशिरात मीर का अहद, (उर्दू) पृ0- 57।
2. किदवई इकरामउद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 68, हैदरी खाँ का विलक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन इस एक घटना से होता है। एक बार नवाब गाजी-उद्दीन हैदर ने हैदरी खाँ को अपने दरबार में आमंत्रित किया और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने को कहा। कई बार कहने पर हैदरी खाँ ने अपना गायन प्रारम्भ किया, हैदरी खाँ का गायन सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुए। कुछ देर के बाद नवाब गाजीउद्दीन हैदर ने हैदरी खाँ से कहा कि वह एक ऐसा गाना सुनाये जिससे वह रोने लगे। अंत में विवश होकर नवाब गाजी-उद्दीन हैदर के बहुत कहने पर हैदरी खाँ ने एक ऐसा गाना सुनाना शुरू किया जो हैदरी खाँ ने कभी नही गया था। हैदरी खाँ के इस करूण गायन को सुन कर नवाब गाजीउद्दीन हैदर रोने लगे। हैदरी खाँ की इस कला पर प्रसन्न होकर नवाब ने उससे पुरस्कार माँगने को कहा, किन्तु हैदरी खाँ ने मात्र यही माँगा कि हुजूर आप मुझे अगर कुछ देना चाहते हैं तो केवल यह वचन दे कि आप कभी मुझे गायन के लिए आमंत्रित नही करेंगे, क्योंकि संगीत का उद्देश्य मानव को आनन्दित करना ही है उसे शोकाकुल करना नहीं। लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 68

अवधारणा थी कि, मनुष्य के व्यस्त जीवन के अन्द क्षणों में हर्ष और उल्लास का वातावरण उत्पन्न करना है न कि, शोक और करुणा के भाव उत्पन्न करना । वास्तव में हैदरी खाँ नवाब गाजीउद्दीन हैदर के काल का एक विलक्षण गायक था ।[1] यद्यपि नवाब गाजीउद्दीन हैदर के काल में बहुत से संगीतकार थे किन्तु हैदरी खाँ के समान कोई भी संगीतकार नहीं था ।

नवाब नासिरुद्दीन हैदर के काल में ॥ सन् 1827 ई० सन् 1837 ई०॥ भी संगीत की यही स्थिति बनी रही । किन्तु मुहम्मदअली शाह और अमजदअली शाह के काल में ॥ सन् 1837 ई०- सन् 1847ई०॥ संगीत का विकास मन्द हो गया । क्योंकि मुहम्मद अली शाह वृद्धावस्था के कारण संगीत के प्रति उदासीन रहे और अमजद अली शाह संगीत को धर्म के विरुद्ध समझ कर उदासीन रहे । इस प्रकार जो भी सम्मान इस कला को प्राप्त हुआ वह उस समय से प्राप्त हुआ जब अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह एक युवा बादशाह के रूप में सिंहासनारूढ़ हुए ॥सन् 1847 ई०- सन् 1856 ई०॥ ।[2]

अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल में लखनऊ में एक बार पुनः संगीतकारों की भीड़ लगने लगी । यद्यपि नवाब वाजिद अली शाह के काल में बड़ी संख्या में दरबारी संगीतकार थे, किन्तु वे अत्यधिक

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊः द लास्ट फेस आफ एन ओरियण्टल कल्चर- पृ0- 139, अनुवाद -ई0 एस0 हारकोर्ट -फाकिर हुसैन,
2. किदवई, इकरामउद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 69,

प्रतिभा सम्पन्न नहीं थे जैसे- अनीसउद्दौला, बसाहउद्दौला, वहीदउद्दौला और वजीउद्दौला आदि अच्छे संगीतकार तो थे किन्तु अत्यधिक उच्च श्रेणी के संगीतकार नहीं थे। किन्तु फिर भी शाही उपाधियों से अलंकृत थे।[1] इसका कारण सम्भवतः अवध में भी भ्रष्टाचार का होना था।

संगीत की विभिन्न शैलियाँ :

"18 वीं शताब्दी के अवध में संगीत की विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं। इस समय अवध में लखनऊ में गजल और ठुमरी का ही अत्यधिक प्रचलन था" गजल" को अरबी भाषा में स्त्रीलिंग का शब्द माना जाता है जिसका अर्थ होता है - " प्रेमपूर्ण वार्तालाप" ऐसी उर्दू और फारसी की एक विशेष प्रकार की कविता को गजल कहते है। एक गजल में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक ग्यारह शेर होते है, और प्रत्येक शेर में एक स्वतंत्र भाव होता है। गजल का प्रथम शेर"मतला" और द्वितीय शेर मक्ता कहलाता है। मक्ते में शायर अपना उपनाम रखता है। गजल का संग्रह "दीवान" कहलाता है जो अधिकांशतः श्रृंगार रस से युक्त होता था[2] यही कारण है कि कोई भी व्यक्ति कठिन और बोझिल रागों की ओर कोई ध्यान नहीं देता था जैसे- ध्रुपद और होरी, बल्कि इनके स्थान

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर, पृ0- 139, अनुवाद-ई0एस0हॉरकोर्ट- फाकिर हुसैन,
2. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाद-पृ0- 147,

पर छोटी और उल्लासपूर्ण रागिनियाँ जैसे खमाच, भैरवी, झंझूई, सिन्दूर, तिलक और पीलू जैसे राग अपनाएँ जाने लगे । चूँकि यह राग नवाब वाजिद अली शाह और लखनऊ के लोगों को आनन्दित कर रही थी अतः यही संगीत अत्यधिक प्रचलित हुई । लखनऊ की भैरवी प्रातःकाल गाई जाती थी और यही समय पूरे भारत में प्रचलित हुई भैरवी लखनऊ से सम्बन्धित है और इस प्रकार की गायन शैली का अपना एक पृथक स्वरूप था। भैरवीराग के स्वरूप में तब एक और परिवर्तन हुआ जब इसे शियाओं ने अपनाया और सोज में शामिल कर लिया । इससे भैरवी को औरभी लोकप्रियता प्राप्त हो गई । भैरवी का धार्मिक अवसरों पर प्रयोग तो होता ही था, साथ ही उच्च वर्ग की स्त्रियों में भी यह एक प्रमुख स्थान पा गया । यह स्त्रियाँ इतना अच्छा गाने लगी की व्यवसायिक गायक भी आश्चर्यचकित रह जाते थे ।[1] प्रसिद्ध शायर इंशा ने संडीले के मौल्वी साहब के बारे में लिखा है कि वह फारसी रागों के विशेषज्ञ थे, साथ ही साथ भैरवी , भवास, भैरवी, ललित , रामकली, खट, गनकली, भटियार, सँगरटी, सूहा, गोजरी, गाधार, असवरी, तोड़ी, आल्हा, बिलावल, देवगरी तथा अन्य दूसरी राग और रागिनियों को "ख्याल" में गाते थे । इस कला में उन्होंने अपने बहुत से शिष्यों को प्रशिक्षित किया ।[2]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ- पृ0- 213-214,
2. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए-लताफत-पृ0- 81-82,

लखनऊ में कादिर पिया की ठुमरी ने भी लोगों को बहुत प्रभावित किया । परिणामतः प्राचीन राग-रागिनियों के स्थान पर कादिर पिया की ठुमरी लोकप्रिय हो गई ।[1] विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि, ठुमरी का आविष्कार अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह ने ही किया था । नवाब वाजिद अली शाह स्वयं बहुत बड़े संगीतकार थे, उनकी ठुमरी आज भी लखनऊ में लोकप्रिय है। वाजिद अली शाह ने एक प्रकार का शाही क्लब स्थापित किया था जहाँ सम्पूर्ण भारत के प्रसिद्ध संगीतकारों के निर्देशन में लोग संगीत और नृत्य का प्रशिक्षण प्राप्त करते थे । नवाब वाजिदअली शाह ने स्वयं गीत और नाटकों की रचना की, जो लखनऊ में बहुत लोकप्रिय रही । नवाब वाजिद अली शाह के महल में एक पृथक स्थान सुरक्षित रखा जाता था जहाँ नाटकों का मंचन किया जाता था।[2] नवाब वाजिद अली शाह के दरबारी संगीतकारों में से अनीसउद्दौला और मुसाहबउद्दौला ने पियार खाँ से ही संगीत सीखा था जो अपने समय के प्रख्यात संगीतकार थे किन्तु इस समय कृष्ण औरगोपियों की रासलीलायें ही अत्यधिक प्रचलित थी, और यही उस समय की संगीत का प्रधान अंग थी । क्योंकि नवाब वाजिद अली शाह की व्यक्तिगत रूचि रासलीलाओं मे ही थी । नवाब वाजिद अलीशाह का संगीत प्रेम तब और अधिक तीव्र हुआ जब उन्होनें बासित खाँ से संगीत की कला सीखी । अपने संगीत प्रेम और रूचि के कारण नवाब वाजिद अली शाह ने स्वयं अपनी नवीन रागिनियों

---

1. किदवई, इकरामउद्दीन - लखनऊ -पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 69,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एन ओरियटल कल्चर पृ0- 140-141,

का आविष्कार किया और उनके नाम जोगी, जूही, यास्मीन, या शाहपसन्द आदि रखे।[1] नवाब वाजिदअली शाह ने दुरूहतम संगीत विधा को सरल बना दिया तथा जनसाधारण में प्रचलित सरल तथा हर्ष और उल्लासपूर्ण धुनों को अपनाया जिसका प्रत्येक व्यक्ति आदर कर सकता था।

लखनऊ में संगीत के अन्तर्गत "कव्वाली" का भी स्थान महत्त्वपूर्ण है। "कव्वाली" शब्द "कौल" से बना है। "कौल" का अर्थ होता है "कथन" और कौल को गाने वाला कव्वाल कहलाता था और यही गायन शैली कव्वाली कही जाने लगी।[2] लखनऊ मे गजल और कव्वाली दोनो के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई और अनेक उत्कृष्ट कलाकार उत्पन्न हुए। नवाब गाजीउद्दीन हैदर के युग ( सन् 1814-1827 तक) मे लखनऊ प्रसिद्ध एवं विशेषज्ञ कव्वालों तथा संगीतकारो के लिए प्रसिद्ध था।[3] इन कलाकारों को भारत के अन्य भागों में आमंत्रित किया जाता था। इस समय के प्रसिद्ध कलाकार छज्जू खाँ और गुलाम रसूल खाँ थे, जो कव्वाली के विशेषज्ञ थे, एक अन्य कव्वाल सूरी था जो बहुत लोकप्रिय हुआ।[4]

18 वी शताब्दी के अवध में संगीत की विभिन्न शैलियों के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रचलित और महत्त्वपूर्ण शैली "सोजखानी" थी।[5] यद्यपि अधिकांश विद्वान

---

1. शरर, अब्दुल, हलीम- लखनऊ: दलास्ट फेस ऑफ एनओरियंटल कल्चर-पृ0-141, अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजायब-पृ0-132,
3. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजायब-पृ0- 132-33,
4. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग-फसाना-ए-आजायब-पृ0- 147,
5. "सोजखानी" मुहर्रम के अवसर पर शियाओं द्वारा गाई जाने वाली एक विशेष कविता को कहते हैं जो एक विशेष ढंग से पढ़ी जाती थी।

सोजखानी को संगीत की श्रेणी में नहीं रखते किन्तु वास्तव में यह भी एक विशेष प्रकार का संगीत ही है जो मुहर्रम के अवसर पर कर्बला के शहीदों की स्मृति में प्रारम्भ हुई ।[1] विशेषतः उस समय जब यह ईरान का जातीय धर्म बन गया और वहाँ के लोग भारत आकर दरबार में अपना स्थान बनाने लगे । चूँकि शासकों का शाही धर्म सुन्नी था । अतः यह कला विकसित नहीं हो पाई । किन्तु जब अवध में नवाबों का शासन आया तो शिया मत के शाही मत होने के कारण सोजखानी की कला विकसित होने लगी। जिस प्रकार उर्दू कविता के क्षेत्र में मर्सिया की कला विकसित हुई उसी प्रकार संगीत के क्षेत्र में सोजखानी का विकास हुआ । इन दोनो कलाओं का इतना अधिक विकास हुआ कि, यह कला लखनऊ की स्थायी कला बन गई ।[2] ऐसी कला बन गई जो प्रारम्भ से लेकर अंत तक लखनऊ के साथ सम्बद्ध रही । शुद्ध और प्राचीन मर्सियाखानी सोजखानी का ही रूप था । यह लखनऊ में ही नहीं रही वरन् उन समस्त नगरो में प्रचलित थी जहाँ शिया रहते थे । मर्सिया को उर्दू कविता का प्रमुख अंग बनाना लखनवी सभ्यता की देन थी जिसे मीर अनीस और मीर दबीर ने समृद्ध किया था।[3]

लखनऊ में सोजखानी एक विशेष स्वरूप के साथ विकसित हुई । वास्तव में सोजखानी नवाब शुजाउद्दौला के युग मे ही प्रचलित हो

---

1. रिज़वी, अतहर अब्बास- आदि तुर्क कालीन भारत-पृ0- 27,
2. रिज़वी, अतहर अब्बास- शियाइज्म इन इण्डिया-पृ0- 189
3. हुसैन, सैय्यद सफदर- मर्सिया बाद-ए-अनीस-(शोध प्रबन्ध), पृ0- 195,

गईं थीं और फैजाबाद के बहू बेगम के महल में सोजख्वानी की मजलिसें अत्यन्त उत्साह के साथ सम्पन्न होती थीं । बहू बेगम के महल का ख्वाजा सरॉ जवाहर अली खॉ अत्यन्त रुचि के साथ मर्सियाख्वानी (मर्सिया पढ़ने वाले) की नौहाख्वानी (दुःख प्रकट करने वाला गीत) सुना करते थे । सम्पूर्ण नवाबी शासन में भी सोजखानी का वही स्वरूप प्रचलित था जो नवाब शुजाउद्दौला के काल में प्रचलित था । नगमातुल असफिया के लेखक के गुरू ख्वाजा हसन मौड़दी यद्यपि सुन्नी थे किन्तु फिर भी संगीत के प्रति निष्ठा और समर्पण की भावना के कारण इन्होंने अनेक लोकप्रिय नवीन धुनों का आविष्कार किया और इन धुनों की शिक्षा अपने शिष्यों को प्रदान की ।[1]

सोजखानी की कला में विकास में हैदरी खॉ का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । हैदरी खॉ ने सोजखानी की कला को एक विशेष स्वरूप प्रदान किया । हैदरी खॉ ने सोजखानी के लिए उन धुनों का चयन किया जो वास्तव में शोकपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति कर सके । हैदरी खॉ ने अपनी कला सैय्यद मीर अली को सिखा दी जो एक प्रतिष्ठित सैय्यद परिवार के थे । सैय्यद मीर अली ने भी सोजखानी की कला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। तत्पश्चात प्रख्यात संगीतकार तानसेन के वंशज का एक संगीतकार तथा प्रतिष्ठित गायक नासिर खॉ लखनऊ आया । नासिर खॉ और उसके दो प्रमुख शिष्य मीरअली हसन और मीरबन्दा हसन ने सोजखानी

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 212 अनुवाद- ई0 एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,

के क्षेत्र में अपार लोकप्रियता प्राप्त की । मीर अली हसन और मीर बन्दा हसन आदि भाइयों ने सोजखानी का विकास कर एक अन्य श्रेणी का राग बना दिया । इनके प्रयत्नों से लखनऊ में सोजखानी की कला साधारण गायकों से निकल कर उच्च श्रेणी के गायकों तथा सभ्य लोगों मे आ गई और अब निम्न श्रेणी के ही लोग नहीं वरन् उच्च श्रेणी के लोग भी सोजखानी में रूचि लेने लगे । इस काल के प्रसिद्ध सोजखान मियाँ मंझू साहब आदि ने लखनऊ ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत में लोकप्रियता प्राप्त की ।[1]

सोजखानी का सर्वाधिक प्रभाव लखनऊ की स्त्रियों पर पड़ा । सोजखानी की प्रभावपूर्ण तथा हृदयभेदी धुनों ने सभ्य शिया परिवारो की स्त्रियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया । विशेषता मीर अली हसन तथा मीर बन्दा हसन की कला ने स्त्रियों को बहुत प्रभावित किया । स्त्रियों में प्राकृतिक रूप से गायन-वादन की रूचि रहती है अतः जब यह कला स्त्रियों में पहुँची तो इसमे अत्यधिक कोमलता भी उत्पन्न हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि, शीघ्र ही शिया सम्प्रदाय मे ही नहीं वरन् सुन्नी सम्प्रदाय की स्त्रियों में भी नौहाखानी की रूचि पैदा होने लगी ।[2] लखनऊ की प्रतिष्ठित शिया परिवारो का स्त्रियाँ इतनी उच्च श्रेणी की सोजखानी करती थीं कि ,यदि उन्हें पर्याप्त रूप से सामाजिक

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर-पृ0- 213-14, अनुवाद -ई0 एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. अस्करी, मिर्जा मोहम्मद- तारीख-ए- अदब-ए-उर्दू-पृ0- 198,

स्वतंत्रता प्राप्त होती, और पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त होते तो वे पुरूषों से भी आगे बढ़ जाती ।

ताजियादारी यद्यपि नौहाखानी का एक अवसर प्रदान करता था अतः शिया और सुन्नी दोनो में ही नौहाखानी औरताजियादारी के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा । यही नही मुसलमानों के साथ-साथ हजारों हिन्दू भी ताजियादारी अपना कर नौहाखानी करने लगे ।[1] जिससे प्रतीत होता है कि, लखनऊ में ताजियादारी के विकास का एक प्रमुख कारण नौहाखानी ही थी । सोजखानी और नौहाखानी के कारण ही लखनऊ की स्त्रियाँ गायन तथा वादन में पारंगत होने लगी । नौहाखानी और सोजखानी ने संगीत और नृत्य को लखनऊ में दृढ़ता से स्थापित कर दिया । इसका एक और महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि, सोजखानी की कला उच्च वर्ग तक ही सीमित न रह कर समाज के निम्न वर्ग में भी लोकप्रिय हो गई । यद्यपि इस कला को समाज के निम्न वर्ग ने ग्रहण किया किन्तु विशेषता यह रही कि, सोजखानी का वास्तविक स्वरूप नही परिवर्तित हुआ, निम्न वर्ग में भी वह अपने पूर्ण रूप से प्रचलित रही । सोज खानी को यद्यपि शिया लोग पुण्य कार्य मानते थे किन्तु शिया धर्म के उल्मा वर्ग ने इस पर अपनी धार्मिक स्वीकृति नही दी और अभी तक मुजतहिद[2] की सभाओं में केवल

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊः द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 214.

2. मुजतहिद- धर्म और नैतिकता की देखरेख करनेवाला धार्मिक पदाधिकारी जो ईरान आदि से शिक्षा प्राप्त करके आते थे तथा जिनके पीछे रह कर शिया लोग नमाज पढ़ते थे ।-शरर, अब्दुल हलीम,

हदीस या धार्मिक चर्चा ही होती थी । किन्तु फिर भी सोजखानी की कला धार्मिक प्रतिबन्धों के बावजूद सम्पूर्ण नवाबी शासन में लोकप्रिय रही । सोजखानी के अधिकतर गायक हैदरी खाँ और पियार खाँ के ही शिष्य थे ।[1]

लखनऊ में न केवल संगीतकार थे वरन् उच्चकोटि के संगीत के पारखी भी थे जैसे हैदरी खाँ और बासित खाँ, जो लय और रागिनियों तथा धुनों को पहचानते थे और एक या दो बोल सुनने के पश्चात ही गाने वाले की श्रेणी का निर्धारण कर देते थे । "लय" जो साधारणतः "ताल" के नाम से जाना जाता है, संगीत का अभिन्न अंग होता है । अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह ने अत्यन्त कुशलता से इसका प्रयोग किया और इसे "वजन" कहा । यह वास्तव में लय का ही वास्तविक रूप है क्योंकि शायर का "वजन" लय पर आधारित है । इसका मानव मस्तिष्क पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता था कि, शरीर के अंग लय की तरंग पर थिरकना शुरू कर देते थे । जब नवाब वाजिद अली शाह इसका प्रयोग करते थे तो लोग यह कहते थे कि, वह नृत्य कर रहा है किन्तु वह वास्तव में नृत्य नहीं बल्कि संगीतकारों की कला से प्रभावित हो गए थे । कहा जाता है कि, निद्रावस्था में भी वाजिद अली के पंजे निरन्तर लय के प्रभाव से हिलते-डुलते रहते थे ।[2]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ: द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 141, अनुवाद-ई0 एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 141, अनुवाद, ई0एस0हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,

संगीत के उपकरण :

संगीत मे लय की उपस्थिति अत्यधिक महत्वपूर्ण है, और इसके लिए तबला, सारंगी, सितार इत्यादि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है । इस देश में भारतीय संगीत का सर्वाधिक प्राचीन वाद्य "बीन" दिखाई देता है । बीन एक लकड़ी की खोखली नलकी होती है जिसके दोनो सिरों पर तुम्बी है । जब वह फूँक मारते हुए मुँह से आवाज निकालते थे तो नलकी में फैलती हुई वह तुंबी में गूँजा करती थी । मुसलमान जब भारतवर्ष आए तो अपने साथ रबाब, चंग, और सरोद जैसे साज भी भारत मे आए । 'रबाब' अरबी उपकरण है जिसे अब्बासियों के युग में विकसित किया गया । चंग और सरोद भी अरबी साज है जो अधिकतर काबुल, मिस्र, यूनान, तथा मध्य एशिया में प्रचलित था। सरोद शुद्ध ईरानी उपकरण है जिसे अब्बासी संगीतकारो ने और अधिक विकसित किया ।[1] सुल्तान बलबन के दरबार मे चंग और रबाब के कुशल कलाकार उपस्थित थे ।[2]

मुसलमानों के भारत आगमन के पश्चात उनकी संगीत का हिन्दू संगीत के साथ मिल जाने के पश्चात" तम्बूरे" का आविष्कार किया गया जो वास्तव में"बीन" का छोटा रूप था, और गायकों के साज के लिए प्रयोग में लाया जाता था। "सितार" भी एक महत्वपूर्ण संगीत का उपकरण है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि सितार का आविष्कार अमीर खुसरो ने किया था ।[3] किन्तु अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं है । सितार

1. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र - राग परिचय-पृ0-198
2. रिजवी , सैय्यद अतहर अब्बास- खल्जी कालीन भारत-पृ0-15-16,
3. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास- खल्जी कालीन भारत-पृ0-17

के जन्म के विषय में अभी तक किसी भी विद्वान ने कोई ऐसा प्रमाण नहीं दिया । कुछ विद्वानों के मतानुसार सितार की रचना बहुत पहले वीणा के आधार पर हुई थी । एक अन्य मत के अनुसार, यह वाद्य अभारतीय है और फारस से आया है। कुछ विद्वानों का मत है कि, इसकी रचना वीणा के आधार पर अवश्य हुई किन्तु आविष्कारक और प्रचारक अमीर खुसरो ही थे । अमीर खुसरो ने सितार का नाम 'सहतारा' रखा था जो बिगड़ कर सितार हो गया । यही मत सर्वाधिक मान्य भी है । हो सकता है कि, अमीर खुसरो ने सितार का आविष्कार न किया हो किन्तु सितार के प्रचार में बहुत योगदान दिया और उनके नाम से ही एक घराना चल पड़ा ।[1] सितार बीन और तम्बूरा ये सभी वाद्य सम्पूर्ण वाद्य नहीं थे, अतः इस अभाव की पूर्ति के लिए मियाँ सारंग ने, जो कि परवर्ती मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के दरबार के सर्वाधिक योग्य और प्रसिद्ध संगीतकार थे, एक नवीन वाद्य का आविष्कार किया जो कि मियाँ सारंग के नाम से "सारंगी" ही प्रसिद्ध हुआ । यह वाद्य इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि लोग बीन तम्बूरा तथा सितार को भी भूलने लगे । गायन और नृत्य करने वालों ने अन्य वाद्यों को छोड़कर सारंगी को अपनाना प्रारम्भ कर दिया । बीन, सरोद, रबाब इत्यादि का प्रयोग कम होने लगा । सारंगी की लोकप्रियता का कारण उसकी मधुर और सतरंगी ध्वनि थी ।[2] 18 वीं शती में लखनऊ में सितार का प्रयोग युवावर्ग में ही अत्यधिक प्रचलित रह गया था । वे

---

1. श्रीवास्तव, प्रो० हरिश्चन्द्र-राग परिचय-पृ०- 198.
2. श्रीवास्तव, प्रो० हरिश्चन्द्र- राग परिचय-पृ०- 198-99.

लोग साधारणत: सितार को बिना गाने के ही बजाते थे और सुनते थे। विभिन्न प्रकार के बोलों द्वारा सितार बजाने की कला को "बाज" कहा जाता था। इसके दो प्रकार थे - प्रथम दिल्ली बाज तथा द्वितीय पूर्वी बाज। पूर्वी बाज की शैली के आविष्कारक लखनऊ के प्रसिद्ध संगीतकार गुलाम रजा खान थे। सितारवादन की कला का विशेषज्ञ कुत्बुद्दौला रामपुर का निवासी था, और संगीत की समस्त विधाओं पर अच्छा अधिकार था।[1]

संगीत के उपकरणों में एक अन्य महत्वपूर्ण उपकरण "तबला" था, जिसके बिना संगीत अधूरा माना जाता था। तबले का प्रयोग "लय" और "गीत" के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। वास्तव में गायन, वादन और नृत्य में समय की गति को ही लय कहा जाता है।[2] समय की गति को बनाए रखने के लिए तबले का प्रयोग किया जाता था।[3] अत: तबला संगीत के समस्त उपकरणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण है। प्राचीन काल में युद्ध के समय ढोल पीटे जाते थे तथा चंग और नक्कारे का भी प्रयोग किया जाता था किन्तु भारत में तबला मात्र नृत्य और गायन में सहायक वाद्य के रूप में प्रयुक्त होता था। सल्तनत काल में भारत में भारत में "दफ" का प्रयोग होता था।[4] "दफ"

---

1. श्रीवास्तव - प्रो0 हरिशचन्द्र- राग परिचय- पृ0- 199,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ 0- 141, अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट-फाकिर हुसैन,
3. किदवई, इकरामुद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 70,
4. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास-खल्जी कालीन भारत-पृ0- 173-174,

बीन के साथ गति को बनाये रखने के लिए सहायक वाद्य के रूप में प्रयुक्त होता था । कालान्तर में पखावज की उन्नति हुई जो प्राचीन संगीत । शास्त्रीय संगीत। के साथ प्रमुखता के साथ प्रयुक्त होता था । तत्पश्चात साधारण पुरूष और स्त्रियों के घरों में "ढोल" का प्रयोग होने लगा जो पखावज और मृदंग का ही उन्नतशील रूप है यही स्वरूप विकसित होता हुआ अंत में अति कोमल संगीत के निमित्त "तबले" के रूप में सामने आया । "तबला" दो छोटे-ढोल के विभाजित करके बनाया गया था जिसमे एक दाहिना और दूसरा बाँया कहलाता था ।[1]

18 वी शताब्दी में लखनऊ में प्रसिद्ध तबला वादक हर मोहम्मद था जो सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध हुआ । हर मुहम्मद लखनऊ में मुहम्मदी के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह एक बहुत योग्य तबलावादक था ।[2] पहले तबले का केवल एक ही घराना था" दिल्ली घराना" और इस घराने के प्रथम तबला सिधार खाँ थे । सिधार खाँ की तबला वादन शैली "दिल्ली बाज" कहलाई ।[3] यही से तबलावादन की कला अवध आई । सिधार खाँ के पौत्र मोदू खाँ तथा बख्शू खाँ अवध के नवाब के आमंत्रण पर लखनऊ चले आए और लखनऊ आकर अवधवासियों के समक्ष अपनी कलात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया ।शीघ्र ही यह इतने अधिक प्रसिद्ध हो गए कि इनके नाम से " लखनऊ घराना" ही स्थापित हो गया । इस प्रकार

---

1. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र- राग-परिचय-पृ0- 178-180.
2. श्रीवास्तव, प्रो0 हरिश्चन्द्र- राग-परिचय-पृ0- 179.
3. गोडबोले, मधुकर गणेश- तबला शास्त्र-पृ0- 11.

लखनऊ घराने की स्थापना मोदू खाँ और बख्शू खाँ के द्वारा हुई। यह लोग दिल्ली से लखनऊ आते समय अपने शिष्यों को भी लखनऊ ले आए। लखनऊ आकर इनकी शैली पर पखावज और नृत्य का बहुत प्रभाव पड़ा जिससे उनकी शैली दिल्ली से भिन्न हो गई। इस घराने के प्रसिद्ध तबलावादकों में मोदू खाँ, बख्शू खाँ, उस्ताद मुहम्मद खाँ, मुन्ने खाँ और खलीफा आबिद हुसैन सर्वाधिक उल्लेखनीय माने जाते हैं।[1]

उपरोक्त संगीत के उपकरण मात्र संगीतकारों द्वारा प्रयुक्त होने वाले विशुद्ध संगीत के उपकरण थे। इन उपकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी संगीत के उपकरण थे जिनका लखनऊ के समाज और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये उपकरण लखनऊ की समाज और संस्कृति से इतने गहरे जुड़े हुए थे कि अगर इन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक वाद्य की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लखनऊ में किसी भी विशेष अवसर पर, विवाह या हर्षोल्लास के अवसर पर इन संगीत के उपकरणों का कुशलता के साथ प्रयोग किया जाता था। लखनऊ के समाज के अत्यन्त लोकप्रिय ये उपकरण छः प्रकार के थे -

1. ढोल-ताशा,
2. रोशन चौकी,
3. नौबत,
4. तुरही और करना,
5. डंका और बिगुल,

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजिश्ता लखनऊ -पृ0- 217.

6- अंग्रेजी बैण्ड । आर्गन बाजा।

1- ढोल-ताशा :

लखनऊ के लोकप्रिय सामाजिक वाद्यों में सर्वप्रमुख "ढोल-ताशा" है । जिसके बिना कोई भी शुभ- उत्सव नही मनाया जाता था, और यही प्रथा आज तक उत्तरी भारत में प्रचलित हो " ढोल-ताशा" भारत का देशीय संगीत-वाद्य है । अंग्रेज "ढोल-ताशे" को इण्डियन टाम-टाम कह कर ढोल-ताशे की हँसी उड़ाते थे । एक बार सन् 1896 में ब्रिटेन में भारतीय कला एवं संस्कृति पर एक प्रदर्शनी लगाई गई थी जिसमें "ढोल - ताशे " को बहुत ही भद्दे तरीके से वहाँ के लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया गया था, इसमें एक नीग्रो अपने गले में लटके ढोल को पागलों की भाँति बिना किसी लय और ताल के असभ्यों की भाँति पीट रहा था और अंग्रेज कह रहे थे कि यही भारत का साज टाम-टाम है । किन्तु यह अंग्रेजों की दुर्भावनापूर्ण अज्ञानता थी ।[1] वास्तव में ढोल-ताशा एक बहुत ही कलात्मक वाद्य है, तथा ढोल-ताशे को बजाना एक व्यवस्थित कला है जिसमें अति उत्तम श्रेणी की लय रखी गई है ।"ढोल-ताशे" के अन्तर्गत लखनऊ में साधारणतः दो और कभी-कभी तीन तथा चार बढ़े ढोल होते थे और दो-तीन ताशे वाले होते थे, इनके अतिरिक्त एक " झाँझ" वाला होता था ।[2] "झाँझ" ईरान से भारत आया तथा ताशे मिश्र से

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 217,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 218,

आया जबकि ढोल शुद्ध भारतीय वाद्य है । लखनऊ में यह वाद्य दिल्ली से आया ।[1] किन्तु दिल्ली में केवल ढोल और झांझ का ही प्रचलन था। लखनऊ में ही सर्वप्रथम "ढोल" के प्रयोग से इस कला को एक नया स्वरूप प्राप्त हुआ । यह प्रयोग इतना अधिक लखनऊ में लोकप्रिय हो गया कि, कहीं भी ढोल बिना ताशे के नहीं बजती थी । ताशे वाले ही लय बनाते थे और ढोल लय में उसका साथ देते थे ताशा बजाने की विशेषता यह थी कि, ताशे पर चोट इतनी जल्दी-जल्दी पड़े कि, वे एक दूसरे से मिल न सकें । इसके अतिरिक्त इन लगातार चोटों के उतार-चढ़ाव से लय और गति उत्पन्न हो । लखनऊ में इस वाद्य को बजाने वाले अनेक उत्कृष्ट कलाकार उपस्थित थे कि जिनके समान ढोल-ताशे बजाने वाले अन्यत्र दुर्लभ थे । लखनऊ में ताजिये के जुलूस के समय विभिन्न क्षेत्रों के कलाकार लखनऊ आकर अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते थे । यही नहीं कभी-कभी इनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा भी होती थी । यह ताशे बजाने वाले संगीतकार संगीत के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते थे तथा संगीत में इस समय तक इनकी कला को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो चुका था । ये कलाकार ढोल-ताशे के प्रयोग से गीतों में नवीनता उत्पन्न करते थे । अवध के अंतिम नवाब वाजिदअली शाह स्वयं मुहर्रम के अवसर पर गले में ताशा डालकर बजाते थे ।[3] भारत के इस प्राचीन वाद्य ने लखनऊ की

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 219,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 220,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 220.

संस्कृति में आनन्द और उल्लास का ऐसा रंग भरा कि, ढोल ताशा पूरे अवध की शान बन गई । लखनऊ में "ढोल" और "झाँझ" के साथ "ताशे" के प्रयोग ने इस कला को एक नया स्वरूप प्रदान किया । सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों में आज भी ढोल-ताशे का कलात्मक प्रयोग होता है । सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यह हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में ही अत्यन्त रूचि के साथ समान रूप से प्रयोग किया जाता था । जो लखनवी संस्कृति की ही देन मानी जा सकती है ।

2. रोशन चौकी :

लखनऊ का द्वितीय महत्वपूर्ण और लोकप्रिय सामाजिक और सांस्कृतिक संगीत वाद्य "रोशनचौकी" था । रोशनचौकी भी बहुत प्राचीन वाद्य है । यद्यपि रोशनचौकी नामक वाद्य अपने मूल रूप में भारतीय है, किन्तु इसके कुछ विशिष्ट गुण मुसलमान अपने साथ भारत में ले आए।[1] "शहनाई" भारतीय उपकरण है जो " रोशनचौकी" का महत्वपूर्ण अंग है ।[2] "रोशन चौकी" के सम्बन्ध में मौलाना अब्दुल हलीमशरर का यह मत है कि रोशन चौकी का आविष्कार शेख-रईस - सेना ने किया था ।[3] यद्यपि भारत में रोशनचौकी की भाँति का वाद्य पहले से ही प्रचलित था। किन्तु 18 वीं शताब्दी के अवध में " रोशनचौकी" का जो स्वरूप था वह निश्चित ही इस्लामी संस्कृति की ही देन थी । "रोशनचौकी" का संगीत

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ-पृ0-221,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 221,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 221-222,

श्रोताओं को अत्यधिक प्रभावित करता था और उत्सव में अत्यधिक रोचकता और उल्लास का वातावरण पैदा कर देता था । रोशन चौकी में कम से कम दो शहनाईवादक होते थे तथा एक तबलची ( तबला बजाने वाला ) होता था जिसकी कमर मे दो छोटे-छोटे तबले बँधे होते थे । तबले का प्रयोग लय और गति की निरंतरता को बनाए रखने के लिए किया जाता था । एक शहनाईवादक वास्तविक सुर को व्यवस्थित रखने के लिए सुर देता था और दूसरा शहनाईवादक ध्वनि के उतार-चढ़ाव की कला को प्रदर्शित करता था, और यही प्रमुख व्यक्ति होता था जो गजलों और ठुमरियों आदि को अति आकर्षक सुरो में गाया करताथा। "रोशनचौकी" भारत का विशिष्ट शाही संगीत वाद्य है, जो बादशाहो, उच्च दरबारियों तथा अमीरों के यहाँ विशेष अवसरो पर बजाई जाती थी । रात्रि को शयन के समय उनके महल से कुछ दूर रोशनचौकी बजाई जाती थी जो बहुत ही मधुर तथा आनन्द दायक होतीथी ।[1] मुगलकाल में भी रोशनचौकी बहुत ही मधुर संगीत समझा जाता था ।[2] समकालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में परवर्ती मुगल शासकों के काल में रोशनचौकी" के प्रचलन का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु यह निश्चित है कि, लखनऊ में "रोशनचौकी" बजाने वाले दिल्ली से ही आए होगें । रोशनचौकी बजाने की प्रथा हिन्दुओं मेंभी प्रचलित थी और वाराणसी के अनेक मन्दिरों में भी प्रातः काल " रोशनचौकी " बजाई जाती थी जो बहुत आनन्ददायक होती थी । लखनऊ में ताजिये के जुलूस

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ- पृ0 223,
2. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए-आजाएब- 340,

के समय रोशनचौकी बजाने वाले भी अपनी कला का प्रदर्शन करते थे । लखनऊ में विवाह के अवसर पर बजाई जाने वाली "रोशनचौकी" दूल्हे के समीप ही रह कर बजाई जाती थी । हिन्दुओं की बारातों में भी "रोशनचौकी" बजाने वाले अपनी कला का प्रदर्शन करते थे ।[1]

3- नौबत :

लखनऊ का तृतीय महत्वपूर्ण सामाजिक और राजकीय वाद्य "नौबत" था जो लखनऊ के संगीत में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत के संगीत में महत्वपूर्ण स्थान रखता था । नौबत भारत का प्राचीनतम वाद्य है जिसमें एक नक्कारा बजाने वाला होता था। जो दो बड़े-बड़े नक्कारों को अपने आगे झुका कर रखता था और दोनों नक्कारों को एक साथ चोबों ।लकड़ी की एक मूठदार डण्डी। से बजाता था। इन नक्कारों की ध्वनि काफी दूर तक गूंजती थी, इसके साथ एक झाँझ बजाने वाला भी रहता था जो नौबत के बजाने में साथ देता था।[2] नौबत भारत के अतिरिक्त प्राचीनकाल में इस्लामी देशों में भी प्रचलित था। बगदाद में अब्बासिया वंश के मध्य युग में प्रत्येक अमीर की डयोढ़ी पर नौबत बजा करती थी , और इस प्रकार उन अमीरों को सम्मान व आदर किया जाता था । इसके अतिरिक्त बादशाहों , उच्च श्रेणी के अमीरों के

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजरेता लखनऊ-पृ0- 223,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजरेता लखनऊ-पृ0- 223,

जुलूसों तथा लाव-लश्कर के साथ नौबत बहुत ही आवश्यक होता था ।
नौबत अमीरों की उच्च श्रेणी तथा उनके सम्मान का प्रतीक थी ।[1]
सल्तनतकाल में भी नौबत का इसी प्रकार प्रयोग होता था।[2] मुगल काल
में भी नौबत का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था। मुगल सम्राट औरंगजेब
आलमगीर ने हैदराबाद पर विजय प्राप्त करके हैदराबाद के समीप जिस
पहाड़ी पर नौबत बजवाई थी वह आज भी "नौबत पहाड़" कहलाती
है । मुगल दरबार के दरबारियों तथा साम्राज्य के अमीरों और सामन्तों
को बादशाह की ओरसे उनकी उत्कृष्ट सेवाओं के कारण नौबत बजवाने का
अधिकार प्रदान किया जाता था । यह लोग अपनी ड्योढियों और अपनी
सवारियों में नौबत बजवाया करते थे ।[3] सल्तनतकाल में भी बादशाह के
जुलूस के आगे-आगे हाथियों पर नौबत बजाई जाती थी । युद्धों में विजयी
पक्ष अपनी विजय तथा प्रसन्नता को प्रकट करने के लिए नौबत को अवश्य
बजवाते थे ।[4]

नौबतवादकों के लिए एक उच्च स्थान का चुनाव किया जाता
था । अतः अनेक शाही महलों के द्वार के ऊपर या कोने में एक नौबत
घर बनवा दिया जाता था । इसी प्रथा के अनुरूप लखनऊ मेंभी अमीरों
के निवास में यद्यपि कोई स्थायी नौबतघर तोनही होता था किन्तु जब
इन अमीरों के यहा कोई उत्सव या विवाह आदि का कार्यक्रम होता था

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 224,
2. रिजवी ,सैय्यद अतहर अब्बास-तुगलक कालीन भारत-पृ0-29,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ- पृ0- 2?2,
4. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास- तुगलक कालीन भारत पृ0- 29,

तो उसके दरवाजे पर एक अस्थायी नौबतघर बनवा दिया जाता था, लम्बी-लम्बी बल्लियों को सुदृढ़ता से गाड़ कर उन्हे लाल-लाल वस्त्र तथा फूल और पत्तियों आदि से अलंकृत करके एक बहुत ही ऊँचा नौबतघर बनवा दिया जाता था। नौबतवादक इसी स्थान पर बैठ कर रूक-रूक कर दिन भर नौबत बजाया करते थे। जब बारात या ताजिये का जुलूस चलता था तो उसी प्रकार के अस्थायी नौबतघर जो तख्तों पर बनाए जाते थे, कहारो के कन्धों पर रख कर सबके आगे आगे चलते थे और रात्रि भर नौबत बजती रहती थी। यही नौबत कालान्तर में लखनऊ मे समय-विभाजन के कार्य में प्रयुक्त होने लगी।[1]

नौबतवादक भी लखनऊ में बहुत उच्च श्रेणी के थे और लगभग प्रत्येक स्थानो पर लखनऊ से ही नौबतवादक नौबत बजाने के लिए बुलाए जाते थे इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों से भी नौबत बजाने में रूचि रखने वाले लोग यहाँ आकर यहाँ के उस्तादों से सीखा करते थे। लखनऊ के संगीत केन्द्रों ने जिन वस्तुओं और जिन धुनों को चुन करके समाज में प्रचलित कर दिया था वही धुने और वस्तुएं नक्कारखानो में सुनी जाने लगीं। यद्यपि नौबतवादन का प्राचीन स्वरूप अपने मूल रूप में प्रचलित रहा, किन्तु फिर भी नवीन धुनों का भी प्रयोग किया जाने लगा।[2] अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं मे अपने काल की जिस नौबत वाद की कला का

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 224.
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 223.

चित्र प्रस्तुत किया है ।[1] लगभग वही स्वरूप 18 वीं शताब्दी तक प्रचलित रहा और उसमें बहुत कम अन्तर आया । परन्तु शहनाई से जो धुनें और गीत बजाते थे, उन पर लखनऊ की संगीत का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा ।

4- तुरही और करना :

लखनउ का चौथा महत्वपूर्ण सामाजिक और राजकीय तथा सैनिक वाद्य तुरही और करना था, जो भारत का अति प्राचीन देशी वाद्य था जिसे युद्ध के समय सेनाओं के साथ प्रयोग में लाया जाता था । "तुरही" की संरचना से ज्ञात होता है कि, यह भी भारत में दीर्घकाल से प्रचलित रहा किन्तु "करना" विशेषतः ईरानी वाद्य है ।[2] "करना" की ध्वनि कुछ ऐसा वातावरण उत्पन्न करती है, जिससे युद्ध में उत्तेजना आ जाती थी। "तुरही" और "करना" दोनो हीवाद्यों का लखनऊ के जुलूसों में प्रमुखता के साथ प्रयोग किया जाता था । किन्तु स्थायी वाद्य के रूप में प्रचलित नही था अपितु सैन्य टुकड़ियों के साथ "तुरही" या "करना" बजाने वाले लोग चला करते थे, जो रूक-रूक कर थोड़ी-थोड़ी देर में अपना वाद्य "तुरही" और "करना" बजा कर अपनी उपस्थिति का भान कराते थे ।[3] इन दोनों संगीत वाद्यों के साथ हिन्दुओं का अति प्राचीन वाद्य "नरसिंहा"

---

1. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास-खल्जी कालीन भारत-पृ0-154,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- 225,
3. शरर, अब्दुला हलीम- गुजस्ता लखनऊ- 226,

भी बजता था जो कभी-कभी हिन्दुओं के धार्मिक जुलूसों के साथ बजता था। लखनऊ में यह वाद्य भी दिल्ली से ही आया था ।[1]

5- बिगुल और डंका :

लखनऊ में पाँचवा महत्वपूर्ण वाद्य "बिगुल" और "डंका" था । वास्तव में यह प्राचीन तथा आधुनिक वाद्यों का सम्मिश्रण है। डंके का तात्पर्य वह नक्कारे से है जो पहले विजेता सेना के साथ रहा करता था और बजाया जाता था । सल्तनतकाल में दिल्ली के सुल्तान जब विजयी होकर सेना सहित राजधानी में प्रवेश करते थे तो नक्कारे बजाते हुए प्रवेश करते थे ।[2] नक्कारे का इसी प्रकार का प्रयोग मुगल काल में भी प्रचलित था। " बिगुल" अंग्रेज़ी सेना का वह वाद्य है, जिसके द्वारा सेना को आवश्यकतानुसार उनके कार्यों की आज्ञा दी जाती थी । अतः 18 वीं शताब्दी में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण डंके के साथ बिगुल को मिलाकर एक नया जोड़ा बना लिया गया ।[3] जो आधुनिक काल में विवाह तथा बारातों के साथ दिखाई देता है।

6- अंग्रेजी बैण्ड (आर्गनबाजा) -

जहाँ तक "अंग्रेजी बैण्ड" का प्रश्न है, यह पूर्ण रूप से विदेशी है, जो अंग्रेज अपने साथ भारत लाए थे । लखनऊ में अंग्रेजी बैण्ड बजाने का

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुज़श्ता लखनऊ- 226,
2. रिज़वी, सैय्यद अतहर अब्बास- तुगलक कालीन भारत-पृ0- 72-73,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुज़श्ता लखनऊ-पृ0- 226,

कार्य निम्न वर्ग की " मेहतर" नामक जाति करती थी ।[1] संभवत इसका कारण यह था कि प्रारम्भ में हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही वर्ग के लोग ईसाइयो से घृणा करते थे । अगर कोई ईसाई उनके बर्तनों को छू लेता था तो वह उसे अशुद्ध समझते थे । ऐसा भेदभाव ईसाइयों और हिन्दू तथा मुस्लिमों के मध्य व्याप्त था। चूँकि इस अंग्रेजी बैण्ड को सीखने के लिए अंग्रेजों के सम्पर्क में आना पड़ता और मुँह से लगा कर सीखना पड़ता इसलिए हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही अंग्रेजी बैण्ड सीखने के प्रति उदासीन रहे । ऐसी परिस्थिति में हिन्दू समाज के निम्न वर्ग ने इस अंग्रेजी बैण्ड को सीखा । हिन्दू समाज का यह निम्न वर्ग संगीत में कोई रुचि नही रखता था, और प्रारम्भ में इसने पाश्चात्य धुनों को ही अपनाया किन्तु जब मेहतरों ने अंग्रेजी बैण्ड को बजाना भली-भाँति सीख लिया तो उन्होनें भारतीय धुनों को भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया ।[2] केवल इन अंग्रेजी बैण्ड के बजाने वालों के पाश्चात्य आधार पर ही भारतीय धुनों का प्रयोग किया ।[2] इन्होनें पाश्चात्यवादन का भारतीयकरण करने का प्रयोग नही किया । जिन गजलों और ठुमरियों को रोशनचौकी बजाने वाले शहनाई द्वारा प्रस्तुत करते थे उन्ही को अंग्रेजी बैण्ड के बजाने वाले अपने वाद्य यंत्रों के द्वारा प्रस्तुत करते थे । किन्तु कालान्तर में जब अंग्रेजी बैण्ड को समाज के अन्य वर्गों ने भी अपनाना

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 226,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0 227,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 227,

प्रारम्भ किया तो इन पाश्चात्य धुनों का भी भारतीयकरण होना प्रारम्भ हो गया और इन अंग्रेजी वाद्य यंत्रों के माध्यम से शुद्ध भारतीय धुनों का प्रस्तुतीकरण होने लगा । इसका एक और महत्वपूर्ण प्रभाव समाज पर यह पड़ा कि इन अंग्रेजी वाद्य-यंत्रों को निम्न वर्ग द्वारा अपनाने से समाज के सर्वाधिक शोषित और दलित वर्ग के स्तर में भी वृद्धि होने लगी और यह निम्न वर्ग के अंग्रेजी वाद्य-वादक लखनवी समाज तथा सांस्कृतिक जीवन के अभिन्न अंग बन गए । क्योंकि अब इस वर्ग के द्वारा संचालित बैण्ड लगभग सभी उत्सवों विवाह और अन्य हर्षोल्लास के अवसरों पर बुलाए जाने लगे । लगभग यही स्थिति आज तक चली आ रही है जो लखनवी संस्कृति की ही देन मानी जा सकती है।

जहाँ तक अवध के संगीतकारों का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में मिर्जा रजब अली बेग सरूर ने लिखा है कि " कलावंत कव्वाल बेमिसाल, छज्जू, खाँ, गुलाम रसूल सबको संगीत मे कमाल उसूल, सूरी की मुँहजोरी की धूम है, पट्टे का आविष्कार हुआ सबको मालूम है । बख्शू और सालारी ने तबला ऐसा बजाया कि पखावज शरमाया ।[1] जैसा कि रजब अली बेग सरूर को कथन से स्पष्ट है कि, लखनऊ में उच्च श्रेणी के कलाकार संगीतकार उपस्थित जो दरबार में आश्रय पाते थे । एक अन्य संगीतकार मीर मोहम्मद पनाह थे जो अवध में बहुत लोकप्रिय थे । मीर मोहम्मद पनाह ने अवध के प्रख्यात गायक और संगीतकार सिराजउद्दीन खाँ को धुमद

---

1. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए- आजायब- पृ0- 9,

की शिक्षा दी थी ।[1] नवाबी काल के ऐतिहासिक ग्रंथों से ज्ञात होता है कि 18 वीं शताब्दी के अवध में आनन्द बख्श, शुजात खाँ, मोहम्मद खाँ, देवी दास, जीवन खान, मुसाहिब खान, हस्सू खाँ और मीर जाहिद आदि कुशल कलाकार थे ।[2] अन्य कलाकारों में यबार खाँ, जाफर खाँ, हैदरी खाँ, और बासित खाँ थे जो मियाँ खान हुसैन के वंशज थे । रामपुर के वजीर खाँ, मुहम्मद अली खाँ, बासित खाँ, नियामत उल्ला खाँ भी संगीत के प्रसिद्ध विद्वान थे जिन्होंने अपनी कला के उच्च प्रदर्शन से संगीत को समृद्ध किया । नियामत उल्ला खाँ ग्यारह वर्षों तक मटियाबुर्ज में नवाब वाजिद अली के साथ रहे तत्पश्चात् लगभग तीन वर्षों तक नेपाल के शाही दरबार में रहे ।[3]

18 वीं शताब्दी के अवध में संगीत की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि , फैजाबाद और लखनऊ में शास्त्रीय संगीत और भारतीय संगीत का अत्यधिक विकास हुआ । इसके अतिरिक्त लखनऊ की संस्कृति भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के विकास का केन्द्र बन गई । विभिन्न प्रकार की संगीत की धुनें समन्वित होकर एक नवीन स्वरूप के साथ विकसित होने लगी । इस समन्वय की प्रक्रिया में हिन्दू तथा मुसलमानों, सभी कलाकारों ने परस्पर सौहार्द और आपसी तालमेल से अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया और संगीत की कला को एक विशेष दिशा प्रदान की जो जाति धर्म के बंधन से

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात- पृ0- 573,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद- पृ0- 574,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ0- 213,

ऊपर उठ कर इंसान को इंसान के प्रति प्रेम का सन्देश देती है ।

नृत्य :

नृत्य तथा संगीत का परस्पर अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि संगीत का तात्पर्य गायन, वादन, नृत्य तीनों से है। नृत्य संगीत का ही अभिन्न अंग है जिसका संगीत से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है ।[1] संगीत के साथ नृत्य भी लोगों के मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन है । प्रत्येक उत्सव, विवाह या अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक रीतिरिवाजों में नृत्य का आयोजन अवश्य होता था, यही कारण है कि अवध में हुआ । क्योंकि संगीत और नृत्य अवध की समाज और संस्कृति के अभिन्न अंग है ।

संगीत की भाँति नृत्य के भी प्रारम्भिक केन्द्र वाराणसी, अयोध्या तथा मथुरा ही थे ।[2] क्योंकि प्रारम्भ में भारत में नृत्य का पालन-पोषण सदैव धर्म के अन्तर्गत रहा, अतः इस नृत्य कला के विशेषज्ञ ब्राह्म्मण ही रहे तथा इसका विकास वाराणसी के हिन्दू कत्थक तथा बृज और मथुरा के रहस्यधारी नर्तकों ने किया । अयोध्या और वाराणसी के ब्राह्म्मण जो कत्थक कहलाए, इस नृत्य कला में अत्यन्त निपुण थे । मथुरा और बृज रासलीला के लिए प्रसिद्ध थे अतः इन स्थानों के ब्राह्म्मण जिन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र को एक नाटक के रूप में प्रस्तुत करने में दक्षता प्राप्त कर ली थी, वे रहस्यधारी के नाम से प्रसिद्ध हो गए ।[3]

---

1. साहनी, डॉ० पी०आर०-आधुनिक भारतीय संस्कृति-पृ०- 415,
2. उमर, डॉ० मोहम्मद 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद, पृ०- 570,
3. किदवई, इकरामउद्दीन- लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ०- 70,

कालान्तर में नृत्य कला दो भागों मे विभाजित हो गई प्रथम पुरूष नर्तक और द्वितीय स्त्री नर्तकियाँ ।[1] प्रथम श्रेणी के नर्तकों का मुख्य उद्देश्य कलात्मक रूप से तथा लय बद्धता के साथ नृत्य करना और द्वितीय श्रेणी की नर्तकियों का मुख्य उद्देश्य कोमलता और प्रेम पूर्ण हाव-भाव प्रदर्शित होता था ।[2]

भारत में मध्यकाल में दरबारों मे नृत्य का आयोजन होता था परवर्ती मुगल शासक मुहम्मदशाह भी नृत्य प्रेमी थे किन्तु दिल्ली के पतनके पश्चात वहाँ के कलाकार दूसरे स्थानों पर जाने लगे और अवध के नवाबों की नृत्य कला के प्रति गहरी अनुराग और रूझान के कारण विभिन्न क्षेत्रों के कलाकार अवध में आने लगे । नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में पुरूष और महिला दोनो हीप्रकार के नृत्य कलाकार थे । नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में सुन्दर युवतियाँ भी थी जो नृत्य की सभी कलाओं में प्रशिक्षित थी । नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में वाराणसी के तथा अयोध्या के निपुण कत्थक भी स्थान पा गए थे ।[3] इस विभिन्न क्षेत्रों सेआए हुए कलाकार विभिन्न नृत्य शैलियों को भी अपने साथ ले आए इनविभिन्न नृत्य शैलियों का अवध की परम्परागत नृत्य शैली के साथ जब सम्पर्क हुआ तो अवध की नृत्य शैली और भी आकर्षक होकर विकसित होने लगी।

---

1. किदवई, इकरामउद्दीन - लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 70,
2. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ0-79-80 अनुवाद- डॉ0 मो0 उमर। लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0-70,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुंजश्ता लखनऊ-पृ0- 188,

जहाँ तक पुरूष नर्तकों का प्रश्न है, पुरूष नर्तकों के अवध में दो समूह थे - एक हिन्दू कत्थक और रहस्यधारी [1] तथा दूसरे मुसलमान काश्मीरी भाण्ड। किन्तु वास्तविक नर्तक कत्थक ही थे।[2] कत्थक नर्तक यथार्थ नर्तक है और काश्मीरी भाण्ड अपने कार्यक्रमों को जीवंतता प्रदान करने के लिए प्रायः एक लड़के को प्रस्तुत करते थे जो स्त्रियों की भाँति लम्बे बाल रखता था और ऐसे हावभाव प्रदर्शित करता था जिससे दर्शक अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते थे। लखनऊ में हिन्दू कत्थक नर्तक सदैव लोकप्रिय रहे। कत्थक शैली भारत की अति प्राचीन शैली है।[3]

उत्तर भारत में कत्थक की दो शैलियाँ प्रचलित थीं - जयपुर शैली और लखनऊ शैली- जयपुर शैली राजपूत राजाओं के प्रश्रय का परिणाम थी जो कत्थक नृत्य का प्राचीन धार्मिक स्वरूप बनाए रखना चाहते थे। लखनऊ शैली स्पष्ट रूप से उन दिनों में उभरी जब अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह अवध के शासक बने। यद्यपि नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल में कत्थक काल में कत्थक शैली अत्यधिक लोकप्रिय हो गई किन्तु एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल में कत्थक शैली में प्रस्तुत की जाने वाली विषय- वस्तु, जो

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा-पृ0- 79,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद - 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद, पृ0- 574,
3. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एनओरियंटल कल्चर, पृ0- 141, अनुवाद-ई0एस0हार्कोर्ट, फाकिर हुसैन,

पौराणिक कथाओं पर आधारित थी, की भव्यता तो बनी रही, किन्तु उसकी पृष्ठभूमि फारसी हो गई। स्वयं नवाब वाजिद अली शाह ने संगीत की नवीन कृतियाँ लाकर कत्थक के विकास का प्रयत्न किया। विद्वानों का मत है कि, कत्थक नृत्य और संगीत दोनों में ठुमरी को नवाब वाजिद अली शाह ने ही प्रचलित किया था।[1]

कत्थक नृत्य की कई विशेषताएं हैं - एक तो इसकी शैली अत्यन्त सरल और चित्ताकर्षक है, साथ ही यह क्लिष्ट नहीं है। प्रसाधन सामग्री का उपयोग भी रूचिपूर्ण होता है और इसके लिए कोई निश्चित तथा कठोर औपचारिकताएं नहीं हैं। इसीलिए नृत्य नाटक या किसी एक कलाकार द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले नृत्य में कत्थक मूल कला के तत्व बने हैं।[2]

नवाब शुजाउद्दौला के काल में । सन् 1756 ई0 - सन् 1775 ई0। कत्थक नृत्य शैली के विशेषज्ञ खुशी महाराज थे। खुशी महाराज ने अपनी उत्कृष्ट नृत्य कला के कारण नवाब शुजाउद्दौला के काल से लेकर नवाब आसफउद्दौला के शासनकाल तक । सन् 1756 ई0- सन् 1797 ई0। अत्यधिक प्रसिद्धि पाई।[3] इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध नर्तक हलाल जी प्रकाश जी

---

1. चौपड़ा, पुरी, दास-भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास-पृ0- 383,
2. चौपड़ा, पुरी, दास- भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास- पृ0- 384,
3. किदवई इकरामउद्दीन-लखनऊ : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 72,

और दयाल जी थे जो नवाब सआदत अली खाँ, गाजीउद्दीन हैदर तथा नवाब नासिरूद्दीन हैदर के काल तक । सन् 1798 ई0- सन् 1837ई0। लखनऊ में रहे और अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे ।[1] मुहम्मद अलीशाह के काल से लेकर अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह के शासनकाल तक । सन् 1837 ई0- सन् 1856 ई0। प्रकाश जी के दो पुत्र दुर्गा प्रसाद तथा ठाकुर प्रसाद अत्यन्त लोकप्रिय रहे ।[2] यह कहा जाता है कि, दुर्गा प्रसाद ने नवाब वाजिद अली शाह को नृत्य की शिक्षा दी थी । इसके अतिरिक्त दुर्गा प्रसाद के दो पुत्र कालिका और बिन्दादीन भी अत्यन्त लोकप्रिय कलाकार थे । कालिका और बिन्दादीन न केवल अवध में ही वरन् भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भी व्यापक रूप से लोकप्रियता प्राप्त की ।[3] बिन्दादीन की लोकप्रियता का इसी से पता चलता है कि, सतहत्तर वर्ष के होते हुए भी लोग उसकी नृत्य कला को अत्यन्त उत्साह और रूचि से देखते थे । बिन्दादीन का लय और गति पर नृत्य करना, नृत्य के तोड़े और टुकड़े रूप से दिखाना, घुंघरू बजाने की कला का उत्कृष्ट प्रदर्शन आदि में बिन्दादीन अति कुशल थे । बिन्दादीन एक ही वस्तु को अनेक भावों, प्रकारों कोमलता तथा संकेतों में अभिव्यक्त करता था । बिन्दादीन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि, उसके पैर धरती पर इसको मलता से पड़ते थे कि, जब कभी वह तलवार की धाड़ पर नृत्य करता था तो उसके तलुओं में तनिक भी

---

1. किदवई, इकरामउद्दीन-लखनऊ : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट -पृ0- 72,
2. " " " " " " "
3. किदवई, इकरामउद्दीन: लखनऊ : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट-पृ0- 72-73,

खरोंच तक नही आती थी ।[1] ऐसे उच्च स्तर के कलाकार अवध में थे ।

पुरुष नर्तकों की द्वितीय समूह भाण्ड था। भाण्ड पुरुषों का द्वितीय श्रेणी का नृत्य है जिसमें कोई सुन्दर बालक आकर्षक ढंग से अपने बालों को सवारे हुए तथा चोटियों से युक्त स्त्रियोचित वस्त्र धारण कर गाते हुए नृत्य करता था तथा उसके साथ लयबद्ध संगत की जाती थी । इस नृत्य में संगीत चपलता, अभिनय और हास्यपूर्ण गायन-वादन के साथ अभिनीत की जाती थी । विभिन्न प्रकार के वाद्य-यंत्रों के साथ वहाँ एक दर्जन भाण्ड रहते थे जो बालक के नृत्य और गायन की प्रशंसा कर उसका उत्साह वर्द्धन करते थे । वह उत्तेजित होकर ताली बजाते थे और नर्तक अपनी भाव भंगिमा से लोगों का मनोरंजन करता था जब बालक कुछ समय तक अपनी गति को बजाए रखता था, और जब वह थक जाता था तो वे लोग आकर बड़ी चालाकी से उसके हास्यपूर्ण भाव-भंगिमाओं की नकल करते थे । लखनऊ में इन भाण्डों की दो श्रेणियाँ थीं - एक तो काश्मीरी भाण्ड, जिसकी जन्म स्थली, काश्मीर है । द्वितीय ,वह स्थानीय लोग थे जो दूसरे व्यवसायों के थे किन्तु अपनी व्यक्तिगत रूचि के कारण इस कला को अपनाए हुए थे ।[2]

लखनऊ मे छोटे लड़कों का भी नृत्य की भी प्रथा प्रचलित थी । मिर्जा कतील ने यह लिखा है कि, धनी लोगों की महफिलों से अतिरिक्त

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ -पृ0- 190,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजश्ता लखनऊ-पृ0- 191,

अन्य लोगों का यह कार्य है कि, कुछ लोग एक स्थान पर एकत्रित हो जाते थे और उन लड़कों को नृत्य करने को कहते थे । नृत्य की समाप्ति पर दर्शक, अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार रूपया पैसा देता था । यद्यपि मुसलमानों का सभ्य वर्ग तो इस प्रकार की महफिलों मे भाग नही लेता था किन्तु निम्न वर्ग के मुसलमान बड़ी संख्या में भाग लेते थे । इन लड़कों का नृत्य इतना अधिक लोकप्रिय था कि एक बार वेश्याओं का नृत्य लोग नही देखते थे किन्तु लड़कों का नृत्य लोग अवश्य देखने जाते थे ।[1] उर्स व मेलो-ठेलों में तथा अन्य महफिलों में भी इस लड़कों के नृत्य का प्रबन्ध होता था । अवध के प्रख्यात शायर सआदत यार खाँ रंगीन ने लिखा है कि जब वह इलाहाबाद में रहते थे और एक दरगाह में गए तो एक लड़का नृत्य कररहा था और मुसहफी की यह पंक्तियाँ कह रहा था-

" गुल खा मुए थे, जिनके लिए जिस्म जार पर
दो फूल भी न लाए वह मजार पर ।।" [2]

अभिनय और हास्यपूर्ण गीतों के साथ नृत्य भारत की प्राचीन कला है और राजा विक्रमाजीत के दरबार में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था । उन दिनों गंभीर नाटकों का एक विधान था जो निश्चित रूप से सुधारात्मक और सांस्कृतिक अभिनय था। मुगलकाल के पूर्व मुस्लिम राज्य में अभिलेखों में उस तरह के भाण्ड नृत्य या कलाकारों के नाममात्र भी

---

1. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- हफ्त तमाशा पृ0- 79-80, उर्दू अनुवाद डॉ0 मोहम्मद उमर,

2. रंगीन, सआदत यार खाँ- मजलिस-ए-रंगीन-पृ0- 47,

उदाहरण नहीं मिलते । संभवत इसका एक कारण यह हो सकता है कि, उस काल के अभिलेखों में इस कला को तुच्छ समझ कर उल्लिखित नहीं किया गया । किन्तु मुगल काल में भाण्ड -नृत्य निश्चित रूप से लोक प्रिय हो चुकी थी । मुगल सम्राट औरंगजेब के पश्चात भी, इस कला के अस्तित्व का परिचय मिलता है । मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के शासनकाल में भाण्ड अत्यन्त लोकप्रिय हो गए थे । मुहम्मदशाह के शासनकाल का एक प्रसिद्ध भाण्ड "करेला" था । यह भी अवध राज्य स्थापित होने के पश्चात अवध में आ गया और अपार लोकप्रियता प्राप्त की । लखनऊ में बरेली तथा मुरादाबाद से भी कुछ भाण्ड आए और लखनऊ में ही रह कर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे । ये भाण्ड भिन्न-भिन्न अवसरों पर बुलाये जाते थे । यह भाण्ड जिसके यहाँ जाकर नृत्य करते वहाँ उसकी नकल अवश्य करते थे और इतनी कला और कुशलता से उन अमीरों पर कटाक्ष करके उनकी त्रुटियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते थे कि वे बुरी न लग कर प्रिय बन जाती थी । इसी प्रकार नकल करने में जिसकी नकल करते उसका ऐसा वास्तविक चरित्र-चित्रण करते कि, लोग आश्चर्य चकित रह जाते । नवाब नासिरूद्दीन हैदर के काल में एक और करेला भाण्ड था । इसके बाद के समय में सज्जन, कयूम, रजबी , नौशाह और बीबीकदर, फजल हुसैन, खिलौना और बादशाह पसन्द अत्यन्त प्रसिद्ध हुए ।[1]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 194,

यद्यपि अवध में पुरूष नर्तकों ने काफी लोकप्रियता प्राप्त की थी किन्तु अवध में समाज पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव डोमनियों[1] का पड़ा । प्रारम्भ से ही सभी कस्बों, शहरों, और प्रान्तों में विवाह आदि शुभ अवसरों पर गाने वाली मिरासिनें[2] और जोगिने उपस्थित थीं । कालान्तर में इसी प्रकार की एक जाति डोमनियों ने 18 वीं शताब्दी में अत्याधिक लोकप्रियता प्राप्त की । इस डोमनियों ने पुरूष भाण्डों तथा गायकों की भाँति तबला, सारंगी और दरबारी संगीत को अपनाया तथा पुरूषों से प्रशिक्षण प्राप्त किया । इन डोमनियों ने गायन, नृत्य तथा भाण्डों की भाँति स्त्रियों की सभाओं में अपनी कला का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया और विवाह की समस्त रस्मों का एक अंग बन गईं । इन डोमनियों ने धनी परिवारों की बेगमों को ऐसा मोहित कर लिया कि, कोई महल और ड्योढ़ी ऐसी नहीं बची जो डोमनियों के कार्यक्षेत्र से अछूता रहा हो । इन डोमनियों के नृत्य और गायन में इतना आकर्षण था, कि पुरूष लोग भी बड़ी रूचि के साथ इन डोमनियों की कला का प्रदर्शन देखने को अत्यन्त उत्सुक रहते थे ।[3] यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि मुस्लिम समाज में प्रतिबन्ध के बावजूद निम्न जाति स्त्रियाँ नृत्य करती थीं । लखनऊ की एक प्रसिद्ध नृत्यांगना "गौहर" ने अवध के बाहर कलकत्ते तक प्रशंसा प्राप्त की । अन्य नर्तकियों में जोहरा मुशतरी, सायरा और जद्दनबाई थी जो न केवल नृत्य करती थी, वरन

---

1. लकड़ी के बाँस की वस्तुएं बजाने वाली एक निम्न श्रेणी की जाति- गुजस्ता लखनऊ-पृ0- 194,
2. गाने बजाने वाली औरतें जो शुभ अवसरों पर गाती थीं किन्तु वेश्या नहीं होती थी- गुजस्ता लखनऊ -पृ0-194,
3. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ -पृ0- 196,

गायन मे भी निपुण थी । इनमे से जद्दनबाई ने तो दीर्घकाल तक लखनऊ वालों को अपनी कला से प्रभावित किए रखा ।[1] प्रख्यात शायर सआदत यार खाँ रंगीन ने अजीज नर्तकी और मेहताब के नृत्य का बड़े आकर्षक ढंग से वर्णन अपनी शायरी में किया है -"

" कि शोला या वह बर्क की जीमेरा जल गया,
ऐसी ही थी निगाह की बस दम निकल गया ।[2]

अजीज नर्तकी शायरा भी थी और सआदत यार खाँ रंगीन ने उसकी एक कविता भी नकल की है।[3]

अवध में तीन प्रकार की नर्तकियों की श्रेणी थी प्रथम कंचनिया- जो देह-व्यापार करती थी । कंचनिया मूलतः दिल्ली और पंजाब से अवध आई थी । इनका आगमन नवाब शुजाउद्दौला के काल में हुआ था। नगर की अधिकांश नृत्यांगनाए इसी श्रेणी की थीं । नर्तकियों की द्वितीय श्रेणी " चूनेवालियों " की थी जिनका वास्तविक कार्य पहले चूना बेचना था किन्तु बाद में यह नृत्य और गायन का कार्य करने लगी । इस श्रेणी की प्रसिद्ध नृत्यांगना चूने वाली हैदर थी जो अपनी जाति की नर्तकियों की प्रमुख थी तथा अपने साथ नर्तकियों का एकबड़ा समूह रखती थी ।

---

1. उमर, डॉ० मोहम्मद - 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद-पृ०- 575, देखिए चित्र सं० 10,
2. रंगीन, सआदत यार खाँ मजलिस-ए- रंगीन -पृ०- 42,
3. रंगीन, सआदत यार खाँ- मजलिस-ए-रंगीन-पृ०-70,

चूने वाली हैदर की आवाज बहुत सुरीली थी ।[1] नर्तकियों की एक तृतीय श्रेणी थी जिन्हें "नागरानियां" के नाम से जाना जाता था ।[2] इन नृत्यांगनाओं के अतिरिक्त और भी अनेक श्रेणियां नृत्यांगनाओं की थीं जो नृत्य गायन आदि का कार्य करती थी । मीर हसन देहलवी ने खानगियों और कसाबियों[3] का भी वर्णन अपनी कृतियों में किया है ।[4] मीर हसन देहलवी ने एक मसनवी में जो उन्होनें कासिम अली खाँ के विवाह के अवसर पर लिखी थी जब नजर अली नामक उनके मित्र ने उनसे कहा कि जो नर्तकियाँ वहाँ उपस्थित थी उनके बारे में अलग-अलग कविता लिखिए तो मीर हसन देहलवी ने विस्तृत रूप से इन नर्तकियों के ऊपर एक मसनवी की रचना की । इस मसनवी में निम्नलिखित नर्तकियों का उल्लेख किया गया है - राजा ।प्रथम। जलालू, फैजू, नन्ही, पन्ना, मिसरी ।प्रथम। नूरबख्श, मानी, हमीअत, दरदाना, अजागर ।प्रथम। इलाहीबख्श, गोजरी, नाजी, फैजबख्श, दोदिली, वासला, दौलताबादी, नूरन, जहूरन, दिलोजान, सब्जा, चितलगन, काको, उजागर ।द्वितीय। नादिरा, करीमबख्श बरनी, मिसरी ।द्वितीय। राजा ।द्वितीय। । मिर्जा .तीम ने लखनऊ की तवायफों मे से जोगिया, मीर बख्श, बीबी मुगलानी

---

1. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वी सदी से हिन्दुस्तानी मआसिरात, मीर का अहद -पृ0- 576,
2. उमर, डॉ0 मोहम्मद- 18 वी सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात मीर का अहद-पृ0- 577,
3. खानगियो और कसाबियों- वे बाजारू औरते जो पर्दानशी होकर देह व्यापार करती थीं - मुजमुआ मसनवियात-153,
4. देहलवी, मीर हसन-मजमुआ मसनवियात-पृ0-153,

बीबी गुले आदि के नाम उल्लिखित किए है ।[1]

मेला, उत्सव आदि के अवसर पर ये नर्तकियाँ अपने डेरों के साथ जाती थी । फैजाबाद में लाल बाग के मेले के अवसर पर हजारों खानगी और कसबी श्रेणी की नर्तकियाँ उपस्थित थी ।[2] इन नर्तकियों का रोचक विवरण मिर्जा रजब अली बेग सरूर ने अपनी पुस्तक फसाना-ए-आजायब मे किया है ।[3] इस प्रकार इन नृत्यांगनाओ ने भी अवध की जनता का पर्याप्त रूप से मनोरंजन किया । वास्तव में हिन्दुओं में भी इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित थी जिसे "देवदासी"[4] कहा जाता था जिससे ज्ञात होता है कि, यह हिन्दू प्रभाव था जो अवध पर पड़ा ।

अवध में नर्तकों नर्तकियों का एक अन्य वर्ग भी था जिसने अवध में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की, वह थे मथुरा व ब्रज के रहस्यधारी कलाकार इन्होंनें अंतिम नवाब वाजिद अली शाह के शासनकाल तक नृत्य के क्षेत्र में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था । इन्होनें प्रेम कथा जो इन दिनों परियों की सुन्दरता व प्रेम से अधिक सम्बद्ध थे, वास्तविक रूप से दिखाने का प्रयत्न किया जो अत्यधिक लोकप्रिय रही ।[5] जनता की इसी लोकप्रियता का लाभ उठाकर मियाँ अमानत ने " इन्द्रसभा " नामक

---

1. उमर, डाॅ० मोहम्मद- 18वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआसिरात-पृ०- 577,
2. देहलवी , मीर हसन- मजमुआ मसनवियात मीर हसन-पृ०- 153,
3. सरूर, मिर्जा रजबअली-फसाना-ए- आजायब-पृ०- 9,
4. चोपड़ा, पुरी, दास-भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास-पृ०- 223,
5. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ- पृ०- 210,

उत्कृष्ट नाटक की रचना की जिसमें हिन्दुओं की कथा में मुसलमानों की फारसी रुचि का समन्वय किया ।[1] इससे ज्ञात होता है कि कला का कोई क्षेत्र ऐसा न था जहाँ समन्वय न हुआ हो । इस नाटक का जब अवध में प्रदर्शन किया गया तो यह इतना लोकप्रिय हो गया कि, अवध की जनता अब । नवाबी शासन के अंत में । गायकों नर्तकियों तथा वेश्याओं की ओर से विमुख होने लगी ।[2]

नाटक की ओर जनता की रुचि ने नाटक तथा रंगमंच की शक्तिशाली नींव डाल दी और यदि कुछ दिन और शाही शासन रहता तो शुद्ध भारतीय नाटक एक विशेष स्वरूप प्राप्त कर लेता जो भारतीयता की भावना से युक्त होता । किन्तु अचानक सभ्य समाज ने गायकों, नर्तकों तथा मुजरा की ओर रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया । किन्तु फिर भी रंगमंच के उत्कर्ष से लखनऊ में एक ऐसा समूह उत्पन्न कर दिया जिसे "अभिनेता" कहा गया ।[3]

---

1. शरर, अब्दुल हलीम-गुजस्ता लखनऊ पृ0- 212,
2. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ पृ0- 213,
3. शरर, अब्दुल हलीम- गुजस्ता लखनऊ - पृ0- 210

अध्याय - 4

## 18 वीं शताब्दी के अवध में स्थापत्य कला -

इतिहास के बहुमुखी स्वरूप की व्याख्या करना समकालीन ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है । मानवीय जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन एवं उनके मध्य व्याप्त अंतःसम्बन्धों की विवेचना ने ऐतिहासिक अध्ययन को सम्पूर्णता प्रदान की । साहित्य और कला समकालीन समाज एवं उसकी रुचियों के प्रतिबिम्ब होते हैं । कला के माध्यम से प्रतिबिम्बित मान्यताओं एवं भावनाओं द्वारा एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का पोषण होता है जो प्रकारान्तर से शासकवर्ग के दृष्टिकोण के अनुरूप होता है । इसके अतिरिक्त कला एक ऐसे सामाजिक यथार्थ की ओर संकेत देती है, जिसकी मौलिक विशेषतायें कलाकार की रचनाओं में प्रतिबिम्बित होती है, अतः वह किसी युग की मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रकृति का एक उपयोगी संकेतक बन जाती है ।

भारत की संस्कृति अत्यन्त समृद्ध सम्पन्न और विविध है। प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के विभिन्न युगो में भारतीयों ने स्थापत्य कला, संगीत कला और नृत्य कला के क्षेत्रों तथा सौन्दर्यबोध की अन्य ललित कलाओं में महानतम उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं । यही उपलब्धि देश की कलात्मक विरासत है । पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य

के अन्तर्गत 18 वीं शती के पूर्वार्द्ध में देश में राजनैतिक पतन और विघटन का युग चल रहा था, परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विकास में निष्क्रियता भी आ गई थी । विभिन्न राजाओं और नवाबों की स्थिति अत्यन्त अस्थिर और वित्तीय दृष्टि से दुर्बल हो गई थी, इसलिए वे कोई बड़ी निर्माण योजनाएँ नहीं बना पा रहे थे और न ही विशालतम भवनों का निर्माण करवा सके । कलाकार और चित्रकार राजकीय संरक्षण से वंचित होने लगे । इस प्रकार राजनैतिक अव्यवस्था में रचनात्मक प्रेरणा उलझ कर रह गई।

परन्तु 18 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद जब अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रीय स्वतंत्र राज्यों का अभ्युदय होने लगा, और जब इन स्वतंत्र राज्यों की स्थिति भली-भाँति सुदृढ़ हो गई तो एक बार पुनः मृत प्रायः सांस्कृतिक वातावरण को पुनर्रुज्जीवन प्राप्त हुआ । इन स्वतंत्र राज्यों के अधिपति कलाप्रेमी और कला संरक्षक थे, इसलिए देश के अन्य भागों के कलाकार इन स्वतंत्र राज्यों में आने लगे । इन नवोदित स्वतंत्र राज्यों में अवध का राज्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण राज्य था।

प्रथम नवाब सआदत खान बुरहानुल्मुल्क (सन् 1720 ई0-सन् 1739 ई0) और द्वितीय नवाब अबुल मंसूर खाँ सफ्दरजंग (सन् 1739 ई0 सन् 1756 ई0) अपनी राजनैतिक समस्याओं में ही व्यस्त रहे । परन्तु तृतीय नवाब शुजाउद्दौला (सन् 1756 ई0 सन् 1775 ई0) के कला और संस्कृति के प्रति प्रेम के कारण विभिन्न कलाकारों के साथ वास्तु-विशेषज्ञ भी अवध की ओर आकर्षित हुए । नवाब शुजाउद्दौला के काल

में अवध की राजधानी फैजाबाद थी और चूँकि फैजाबाद में ही नवाब शुजाउद्दौला का जन्म हुआ था।[1] इस कारण नवाब शुजाउद्दौला को फैजाबाद से बहुत प्रेम था, अतः नवाब ने फैजाबाद को सजाने सँवारने में पूरी रूचि दिखाई। नवाब शुजाउद्दौला द्वारा बनवाई गई इमारतों में "शाही महल" मोती महल" और परी महल इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है।[2] सर्वाधिक महत्व की इमारत नवाब शुजाउद्दौला का " शाही महल" था। शाही महल के ही समीप नवाब शुजाउद्दौला का दरबार था तथा बेगमों के निवास हेतु "रंगमहल" भी था। शुजाउद्दौला का शाही महल अब अफीम कोठी के नाम से प्रसिद्ध है। शाही महल " घाघरा नदी" के तट पर स्थित है। कहा जाता है कि, नवाब शुजाउद्दौला को तैरने का बहुत शौक था, इसीलिए उन्होनें घाघरा नदी के तट पर महल बनवाया था। शाही महल के पास ही नवाब का दरबार था, जिसमें वजीरों के बैठने का स्थान बना था। दरबार से कुछ दूर नवाब का विलास स्थल " मोतीमहल स्थित है। पर्दानशीं बेगमों द्वारा निःसंकोच स्नान कर सकने की व्यवस्था के अन्तर्गत " परीमहल" का निर्माण नदी तट पर करवाया था।[3]

नवाब शुजाउद्दौला ने अपने पिता अबुल मंसूर खाँ सफ्दरजंग के मकबरे का निर्माण दिल्ली में सन् 1753 ई0 करवाया था। यह मकबरा

---

1. खान, शाहनवाज- मआसिर-उल-उमरा-भाग-1-पृ0-140
2. "अमृत प्रभात" दैनिक पत्र ।इलाहाबाद। - 16 मई 1987 ई0- खण्डहरों में छिपी है अवध की शान।"
3. अमृत प्रभात । दैनिक पत्र।इलाहाबाद।- 16 मई 1987- खण्डहरों में छिपी है अवध की शान"।

बागयुक्त मकबरे का अन्तिम नमूना है, जो हुमायूँ के मकबरे के अनुरूप निर्मित किया गया है । किन्तु इसमे विस्तार की कमी-तथा लम्बमान ऊँचाई के अभाव से पिरामिड आकृति का आभास नही आया । फलतः इसका स्वरूप संतुलित नही कहा जा सकता है ।[1]

वैसे तो इमारतों के निर्माण में लगभग सभी नवाबों की रुचि थी किन्तु यह रुचि नवाब आसफउद्दौला (सन् 1775 ई0- सन् 1797ई0) मे अत्यधिक थी । नवाब आसफउद्दौला ने सन् 1775 ई0 में लखनऊ को राजधानी बनाया । जब लखनऊ राजधानी बन गई तो लखनऊ में भी बड़े पैमाने पर भवनों और इमारतों का निर्माण करवाया गया ।[2] किन्तु इन इमारतों में मुगलकाल की पत्थर या संगमरमर की इमारतों के स्थान पर चूना, गारा तथा ईंट की भव्य इमारतों का निर्माण किया गया ।[3] इसके दो कारण हो सकते है एक तो मुगल काल की भाँति उनके पास अपार धन नही था और जो धन था भी वह समकालीन राजनैतिक परिस्थितियो के कारण उसका अपव्यय नही करना चाहते थे दूसरे राजधानी की जल्द से जल्द सजावट करने के उद्देश्य से निर्माण करवाया । किन्तु

---

1. चोपड़ा, पुरी, दास-भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास-भाग-3 पृ0- 218
2. खान, अमजद अली- तवारीख- ए-अवध का मुख्तसर जायजा-पृ0- 60, देखिये चित्रसं.॥
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द - वाजिदअली शाह और अवध राज्य का पतन- पृ0- 19,

इसके बावजूद भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता की अधिकांश इमारतों का निर्माण शासकों ने मनोरंजन के लिए ही किया था। यद्यपि अनेक इमारतें शासकों ने प्रजारंजन के लिए भी निर्मित कराई। जैसे, जब सन् 1784 में अवध में भयंकर अकाल पड़ा और वहाँ की जनता भूखों मरने लगी तो उन्हें राहत पहुँचाने के उद्देश्य से विश्व प्रसिद्ध "इमामबाड़े" का निर्माण किया गया[1] इससे इसके अतिरिक्त जनहित के साथ-साथ उनके स्थापत्य प्रेम की भी अभिपूर्ति हुई।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध इमारत 'इमामबाड़ा' ही थी जो सन् 1784 ई0 में निर्मित की गई। इस इमारत का नक्शा किफायतउल्ला नामक एक वास्तु विशेषज्ञ ने बनाया था।[2] इमामबाड़े का मुख्य कमरा (हॉल) विश्व का सबसे बड़ा गुम्बजदार कमरा है जो 162 फीट लम्बा, 53 फीट चौड़ा और पचास फीट ऊँचा है। इसकी विशेषता यह है कि, इतने बड़े कमरे में एक भी खम्भा नहीं है। इसी इमामबाड़े में नवाब आसफउद्दौला और उनकी बेगम की कब्र है। प्रतिवर्ष मोहर्रम के दिनों में यहाँ बड़ी रोशनी की जाती थी, जो अब भी होती है। इमामबाड़े की सजावट का अनेक सामान तो विदेशों से मँगाया गया था।[3] नवाब

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द-वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन- पृ0- 19-20
2. रामपुरी, नजमुलगनी खाँ- तवारीख-ए-अवध-भाग-3 पृ0- 245, खान, अमजद अली- तवारीख- अवध का मुख्तसर जायजा- पृ0- 60, देखिये चित्र सं0 13,
3. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ - तवारीख-ए- अवध- भाग 3, पृ0- 245,

आसफउद्दौला ने सन् 1784 में ही " रूमी दरवाजा" या तुर्की फाटक का निर्माण करवाया था जो साठ फीट ऊँचा है ।[1] इन इमारतों के अतिरिक्त भी नवाब ने अन्य बहुत सी इमारतों बारादियाँ, नहरें, हौज, फव्वारे, स्नानागार पत्थर और शीशे के महल तथा हाथी दाँत के बँगले आदि का निर्माण करवाया था ।[2] अवध के नवाबों द्वारा बड़े पैमाने पर भवन निर्माण का एक प्रमुख कारण यह भी था कि नवाब आसफउद्दौला के काल से ही यह प्रथा बन गई थी कि नवाब की मृत्यु के पश्चात उसका उत्तराधिकारी कभी भी शव के साथ कब्रगाह तक नही जाता था, तथा उस मकान या महल में नहीं रहता था जिसमें नवाब की मृत्यु होती थी । इसीलिए प्रायः नवाब अपने " वली अहद" अर्थात् उत्तराधिकारी के लिए पृथक से एक महल बनवा दिया करते थे ।[3] यही परम्परा नवाब के अमीरों में भी प्रचलित थी । अतः इस कारण भी इमारतों की अत्यधिक निर्माण कराया गया । नवाब आसफउद्दौला के अतिरिक्त नवाब सआदत अली खाँ । सन् 1798 ई0-सन् 1814 ई0। ने भी बहुत सी इमारतों का निर्माण करवाया था । नवाब सआदत अली खाँ ने अपनी प्रिय बेगम खुरशीद महल के लिए "खुरशीद मंजिल" का निर्माण करवाया । इस भवन का निर्माण फ्रांसीसी वास्तु विशेषज्ञ क्लाड मार्टिन के निर्देशन में कराया गया था । नवाब सआदत अली खाँ के जीवन में तो यह

---

1. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ, तवारीख-ए- अवध-भाग- 3
   पृ0- 246,
2. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध- भाग- 3
   पृ0- 246-47,
3. वर्मा, परिपूर्णानन्द, वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-
   पृ0- 18 ,

इमारत पूर्ण नहीं हो सकी किन्तु उनके पश्चात उनके पुत्र नवाब गाजीउद्दीन हैदर ने यह इमारत पूर्ण करवाई ।[1] सन् 1876 ई० ब्रिटिश सरकार ने इस भवन को "लामार्टिनियर" स्कूल चलाने हेतु पादरियों को दे दिया ।[2]

लखनऊ की अन्य प्रसिद्ध इमारतों में हुसैनाबाद का इमामबाड़ा ( छोटा इमामबाड़ा ) सन् 1837 ई० हुसैनाबाद का सुन्दर तालाब सन् 1835 ई० नवाब मुहम्मद अली शाह ने बनवाया था ।[3] नवाब वाजिद अली शाह द्वारा बनवाया गया "कैसरबाग" तथा "छत्तर मंजिल" स्थापत्य कला की दृष्टि से पूर्व तथा पाश्चिमी निर्माण कला का अद्भुत सम्मिश्रण है ।[4] अवध की इमारतों पर "सुनहरी मछली" का भी प्रतीकात्मक कृति के रूप में अंकन किया जाता था । यह प्रथा नवाब सआदत अली खाँ के युग से प्रारम्भ हुई जब उन्होंने अवध के राजचिन्ह के रूप में मछली को स्वीकार किया ।[5] मछली आज भी उत्तर प्रदेश सरकार का राजचिन्ह है । हिन्दू परम्परा के शुभ चिन्ह मछली का सर्व प्रथम प्रयोग नवाब अबुल मंसूर खाँ सफदरजंग ने अपने शासन काल ( सन् 1739 ई०-सन् 1756 ई० ) में किया था और यह प्रथा उस समय जनसाधारण में प्रचलित हो गई थी । जब नवाब ने पंच महल की सभी इमारतों के प्रत्येक

---

1. वर्मा, परिपूर्णानन्द-वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन-पृ०-19
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ -द- लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर पृ०- 184- अंग्रेजी अनुवाद - ई. एस. हारकोर्ट, फाकिर हुसैन,
3. लखनऊ गजेटियर-पृ०- 154-155,
4. चटर्जी, नन्दलाल, ग्लोरियस आफ यू०पी० पृ०- 84-86, देखिये चित्र सं० 15,
5. वर्मा, परिपूर्णानन्द- वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन- पृ०- 63,

दरवाजे पर दो-दो मछलियाँ बनवाईं तो वहीं से यह प्रथा प्रारम्भ हो गई कि, लखनऊ में मकानों के मुख्य दरवाजे पर दो-दो मछलियाँ अवश्य बननी चाहिए ।[1]

दिल्ली और लखनऊ में प्रशासकीय और शाही महलों तक ही बाहरी दिखावा और तड़क-भड़क सीमित था। धनाढ्य और व्यापारियों के आवास यद्यपि भव्य होते थे और अन्दर से काफी विशाल होते थे किन्तु उनके भवन का बाह्य भाग सादा होता था । उस समय भवन-निर्माण हेतु कभी-कभी राजाओं से भी सहायता ली जाती थी, भव्य भवनों के निर्माण हेतु शाही अनुदान भी आसानी से प्राप्त हो जाता था । नवाब आसफउद्दौला और नवाब सआदत अली खाँ के समय में एक धनी फ्रांसीसी व्यापारी मार्टिन ने अनेक भव्यभवनों का निर्माण करवाया जिसका उद्देश्य यह था कि वह नवाब को भवन देकर उसका कृपापात्र बन जाय । इसके पश्चात अवध के एकमंत्री रोशनउद्दौला ने अपने व्यक्तिगत आवास हेतु एक भव्य भवन का निर्माण करवाया, जो बादमें अंग्रेजों के नियंत्रण में चली गई । किन्तु यह आज भी "रोशनउद्दौला कोठी" के नाम से जानी जाती है ।[2]

लखनऊ केभवनों में एक खुला आँगन होता था जिसमें स्त्रियाँ अपने घर में ही खुले वातावरण का आनन्द उठा सके । इसीलिए भवन साधारणतः ऐसा बनाया जाता था, जिसके मध्य में आँगन हो और

---

1. खान, अमजद अली-तवारीख-ए-अवध का मुख्तसरजायजा-पृ0- 63,
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस ऑफ एन ओरियंटल कल्चर पृ0- 185-86,

उसके चारो ओर कमरे है । घर का मुख्य भाग एक तरफ से वर्गाकार होता था और तीन या कभीकभी अधिक मेहराबदार ईंटों और मोरम के स्तम्भों पर बने होते थे । ये अधिकतर शाहजहाँकालीन स्थापत्य कला के नमूनों पर बने होते थे । कई मेहराबों को मिला कर सुन्दरता से जोड़ कर बनाए जाते थे । यह मेहराब प्रायः दो या तीन बड़े हाल से घिरे होते थे, जिसमे एक बड़ा दरवाजा और एक बड़ा कमरा होता था । इस कमरे का फर्श ऊँचा बनाया जाता था, जिसे " शाहनशी" कहा जाता था । यह मुख्य अतिथि कक्ष का कार्य करता था। इस हाल के दोनो तरफ कमरे होते थे जिसकी छत इतनी बड़ी होती थी कि, उसमे दो कमरे एक के ऊपर एक उठाए जा सकते थे । आँगन के चतुर्दिक बरामदे होते थे तथा छोटे और बड़े कमरे होते थे । जिसमें रसोई, स्नानागार भण्डारगृह, सीढ़ियाँ, और कुँए तथा नौकरो के निवास स्थान होते थे । मुख्य हॉल के सामने यदि आवश्यक समझा जाता था तो दूसरा चौड़ा और ढका हुआ निकास द्वार बनाया जाता था । द्वार प्रायः रसोईगृह और नौकरों के निवास गृह से सम्बद्ध होते थे । यह द्वारा व्यक्ति की ऊँचाई से थोड़ी ऊँची दीवारो से ढके होते थे, जिससे भवन के अन्दर की वस्तुएँ दिखाई न पड़ सके । निर्धन या मध्य वर्ग के परिवारो के घरो में कांक्रीट या ईंटों के मेहराबदार द्वारो के स्थान पर लकड़ी के दरवाजे होते थे जो भवन के मुख्य भाग से सम्बद्ध होते थे, जिसके सामने कभी-कभी दूसरे हाल या डबल हॉल होते थे ।

---

1. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर पृ0- 187

इस प्रकार के वास्तु सिद्धान्तों के आधार पर अवध के सामान्य प्रजा के भवनों का निर्माण होता था । कुछ भवन और उनके आधार इस ढंग से निर्मित किए जाते थे कि अल्प स्थान पर भी पर्याप्त रूप से स्थान निकल आता था । लखनऊ के भवनों की मुख्य विशेषता सीमित स्थान में अधिकाधिक स्थान निकालना ही थी । लखनऊ के भवनों की एक अन्य विशेषता यह थी कि कारीगर ईंट और चूने तथा गारा का प्रयोग इस कुशलता से करते कि वे लकड़ी के पर्दे की भाँति लगती ।

चूँकि फैजाबाद और लखनऊ ही अवध की संस्कृति के मुख्य केन्द्र थे अतः स्वाभाविक है कि यहाँ की स्थापत्य शैली ने अवध राज्य के अन्य स्थानों में किए गए निर्माण कार्य को प्रभावित किया होगा।

जहाँ तक हिन्दू मन्दिरों के निर्माण का प्रश्न है, अधिकांश हिन्दू मन्दिर अयोध्या में ही बनाए गए । क्योंकि अयोध्या ही प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ था । नवाब शुजाउद्दौला ने प्रसिद्ध महात्मा अभयराम द्वारा अपने मरणासन्न शहजादे को ठीक करने के उपलक्ष में हनुमानगढ़ी के नवीनीकरण का आदेश दिया जो नवाब आसफउद्दौला के प्रधानमंत्री टिकैतराय के निरीक्षण में पूर्ण हुई । इसी प्रकार नवाब सआदत अली खान के आदेश से "त्रेता के ठाकुर जी के मंदिर" का पुर्ननिर्माण किया गया और मूर्तियाँ स्थापित की गईं । अवध के द्वितीय नवाब अब्दुल मंसूर खाँ सफदरजंग के समय के दीवान नवलराय कायस्थ (इटावावासी) ने अयोध्या में 'नागेश्वर

नाथ महादेव का वर्तमान मन्दिर बनवाया था ।[1] इसके अतिरिक्त भी बहुत से हिन्दू मन्दिरों और भवनों का भव्य निर्माण कार्य अवध में हुआ। अवध मे नवाबों द्वारा ही नही वरन् उनके अमीरों द्वारा भी भव्य निर्माण कार्य हुए ।[2]

---

1. सीताराम, श्री अवधवासी- श्री अवध की झाँकी- पृ0- 42-48.
2. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- पृ0- 188, अंग्रेजी अनुवाद-ई0एस0हारकोर्ट, फकीर हुसैन.

## निष्कर्ष

18 वीं शताब्दी का अवध धन और वैभव के लिए प्रसिद्ध था, अतः जब मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हुआ तो दिल्ली से बड़ी संख्या में विभिन्न वर्ग एवं व्यवसाय से सम्बन्धित तत्व नए आश्रयों की खोज में निकल पड़े । इन परिस्थितियों में अवध के राज्य ने उन्हें आकर्षित किया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक सामन्त, सैनिक, कलाकार, साहित्यकार भाण्ड, नकल करने वाले, चुटकुला सुनाने वाले आदि इस राज्य में आकर बस गए ।

मौलाना शरर के अनुसार, अवध पूर्वी सभ्यता का अन्तिम उत्कृष्ट नमूना था । यह कथन भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण हो किन्तु यह अवध के सांस्कृतिक महत्व को इंगित करता है। जिस समय दिल्ली की राजनैतिक दुर्बलता के कारण भारतीय इस्लामी सभ्यता का पतन प्रारम्भ हुआ तो अवध निर्विवादित रूप से इस संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र बन गया । अवध के नवाबों तथा उनके दरबारियों ने सांस्कृतिक गतिविधियों में विशेष अभिरूचि दिखाई और क्षेत्रीय प्रभावों का समावेश करते हुए भारतीय मुस्लिम संस्कृति को जीवित रखा । किन्तु इसी के साथ यह भी स्पष्ट है कि यहाँ पनपने वाली संस्कृति कुछ परिवर्तन के साथ मुगल संस्कृति को भी प्रतिबिम्बित करती है, इसका मुख्य कारण यह था कि अवध के संस्थापक नवाब सआदत खाँ बुरहानुलमुल्क मुगल सामन्त थे ।

18 वीं शताब्दी के अवध की संस्कृति पर कुछ हद तक पाश्चात्य संस्कृति की भी झलक मिलती है, विशेषतः पहनावे और संगीत में यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है । क्योंकि 18 वीं शताब्दी तक भारतीय राजनीति मे अंग्रेजों का महत्वपूर्ण हस्तक्षेप होने लगा था । इसलिए स्वाभाविक रूप से अवध की सभ्यता में पाश्चात्य संस्कृति की झलक मिलती है, जो 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और विकसित हो गया । यहाँ तक कि अवध के नवाबों की वेशभूषा, खान पान और संगीत पर भी पाश्चात्य प्रभाव दिखाई पड़ता है । इस प्रकार इस काल की संस्कृति में कोई मौलिकता न होते हुए भी यह इसलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि, इसमें तीन धाराओं- मुगल, पाश्चात्य व स्थानीय, का समावेश मिलता है ।

अवध का समाज मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - मुस्लिम समाज तथा हिन्दू समाज।अवध के समाज में सर्वोच्च स्थान नवाबों का था । तारीख-ए- फरहबख्श तथा जार्ज फोर्स्टर के वृतान्तों से स्पष्ट है कि ,अवध के नवाब व उनके दरबारी अपना जीवन अत्यन्त विलासिता तथा शानोशौकत से व्यतीत करते थे । यहाँ तक कि जब नवाब शुजाउद्दौला के शासनकाल से अवध की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी तब भी इस वर्ग ने अपनी विलासिता और शानोशौकत में कोई कमी नही की । इसका एक उदाहरण यह है कि नवाब शुजाउद्दौला के पुत्र नवाब आसफउद्दौला को कबूतर बाजी में इतनी रूचि थी कि उनके कबूतर खाने में लगभग तीन लाख कबूतर थे तथा वे अत्यन्त बहुमूल्य कबूतर विदेशो से भी

आयात करते थे। नवाबों को उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोजन करने तथा भव्य भोज समारोहों के आयोजन का भी शौक था। विदेशी पर्यटक ट्यूनिंग ने नवाब आसफउद्दौला द्वारा उन्हें दिए गए उत्कृष्ट भोज का विवरण दिया है। समकालीन ग्रंथों में भी पाक-कला विशेषज्ञों द्वारा आविष्कृत नवीन स्वादिष्ट व्यंजनों का उल्लेख मिलता है, तथा छः शाही भोजनालयों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अनेक पाक विशेषज्ञ दिल्ली से भी आए थे। इन पाक विशेषज्ञों का महत्व इस बात से स्पष्ट था कि नवाब शुजाउद्दौला के साले नवाब सालारजंग अपने व्यक्तिगत रसोइये को बारह सौ रुपये मासिक वेतन देते थे।

अवध के नवाबों को बहुमूल्य तथा उत्कृष्ट वस्त्रों एवं आभूषणों का विशेष शौक था। मुगल वेशभूषा प्रचलित थी, किन्तु ईरानी वेशभूषा का भी प्रभाव मिलता है। नवाब शुजाउद्दौला एक वर्ष तक अहमद शाह अब्दाली के दरबार में रहे थे, इसलिये वह शरद ऋतु में ईरानी वस्त्र पहनना ही अधिक पसन्द करते थे। इसी प्रकार नवाब सआदत अली खाँ अंग्रेजी वस्त्रों से प्रभावित होकर कभी-कभी कोट और पैण्ट भी पहनते थे। अवध के नवाब विभिन्न उत्सवों पर मुक्तहस्त रूप से लाखों रुपया व्यय करते थे। नौरोज, ईद, चेहल्लुम, शबेबारात, मोहर्रम, बसन्त, पुत्र जन्मोत्सव आदि अवसरों पर अत्यधिक धन व्यय किया जाता था। नवाब सआदत अली खाँ वर्ष में दो बार- क्रिसमस तथा ब्रिटिश सम्राट के जन्म दिन के अवसर पर रेजीडेंसी में सम्पन्न समारोहों में भाग लेते और इस अवसर पर हजारों रुपया व्यय करते थे।

अवध के नवाबों के हरम मुगल परम्परा के ही अनुरूप आयोजित थे । इस काल की स्त्रियाँ अत्यन्त शानोशौकत से रहती थी तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में विशेष अभिरूचि रखती थी । इस काल में हरम की स्त्रियों के गायक और साहित्यकार होने का भी उल्लेख मिलता है । इन स्त्रियों के पहनावे का बखान करते हुए इंशा ने उसे दिल्ली में प्रचलित महिलाओं के वस्त्रों से श्रेष्ठ बताया है । आम स्त्रियों का जीवन साधारण था । नवाबों के अतिरिक्त मुस्लिम समाज उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों में विभक्त था । उच्च वर्ग भी नवाबों की भाँति विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करता था । उच्च वर्ग में भी तीन श्रेणियाँ थीं, जिनके सामाजिक स्तर में भी विभिन्नता थी । उदाहरणार्थ वह शेखजादे जो पूरे राज्य में फैले हुए थे और अवधी बोलते थे, उन्हें अन्य उच्चवर्गीय मुसलमान ग्रामीण व असभ्य समझते थे । मध्यम वर्ग सामान्यतः सम्पन्न था और निम्न वर्ग का स्तर लगभग वैसा ही था जैसे हिन्दू समाज में शूद्रों का था । विदेशी पर्यटक पार्लसर्ट ने इस वर्ग की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है । प्रत्येक वर्ग का व्यवसाय सुनिश्चित था । जो मुसलमान अपना व्यवसाय बदलते थे या अपने रीति रिवाज छोड़ देते थे, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था और यहाँ तक कि कुछ परिस्थितियों में उनका सामाजिक बहिष्कार भी कर देते थे । कुछ निम्नवर्गीय मुसलमान जैसे- शायर मुसहफी, मीर तकी मीर, इमामबख्श नासिख आदि प्रख्यात शायर होते हुए भी अपने वंश की वास्तविकता को छिपाते थे जब धीरे

धीरे लखनऊ अवध का श्रेष्ठ सामाजिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बन गया और यहाँ निवास करने वाले नागरिकों का अन्दाज अन्य क्षेत्र के नागरिकों से भिन्न हो गया । इसीलिए इसे "लखनवी अन्दाज" कहा गया । अवध का हिन्दू समाज रूढ़िवादी, परम्परागत व अंधविश्वासी ही बना रहा ।

18 वीं शताब्दी के अवध के समाज एवं संस्कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि, इस काल में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति एवं रीति-रिवाजो को प्रभावित किया था । मुसलमान भी हिन्दुओं की भाँति ज्योतिष में विश्वास रखते थे और अंध विश्वासी हो गए थे । मुसलमानो में विवाह के अवसर पर दूल्हा द्वारा पीले वस्त्रों एवं हल्दी का प्रयोग शुद्ध हिन्दू परम्परा से ग्रहण किया गया था । इसी प्रकार पारिवारिक स्त्रियों द्वारा स्वागत गीत और बिदाई गीत का गायन भी हिन्दू परम्परा से लिया गया था । मृतक संस्कार के अन्तर्गत भी जिस प्रकार हिन्दुओं में तेरहवीं की प्रथा थी उसी तरह मुसलमानों में दसवाँ, और चालीसवाँ की रस्म अदा की जाती थी ।

अवध के सम्पन्न व निर्धन दोनो ही वर्गों की लोकप्रिय क्रीड़ायें कबूतरबाजी, पतंगबाजी और मुर्गबाजी थी । नवाब आसफउद्दौला को पतंगबाजी में इतनी रूचि थी कि वह कटी हुई पतंग लूटने वाले को पाँच रुपये देकर वह कटी पतंग खरीद लेते थे । पशुओं की लड़ाई में भी अवध के नवाब व प्रजा अत्यधिक आनन्द लेते थे । यद्यपि यह

परम्परा नवीन नहीं थी , किन्तु इसे व्यापक स्तर पर लोकप्रिय बनाने का श्रेय अवध को ही है । इसके अतिरिक्त ताश, चौपड़, चौसर और शतरंज आदि ऐसे लोकप्रिय खेल थे जिनकी चर्चा इंशा सहित अन्य समकालीन लेखकों ने की है । घुड़सवारी, शिकार खेलना, तीरन्दाजी, तलवारबाजी आदि अन्य क्रीडाओं में प्रमुख थे ।

जिस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय हो रहा था उसी प्रकार अवध की भाषा तथा साहित्य में भी विभिन्न धाराओं का समन्वय हुआ । अवध के राज्य में उर्दू, अवधी, और भोजपुरी भाषायें मुख्य रूप से बोली जाती थी किन्तु शाही संरक्षण के कारण फारसी भाषा का भी विकास होता रहा । नवाबों की उर्दू में अधिक दिलचस्पी के कारण उर्दू का विशेष रूप से विकास हुआ और नवाबों के प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप लखनऊ में उर्दू एक नए अन्दाज से विकसित हुई जिसे " लखनवी भाषा" कहा गया । लखनवी भाषा में मधुरता, आदर, तथा त्यागपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया अर्थात् यहाँ एक अत्यन्त परिष्कृत व विनम्र भाषा का विकास हुआ जो दिल्ली में प्रचलित उर्दू भाषा से अधिक मधुर और विनम्र थी ।

इस काल में अवध का हिन्दी साहित्य बिखरा हुआ दिखाई पड़ता है। परन्तु उर्दू और फारसी साहित्य शाही संरक्षण में निरन्तर विकसित होता रहा । उर्दू के प्रति नवाबों का अत्यधिक प्रेम होने के कारण इस साहित्य में सर्वाधिक विकास हुआ । आरजू, मीर हसन, मीर, सोज, मीर तकी मीर, शेख कलन्दर बख्श जुरत आदि उर्दू के प्रख्यात

कवि थे । 18 वीं शताब्दी में उर्दू कविता की मुख्यत: तीन प्रकार की विधायें प्रचलित थीं - मसनवी, मर्सिया और हजलगोई। लखनऊ में मर्सिया का प्रारम्भ मीर-खालिक के द्वारा किया गया । मर्सिया लिखना पहले निन्दनीय समझा जाता था, किन्तु अवध के नवाबी शासन काल में इसे बहुत महत्व दिया गया । वास्तव में "लखनवी संस्कृति" शिया संस्कृति के उत्थान का साधन बन गई । इसके अतिरिक्त रेख्ती, वासोख्त और तुकबन्दी का भी विकास हुआ । अवध के नवाब और अमीर-उमरा बड़ी संख्या में मुशायरे आयोजित करते थे। जिससे शायरी को प्रोत्साहन मिला, किन्तु शाही दिलचस्पी के कारण दरबारी शायरों में ईर्ष्या एवं प्रतिद्वन्दिता होने लगी । आधुनिक उर्दू साहित्य के विद्वान राम बाबू सक्सेना इस अवस्था पर टिप्पणी करते हुए यह लिखते हैं कि, शायरी दरबारी चापलूसों का व्यवसाय बन गई थी । मिर्जा रजब अली बेग 'सरूर' को उर्दू गद्य का प्रथम लेखक माना जाता है । किन्तु सूफी सन्तों जैसे- मौलवी सैय्यद अब्दुर्रहमान लखनवी ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया था । उर्दू भाषा में "नाटक" और "दास्तानगोई" लिखे जाने लगे । अवध के उर्दू साहित्य की एक मुख्य विशेषता यह थी कि "रेख्ता" के स्थान पर "रेख्ती" को प्रमुखता दी गई । लखनऊ की कविता भावनात्मक और अन्तरात्मक थी । किन्तु दिल्ली और लखनऊ की कविता में जो एक विशिष्ट समानता थी, वह यह थी कि, दिल्ली के कवियों ने भाषा की स्वच्छता और पुष्टता की जो परम्परा प्रारम्भ की उसे लखनऊ के कवियों ने बनाए रखा । फारसी साहित्य को भी राज्य का प्रोत्साहन मिलता रहा ।

जो विद्वान दिल्ली से अवध आए थे, उन्हें शाही संरक्षण प्रदान किया गया। नवाब शुजाउद्दौला ने अनेक फारसी शायरों को अपने राज्य में आने का निमंत्रण दिया तथा राज्य की ओर से वेतन प्रदान किया। जिस प्रकार उर्दू में मुशायरे होते थे, उसी प्रकार फारसी में भी मुशायरे आयोजित होते थे। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, अवध के नवाबों ने विद्वानों और साहित्यकारों को राज्य का संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया। कालान्तर में नवाब वाजिद अली शाह साहित्यकारों तथा विद्वानों के सर्वाधिक प्रख्यात संरक्षक बने। लखनऊ में शाही प्रेस की स्थापना नवाबों की साहित्यक अभिरूचि को प्रकट करती है। हिन्दी साहित्य मुख्यतः क्षेत्रीय राजाओं के दरबार में ही पनपता रहा।

पूर्वी उत्तर भारत शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र था। जिसे शाहजहाँ "भारत का सिराज" कहा करता था। लखनऊ का प्रमुख शिक्षा केन्द्र " मदरसा फिरंगीमहल" और "मदरसा शाह पीर मोहम्मद" औरंगजेब के शासनकाल में स्थापित किया गया था। किन्तु मुगलों के पतन के साथ-इसका भी पतन हो गया। यद्यपि नवाब बुरहानुल्मुल्क और नवाब सफदरजंग ने मदरसों को दिए गए वजीफों को स्थगित कर दिया था, किन्तु कुछ सामन्तगण व विद्वानों ने धार्मिक शिक्षा व लेख लिखने के पाठ्यक्रम को प्रोत्साहित किया। सन् 1765 ई0 के पश्चात शिक्षा को पूर्व से ही अधिक प्रोत्साहन मिला था। किन्तु इस काल में भी दिलचस्पी मुख्यतः सामन्तों ने ही ली थी।

उत्तर भारत में मथुरा, अयोध्या, तथा वाराणसी सदैव से संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला न केवल संगीत प्रेमी थे वरन् कुशल संगीतकार भी थे। इनके शासनकाल में भारत के कोने-कोने से कुशल संगीतकार अवध आए। नवाब शुजाउद्दौला के पुत्र नवाब आसफउद्दौला तथा उनके उत्तराधिकारियों ने इस परम्परा कोजारी रखा। अवध में ठुमरी और भैरवी बहुत लोकप्रिय थी, यहाँ तक कि, शियाओं ने भी सोजख्वानी में भैरवी को सम्मिलित कर लिया था। नवाबी शासन काल में सोजख्वानी ने एक विशेष स्वरूप धारण किया जो न केवल निम्न वरन् उच्च वर्ग के मुसलमानों में भी लोकप्रिय हो गई। सोजख्वानी लखनऊ की मुस्लिम महिलाओं में भी लोकप्रिय थी। अनेक उच्च वर्गीय मुस्लिम महिलाएँ अच्छी गायिका और संगीत पारखी थी। तबला वादन में पहले मात्र दिल्ली घराना" था, किन्तु अब " लखनऊ घराने" का भी उदय हुआ। अवध के नौबतवादक सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध थे। फैजाबाद और लखनऊ में शास्त्रीय एवं भारतीय संगीत का अत्यधिक विकास हुआ। समकालीन लेखक मिर्जा रजब अली बेग सरूर ने इस काल के संगीत विशेषज्ञों की सूची दी है। एक रोचक तथ्य यह भी है कि, इसी काल में अंग्रेजी बैण्ड भी लोकप्रिय हो रहा था, और शुद्ध भारतीय धुनों का प्रस्तुतीकरण अंग्रेजी बैण्ड के माध्यम से किया जाने लगा। संगीत के साथ-साथ नृत्य कला का भी पर्याप्त विकास अवध में हुआ। विशेष रूप से कत्थक नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ नवाब शुजाउद्दौला के काल में कत्थक नृत्य के विशेषज्ञ " खुशी महाराज" थे। नवाब

वाजिद अली शाह के काल में नृत्य कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी । इस काल में अवध के प्रख्यात नर्तक दुर्गा प्रसाद तथा ठाकुर प्रसाद थे । इस काल की नृत्य कला की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि जहाँ पहले स्त्रियों का नृत्य अत्यन्त लोकप्रिय था वहीं नवाबों के काल में अवध में पुरूषों का नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। जिसका प्रमाण यह है कि दुर्गा प्रसाद का पुत्र बिन्दादीन सत्तर वर्ष की उम्र में भी नृत्य करता था और लोग बड़े उत्साह से उसका नृत्य देखते थे । इसके अतिरिक्त अवध में 'भाण्ड' नर्तक भी अत्यन्त लोकप्रिय थे । नवाब नसीरूद्दीन हैदर के काल में एक प्रसिद्ध भाण्ड "करेला" था जो बहुत लोकप्रिय था । यद्यपि लखनऊ में पुरूषों का नृत्य ही अत्यधिक लोकप्रिय था, किन्तु वैवाहिक या शुभ अवसरों पर स्त्रियाँ भी नृत्य करती थी । विशेषकर "डोमनियों" नामक नर्तकियों का नृत्य प्रत्येक शुभ अवसरों पर कराया जाता था । इस काल की प्रसिद्ध नृत्यांगनाओं में जोहरा, मुश्तरी, गौहार आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

अवध के नवाबों को इमारतों तथा भवनों के भी निर्माण का अत्यधिक शौक था । अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला के काल में अवध की राजधानी फैजाबाद थी। अतः फैजाबाद में नवाब ने अनेक सुन्दर इमारतों का निर्माण कराया। उदाहरणार्थ, शाही महल, परी महल और मोती महल, रंग महल आदि । परन्तु जब नवाब आसफउद्दौला के काल में लखनऊ अवध की राजधानी बन गई तो लखनऊ में भी अनेक भव्य इमारतों तथा भवनों का निर्माण कराया गया। जैसे- बड़ा इमामबाड़ा, छोटा इमामबाड़ा, रूमी दरवाजा, खुरशीद मंजिल, छतरमंजिल आदि । इसमें से बड़ा इमामबाड़ा न केवल भारत वरन् विश्व की एक प्रसिद्ध इमारत मानी जाती है।

अवध के नवाब शिया मतावलम्बी थे, अतः स्वाभाविक रूप से उन्होंने शिया मत के प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया परिणाम स्वरूप बड़ी संख्या में लोगों ने शिया मत ग्रहण किया । हरदोई,

अमरोहा, और बिलग्राम जैसे स्थानों पर लोगो द्वारा शिया मत ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है । मुल्ला अब्दुल अली बहरूलउलूम लखनवी एवं मुल्ला हसन फिरंगी महल जो सुन्नी मतावलम्बी थे, को लखनऊ के शियाओं ने प्रताड़ित किया था, जिसके कारण वह नगर ही छोड़कर चले गए थे । इस तथ्य के भी प्रमाण मिलते है कि, शियाओं द्वारा सुन्नियों को परेशान किए जाने की शिकायत को नवाब अनदेखा कर देते थे । ताजियादारी को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा था। अवध के नवाब इसमें न केवल व्यक्तिगत अभिरूचि रखते थे अपितु उसमे बड़े उत्साह के साथ सम्मिलित भी होते थे । अनेक सुन्नी और हिन्दू अधिकारियों द्वारा भी ताजियादारी की रस्मो को अदा करने का उल्लेख मिलता है । सभी सैनिको के लिए ताजियादारी अनिवार्य थी । किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता है कि, जनता को बलपूर्वक शिया प्रथा के अनुकूल मोहर्रम मनाना पड़ता था । अवध में सूफी संतो और बुजुर्गों की मजारों का बहुत महत्व था । हजारो लोगो की भीड़ इनके मजारो पर लगती थी । अनेक सूफी संतो, उनकी कृतियो और प्रभावो का भी उल्लेख मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि, इस काल के सूफी संतो में नैतिकता का पतन हो रहा था। किन्तु फिर भी उनका दर्शन भारतीय स्वभाव से मेल खाता था । कादिरिया, सोहरावर्दिया और चिश्तिया सम्प्रदाय अधिक महत्वपूर्ण थे । इन बातों के बावजूद मुसलमानो में सादगी के स्थान पर बनावटीपन व दिखावा अधिक था ।

नवाबी शासन काल में कुछ हिन्दू मंदिरो का निर्माण व जीर्णोद्वार के लिए राज्य द्वारा शाही अनुदान दिए जाने का भी उल्लेख मिलता है ।

अयोध्या में "नागेश्वर नाथ मन्दिर " तथा हनुमान गढ़ी" के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं । हिन्दू त्यौहार बड़े उत्साह के साथ मनाए जाते थे और मुसलमान भी उसमें भाग लेते थे । बसन्तोत्सव में न केवल अनेक मुसलमान पीले वस्त्रों को धारण करते थे, वरन् नवाब भी हजारों रुपया व्यय कर इस उत्सव को मनाते थे । समकालीन शायर मीर तकी मीर ने दो मसनवियों में आसफउद्दौला के दरबार में होलिकोत्सव मनाए जाने का विवरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार मिर्जा कतील ने भी नवाब आसफउद्दौला के काल में होली को उत्साह से मनाए जाने का उल्लेख किया है । इस अवसर पर हिन्दू लोग मुसलमानों के घरों के समक्ष भी नाचते-गाते थे । दशहरे के दिन सामन्तों द्वारा भव्य जुलूस निकाले जाते थे । दीपावली व रक्षा-बन्धन में भी मुसलमान भाग लेते थे । अनेक मुसलमान जुआँ भी खेलते थे। किन्तु जिन मुसलमानों को जुआँ खेलने से परहेज था, वह अपने घरों में रोशनी अवश्य करते थे । मुसलमान महिलाएँ अपने भाइयों को राखी बाँधती थीं । मीर हसन देहलवी और मिर्जा कतील ने अवध के कुछ ऐसे मेलों का वर्णन किया है, जिसमें प्रत्येक वर्ग के हिन्दू और मुसलमान सभी भाग लेते थे । अवध में हिन्दुओं के अन्तर्गत जैन, बौद्ध और बैरागी पंथ भी उपस्थित थे । ऐसा प्रतीत होता है कि अवध के नवाब धर्मान्ध नहीं थे । नवाब शुजाउद्दौला का यह कथन था कि शासक को धर्म के सम्बन्ध में पक्षपात रहित होना चाहिए । नवाब सआदत अली खाँ ने भी राज्य में शान्ति-व्यवस्था के लिए ही होली और मोहर्रम के अवसर पर मदिरापान प्रतिबन्धित कर दिया था । इस प्रकार कुछ घटनाओं को छोड़कर जहाँ शियाओं ने अन्य मतावलम्बियों

को परेशान किया और शिकायत होने पर राज्य ने हस्तक्षेप नहीं किया, ऐसे कोई व्यापक तथ्य नही मिलते है कि, जिनके आधार पर नवाबी शासनकाल को धार्मिक निरंकुशता का प्रतीक माना जाय ।

अंततः यह निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि, अवध के नवाबों और निवासियों द्वारा प्रेम और हर्षोल्लास के साथ विभिन्न प्रकार के उत्सव मनाना, उनके रीति-रिवाज, बड़ों के प्रति आदर व सम्मान की भावना, हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना, अवध के नवाबों द्वारा उच्च प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकारों, शिल्पकारों, चित्रकारों, संगीतकारों, गायकों, और नर्तकों का संरक्षण एवं उपरोक्त विभिन्न कलाओं के प्रचार एवं प्रसार का विशेष प्रयत्न करना, इत्यादि 18 वीं शताब्दी के अवध की विशेष महत्वपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि है । अवध के नवाबों तथा निवासियों की शालीनता उनकी शानोशौकत, और उनकी सभ्यता प्रशंसनीय है ।
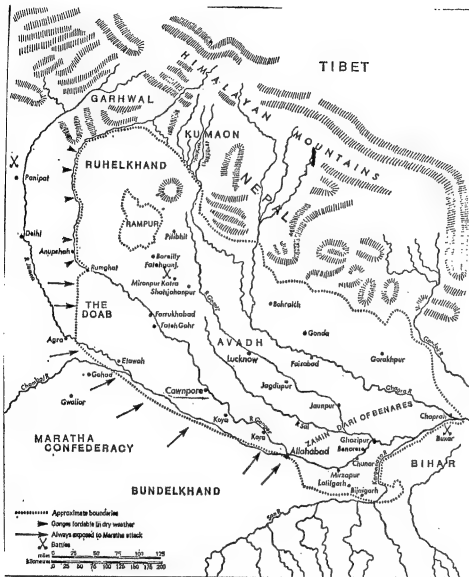
नवाब आसफउद्दौला के समय अवध की सीमायें। सन् 1775 ई0।

- सौजन्य से, टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ,

चित्र संख्या -1

अवध के प्रथम नवाब सआदत खान बुरहानुल्मुल्क (1722-1739 ई०)
- सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ

चित्र संख्या-2

अवध के द्वितीय नवाब अबुल मंसूर खाँ, "सफदरजंग"
। सन् 1739 ई0 - सन् 1754 ई0 ।

- सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ,

चित्र संख्या-3

अवध के तृतीय नवाब शुजाउद्दौला । सन् 1754 ई0-सन् 1775 ई0।
- सौजन्य से गिरि इंस्टीट्युट, लखनऊ

चित्र संख्या-4

नवाब आसफउद्दौला । सन् 1775 ई0- सन् 1797 ई0।,
-सौजन्य से, नदवतुल उल्मा, लाइब्रेरी, लखनऊ,
चित्र संख्या-5

नवाब वजीर अली खान । सन् 1797 ई0- सन् 1798 ई0।

- सौजन्य से, नदवतुल उल्मा लाइब्रेरी, लखनऊ,

चित्र संख्या-6

नवाब सआदत अली खान । सन् 1798 ई0-सन् 1814 ई0।
- सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ,
चित्र संख्या-7

अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह,
- सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ,

चित्र संख्या - 8

18 वीं शताब्दी में अवध की राजधानी लखनऊ में मुर्गबाजी का एक विहगंम दृश्य, जिसमें नवाब आसफउद्दौला ( सन् 1775ई0 -सन 1797 ई0 ) हैदर बेग खान के साथ मुर्गे लड़ा रहे हैं ।

– सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ.
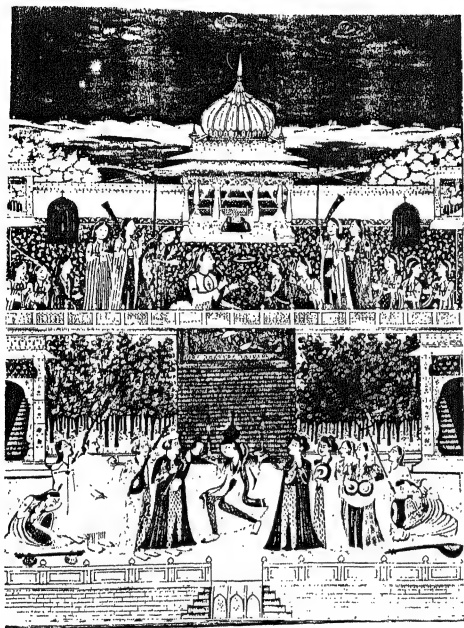
चित्र संख्या-1

सन् 1770 ई० में लखनवी नृत्य कला का एक दृश्य जिसमें मोमबत्ती लेकर एक नर्तकी नृत्य कर रही है ।

- सौजन्य से, टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ,

चित्र संख्या -10
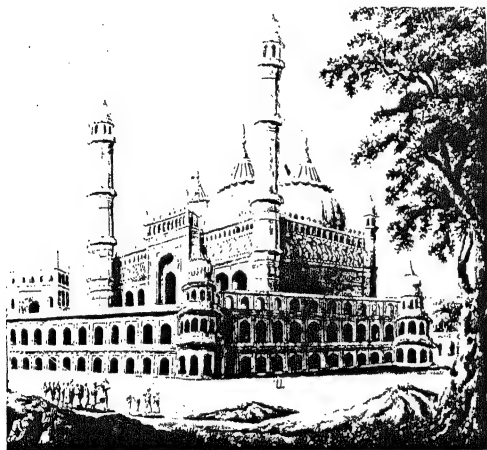
नवाब आसफउद्दौला के काल की एक इमारत। सन् 1775।
- सौजन्य से, नदवतुल उल्मा लाइब्रेरी, लखनऊ.

चित्र संख्या-11
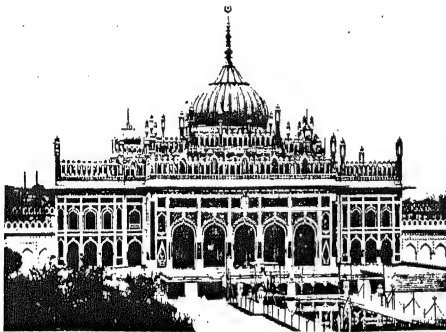
हुसैनाबाद का इमामबाड़ा । लखनऊ।

- सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ,
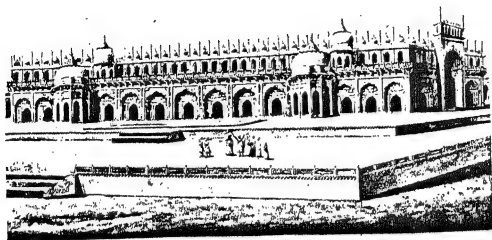
चित्र संख्या - 12

नबाब आसफउद्दौला के काल का विश्व प्रसिद्ध इमामबाड़ा , ॥1784॥
- सौजन्य से, टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ ,

चित्र संख्या - 13
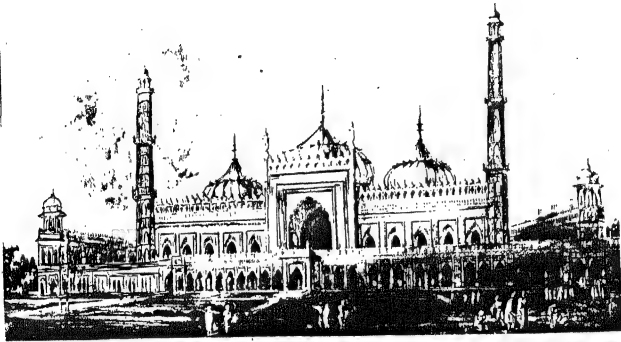
सन् 1784 में निर्मित अवध की राजधानी लखनऊ की एक प्रसिद्ध मस्जिद.
- सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ,

चित्र संख्या -14
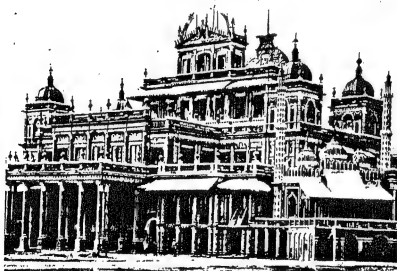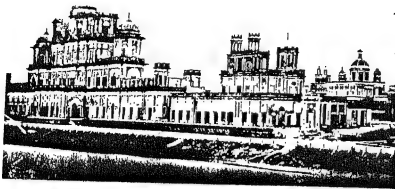
ए. "छतर मंजिल", बी. "दिलकुशा", सी, रोशनउद्दौला कामहल, अवध में नवाबी काल की स्थापत्य कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण ।

– सौजन्य से, गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ,

चित्र संख्या - 15

## संदर्भिका

### फारसी एवं उर्दू ग्रंथ :


1. अफजल, मिर्जा मोहम्मद - कलमातुश शोयरा- लाहौर, 1942, (फारसी)
2. अली, रहमान- तजकिरा- उल्मा-ए-हिन्द-नवल किशोर प्रेस लखनऊ-1914, (उर्दू)
3. आजाद, मीर गुलाम अली- खजाना-ए-आमरा- नवल किशोर प्रेस, कानपुर- 1910 (उर्दू)
4. अली, मोहम्मद अहद - शबाब-ए- लखनऊ-अल-नाजिर प्रेस लखनऊ-1912 (उर्दू)
5. अली काजिम - मिरातुल औजा- नवल किशोर प्रेस, लखनऊ 1921, (उर्दू)
6. अली, डॉ सरदत- तवारीख-ए- आसिफी-अल नाजिर प्रेस लखनऊ- 1914 (उर्दू)
7. अस्करी, मिर्जा मोहम्मद- तारीख-ए-अदब-ए-उर्दू-नवल किशोर प्रेस, लखनऊ-1929
8. अहमद, मोहम्मद तकी= वाजिद अली शाह- लखनऊ- 1845 (उर्दू)
9. अहमद, कलीमउद्दीन- उर्दू शायरी पर एक नजर- लखनऊ- 1466 (उर्दू)
10. अली, मोहम्मद नवाब- मारूफ-उल- नगमात- मुमताज-उल मतबा प्रेस, लखनऊ- 1920 (उर्दू)
11. आजाद, मोहम्मद हुसैन-आब-ए- हयात-सरफराज कौमी प्रेस, लखनऊ- 1938, (उर्दू)
12. अली, मोहम्मद, अहद- मुरक्कये अवध- जहीद प्रेस लखनऊ- 1912 (उर्दू)
13. अंसारी, मोहम्मद अलीखान- तारीख-ए- मुजफ्फरी- विक्टोरियाहॉल लाइब्रेरी, उदयपुर- 1800, (फारसी)

14. इलाहाबादी, मौलवी खैरूद्दीन- इबरतनामा- एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल- 1890, । उर्दू ।

15. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- कुल्लियात-ए-इंशा- नवल किशोर प्रेस, लखनऊ- 1876 ।उर्दू।

16- इंशा, इंशा उल्ला खाँ - सल्क-ए-गौहर- रजा लाइब्रेरी रामपुर 1948, । उर्दू ।

17. उल्लाह, शाह अली- शाहवली उल्लाह के सियासी मकतूबात-रजा लाइब्रेरी, रामपुर-1947।उर्दू।

18. उल्लाह, मोहम्मद वली-तारीख-ए- फर्रुखाबाद-एशियाटिक सोसायटी आँफ बंगाल-1906, ।उर्दू।

19. उमर, डाँ0 मोहम्मद- 18 वीं सदी में हिन्दुस्तानी मआशिरात, मीर का अहद. मकतबा जामिया लिमिटेड-1973, ।उर्दू।

20. उमर, डाँ0 मोहम्मद- हिन्दुस्तानी तहजीब का मुसलमानों पर असर, दिल्ली - 1976 , । उर्दू।

21. किशोर, मुंशीनवल -तवारीख-ए- नादिरूल अस्त्र-नवल किशोर प्रेस लखनऊ- 1863।उर्दू।

22. काकोरवी, शेख मोहम्मद अजमतअली- तवारीख-ए-मुल्क-ए-अवध, निजामी प्रेस, लखनऊ- 1986, ।उर्दू।

23. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन-हफ्त तमाशा- उर्दू अनुवाद- डाँ0 मोहम्मद उमर-दिल्ली- 1968,

24. कतील, मिर्जा मोहम्मद हसन- रूक्कात-ए- मिर्जा कतील- नवल किशोर कानपुर- 1881, । फारसी।

25. कमाल, शाह मोहम्मद-तजकिरा मजमुआ इंतखाब-अंजुमन तरक्की उर्दू लाइब्रेरी, अलीगढ़ , ।उर्दू।

26. करीमउद्दीन, मौलवी, तजकिरा तबकातुश शोयरा-ए-हिन्द, दिल्ली- 1948 ।उर्दू।

27. कन्नौज, मौलवी सैय्यद हुसैन-हिदायत -अल- मोमनीन- अंजुमन तरक्की उर्दू लाइब्रेरी , अलीगढ़ । उर्दू।

28. कुरैशी, डॉ0 वहीद- मीर हसन देहलवी और उनका जमाना-लाहौर- 1959, ।उर्दू।

29. कादरी, हामिद हुसैन- दास्तान-तारीख-ए- उर्दू-उर्दू-एकेडमी, सिंध-करांची 1966 ।उर्दू।

30. खान, अमजद, अली-तारीख-ए- अवध का मुख्तसर जायजा, सरफराज कौमी, प्रेस, लखनऊ- 1978, ।उर्दू।

31. खान, मोहम्मद कराम इमाम- मैदान-उल- मौसीकी- हिन्दुस्तानी प्रेस लखनऊ- 1925 । उर्दू।

32. खान, मोहम्मद मसीहुद्दीन-तारीख-उल- बुल्फी-औरंगाबाद,- 18880 ।उर्दू।

33. खान, नवाब मोहम्मद- मलफूज रजाकी- उर्दू अनुवाद- सैय्यद शाह गुलाम जीलान रज्जाकी -मुजतबाई प्रेस, लखनऊ 1935,

34. खान, शाहनवाज- मआसिरुल उमरा- अंग्रेजी अनुवाद-बेवरिज, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल- ।

35. खान, मोहम्मद अली- मीरात-ए-अहमदी- विक्टोरिया हाल, लाइब्रेरी, उदयपुर-।उर्दू।

36. खान, सैय्यद गुलाम हुसैन- सैरुल मुताखरीन- नवल किशोर प्रेस, लखनऊ- 1897।उर्दू।

37. खां, सैय्यद गुलाम अली- अम्माद-उस-सआदत- 1808 लखनऊ । उर्दू।

38. खुर्द, मीर- सैरुल औलिया-मुहिब्बेहिन्द प्रेस, दिल्ली 1801।उर्दू।

39. खां, गुलाम हुसैन -तारीख-ए- बनारस-आरियंटल पब्लिक लाइब्रेरी पटना- ।उर्दू।

40. इंशा, इंशा उल्ला खाँ- दरिया-ए-लताफत-उर्दू अनुवाद-मौलवी अब्दुल हक, दिल्ली- 1935।उर्दू।

41. गोपाल, महाराजा जय- जुबदतुल कवायफ- टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ विश्वविद्यालय, ।उर्दू।

42. गोपामवी, मोहम्मद कुदरतउल्लाह-तजकिरा नतायज-उल-अफकार अलीगढ़ विश्वविद्यालय।उर्दू।

43. छतरमन, राय -वहार-ए-मुलशन-विक्टोरिया हॉल, लाइब्रेरी उदयपुर, ।उर्दू।

44. जंका, सुबचन्द- अयुयारूल शोयरा-अंजुमन तरक्की उर्दू लाइब्रेरी, अलीगढ़ ।उर्दू।

45. जुर्रत, शेख कलन्दर बख्श- दीवान-ए- जुर्रत-कलेक्शन अब्दुल सलाम, अलीगढ़, विश्वविद्यालय।उर्दू।

46. जुर्रत, शेख कलन्दर बख्श- कुल्लियात-ए-जुर्रत-कलेक्शन-सुभान उल्लाह, अलीगढ़, विश्वविद्यालय।उर्दू।

47. तकी, मिर्जा मोहम्मद-आफताब-ए-अवध-टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ, "उर्दू।

48. तकी, मिर्जा मोहम्मद-तारीख-ए- आफताब-ए-उर्दू- टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ, ।उर्दू।

49. तमन्ना, मुंशी रामसहाय- अफजलुत तवारीख-टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ, 1958 ।उर्दू।

50. दास, भगवान- सफीना-ए-हिन्दी-उर्दू अनुवाद-अताउर्रहमान पटना- 198।उर्दू।

51. दास, हरचरन- वहार-ए-गुलजार-ए-शुजाई-अलीगढ़ विश्वविद्यालय, ।उर्दू।

52. देहलवी, मीर हसन- तजकिरा-शोयरा-ए-उर्दू-दिल्ली -1940, ।उर्दू।

53. देहलवी, मीर हसन, कुल्लियात-ए-मीर हसन, देहलवी-अलीगढ़ विश्व विद्यालय । उर्दू।

54. देहलवी, मीर हसन - मजमुआ मसनवियात मीर हसन- नवल किशोर प्रेस लखनऊ- 1945। उर्दू ।

55. दास, मुंशी बुलाकी- गुलदस्ता-ए-अवध- टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ।उर्दू।

56. नकवी, शिफ्त मोहम्मद - इन्तेखाब रेख्ती - उ0 प्र0 उर्दू एकेडमी, लखनऊ- 1983 । उर्दू।

57. नदवी, शि सैय्यद सुलेमान-मकालात सुलेमान-आजमगढ़- 1966।उर्दू।

58. प्रसाद, दुर्गा- बोस्तान-ए- अवध प्रकाशित-मकतबा-ए-दबदबा-ए-अहमदी- 1892, । उर्दू।

59. प्रसाद, मुंशी राम- हिन्दू त्यौहारों की असलियत-टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ।उर्दू।

60. फारूकी, डॉ0 ख्वाजा अहमद- मीर तकी मीर हयात और शायरी-अलीगढ़- 1954, ।उर्दू।

61. बारी, डॉ0 सैय्यद अब्दुल - लखनऊ के शेरो अदब का मआशिरी व सकाफती पसमंजर प्रकाशित -जी0एस0पी0 जी, कालेज, सुल्तानपुर। उर्दू।

62. बिलग्रामी ,मीर अब्दुल जलील- मसनवी मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी -नवल किशोर प्रेस लखनऊ- 1882।उर्दू।

63. बिलग्रामी, मीर गुलाम अली आजाद- मआसिरूल कराम-मुफीद आम प्रेस, आगरा 1910, ।उर्दू।

64. बिलग्रामी, जहीरूद्दीन असरार-ए-वाजिदी-नदवतुल उल्मा लाइब्रेरी लखनऊ।उर्दू।

65. बख्श, मोहम्मद - तारीख-फरहबख्श-टैगोर लाइब्रेरी- लखनऊ ।उर्दू।

66. मीर, मीर तकी - नुकातुश शोयरा- उर्दू अनुवाद- मौलवी अब्दुल हक-इलाहाबाद 1935।उर्दू।

67. मुसहफी- गुलाम हमदानी- अकद सुरैया- उर्दू अनुवाद मौलवी अब्दुल हक, बरकी प्रेस- दिल्ली- 1935,

68. मुफलिस, आनन्द राम- बहार-ए-चमन-टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ।उर्दू।

69. मुसहफी, गुलाम हमदानी-तजकिरा रियाजुल फसहा-उर्दू अनुवाद-मौलवी अब्दुल हक-बरकी प्रेस दिल्ली- 1934,

70. मुसहफी, गुलाम हमदानी- दीवान-ए-मुसहफी-रजा लाइब्रेरी-रामपुर 1906, । उर्दू ।

71. महजूर, सदउद्दीन- दीवानए-महजूर, अलीगढ़ विश्वविद्यालय।उर्दू।

72. मीर, मीर तकी - मीर की आपबीती" उर्दू अनुवाद- निसार अहमद फारूकी मकतबा बुरहान प्रेस, दिल्ली- 1957

73. मीर, मीर तकी, -कुल्लियात-ए-मीर तकी मीर- लखनऊ-1941, ।उर्दू।

74. मोहम्मद, मोलवी गुलाम- तजकिरा खुशनवीस-टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ ।उर्दू।

75. मुसहफी, गुलाम हमदानी -तजकिरा हिन्दी उर्दू अनुवाद अब्दुल हक, बरकी प्रेस, दिल्ली- 1933

76. मोहतसिम, एम०एम०-हिन्दुस्तानी मौसीकी-निजामी प्रेस, लखनऊ, 1939, ।उर्दू।

77. रंगीन, सआदत यार खाँ- मजलिस-ए-रंगीन-उर्दू अनुवाद- सैय्यद मसूद हसन रिजवी-लखनऊ- 1929,

78. रामपुरी, नजमुल गनी खाँ- तवारीख-ए-अवध-नवल किशोर प्रेस, लखनऊ 1919। उर्दू।

79. रिजवी, मसूदहसन- लखनऊ का शाही स्टेज- किताब नगर लखनऊ-1937,

80. लन्दनी अबू तालिब- तफ्जीहुल गाफलीन-अंग्रेजी अनुवाद-डब्ल्यू, हई, प्रकाशक- आबिद रजा बेदार, रामपुर- 1965,

81. लतीफ, मिर्जा अली- तजकिरा गुलशन-ए-हिन्द-अलीगढ़ विश्वविद्यालय, ।उर्दू।

82. लाल जी, सुल्तान-उल- हिकायत-रामनगर बनारस- 1853, ।उर्दू।

83. लखनवी, मौलाना सैय्यद आगा मेंहदी- तवारीख-ए-लखनऊ- टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ ।उर्दू।

84. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग फसाना-ए-आजाद इसरार करीमी प्रेस, इलाहाबाद 1969, ।उर्दू।

85. सरशार, रतन नाथ- फसाना-ए- आजाद- टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ

86. सरूर, मिर्जा रजब अली बेग- फसाना-ए- इबरत- लखनऊ 1957 (उर्दू)

87. सलीम, गुलाम हुसैन-रियाजुस्सलातीन-अंग्रेजी अनुवाद-डब्ल्यू हइ, कलकत्ता- 1902

88. संधानी, हरनाम-तारीख- सआदत जावेद- नवल किशोर प्रेस, लखनऊ 1808 (उर्दू)

89. सौदा, मिर्जा मोहम्मद रफी- कुल्लियात-ए- सौदा-नवल किशोर प्रेस, लखनऊ - 1932 (उर्दू)

90. शरर, अब्दुलहलीम- गुजस्ता लखनऊ- निजामी प्रेस, लखनऊ- 1974, (उर्दू)

91. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ के तमद्दुन का आखिरी नमूना- निजामीप्रेस, लखनऊ - 1975 (उर्दू)

92. शाह, वाजिद अली- मसनवी वाजिद अलीशाह- अंजुमन तरक्की उर्दू, अलीगढ, (उर्दू)

93. सिद्दीकी, अबू लैस- लखनऊ का दबिस्तान-ए- शायरी -अलीगढ़ विश्वविद्यालय 1946 (उर्दू)

94. सन्दीलवी, डॉ0 शुजाअत अली तआरफ-तारीख- जबान-ए-उर्दू- अलीगढ़ विश्वविद्यालय (उर्दू)

95. सरूर, आले अहद-नए पुराने चिराग- टैगोर लाइब्रेरीलखनऊ (उर्दू)

96. सुल्ताना, डॉ राफिया- उर्दू नस्त्र का आगाज और इरतका- अलीगढ़ विश्वविद्यालय (उर्दू)

97. शरफ, आगा हज्जू- अफसानये लखनऊ- नदवतुल उल्मा, लखनऊ (उर्दू)

98. शहाबी, मुफ्ती इंतजामुल्ला- बेगमात-ए-अवध के खुतूत-टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ, (उर्दू)

99. हैदर, मोहम्मद अली- तजकिरा-ए- मआसिर-ए-काकोरी-लखनऊ - 1947 ।उर्दू।

100. हैदर , सैय्यद-कमालुद्दीन- सवानेहयात सलातीन-ए-अवध- नवलकिशोर प्रेस लखनऊ- 1876।उर्दू।

101. हम्जा, सैय्यद-कासिफुल अख्तार-अलीगढ़ विश्वविद्यालय

102. हुसैन, सैय्यद मजहर-तारीख-ए- बनारस-सुलेमानी प्रेस, बनारस- 1910 ।उर्दू।

103. हसरत, जाफर अली दीवान-ए- हसरत-इजा लाइब्रेरी, रामपुर।उर्दू।

104. डॉ0 हुसैन सैय्यद सुलेमान- लखनऊ के चन्द नामवर शोयरा- सरफराज कौमी प्रेस लखनऊ- 1973, ।उर्दू।

105. हुसैन , शेख तसद्दुक- बेगमात-ए- अवध सरफराज कौमी प्रेस, लखनऊ 1973, ।उर्दू।

106. हुसैन, डॉ0 सैय्यद सफ्दर-मर्सिया बद-ए-अनीस-अलीगढ विश्वविद्यालय ।शोध प्रबन्ध।, ।उर्दू।

107. हुसैन, एहतेशाम- हिन्दुस्तानी लिसानियत का खाका- ऐश महल, लखनऊ ।1948। ।उर्दू।

108. हाशिमी, डॉ0 नुरूल हसन-दिल्ली का दबिस्तान -ए- शायरी-उ0प्र0 उर्दू एकेडेमी , लखनऊ - 1980,

अंग्रेजी ग्रंथ :


1. अली, श्रीमती मीर हसन - आब्जरवेशन ऑन द मुसलमान आफ इण्डिया- आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस- लन्दन- 1917- गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ

2. अलेक्जेण्डर ,डॉन - हिन्दी ऑफ हिन्दुस्तान- लन्दन 1919-गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ ।

3. अहमद, शफी- टू किंग्स ऑफ अवध- मोहम्मद अली शाह एण्ड अमजद अलीशाह, टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ ।

4. अहमद मोहम्मद तकी - नासिरूद्दीन हैदर, किंग ऑफ अवध-टैगोर लाइब्रेरी लखनऊ ।

5. अहमद , शफी - ब्रिटिश एग्रेसन इन अवध-मीनाक्षी, प्रकाशन,मेरठ- 1961

6. आर्चर, डब्ल्यू. जी.- इण्डियन पेंटिग्स फॉर द ब्रिटिश-आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस लन्दन- 1955, गिरि इंस्टीट्यूट लखनऊ ।

7. बर्नेट, रिचर्ड बी - नार्थ इण्डिया बिटवीन एम्पायर्स- अवध, मुगल , ब्रिटिश-गिरि इंस्टीट्यूट लखनऊ- 1980,

8. बृज भूषण - द कस्टम्स एण्ड टेक्सटाईल्स ऑफ इण्डिया- बम्बई-1958,

9. बृज भूषण- इण्डियन ज्वेलर्स आर्नामेंट -बम्बई - 1970,

10. बर्नेट एण्ड ग्रिफ - द साइकोलाजी ऑफ आर्ट एण्ड लिटरेचर-गिरि-इंस्टीट्यूट लखनऊ- 1970,

11. बेली, ई0 एस0 - हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ 1973 ,

12. बासु, पूरेन्दु - अवध एण्ड द ईस्ट इण्डिया कम्पनी (1785-1801) लखनऊ 1973,

13. बर्ड, आर0 डब्ल्यू- द स्पोलेशन ऑफ अवध-टैगोर लाइब्रेरी-लखनऊ ,

14. बेनेट, डब्ल्यू0 सी0-ए रिपोर्ट ऑन द फेमिली हिस्ट्री ऑफ द चीफ क्लेन्स ऑफ द रायबरेली डिस्ट्रिक्ट - अवध गवर्नमेंट प्रेस, लखनऊ 1870,

15. भट्टाचार्या, आर0- ए हिस्ट्री ऑफ माडर्न इण्डिया - आशीश पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

16. भवानी, ई0- द डान्स इन इण्डिया- तारापोरवाला एण्ड संस- बम्बई- 1965,

17. भटनागर, जी0डी0-अवध अण्डर वाजिद अली शाह-अरूण प्रेस, वाराणसी- 1968,

18. चोपड़ा, पी0 एन0- सोसायटी एण्ड कल्चर इन मुगल एज- आगरा- 1955,

19. डेविडसन-, ए डायरी ऑफ ट्रेवल्स एण्ड एडवेंचर इन अपर इण्डिया -गिरि इंस्टीट्यूटर लखनऊ- 1843,

20. इरविन, एच0 सी0- गार्डन ऑफ इण्डिया और चैप्टर ऑफ अवधहिस्ट्री, गिरि इंस्टीट्यूट लखनऊ- 1880,

21. इलियट, सी. ई.- द क्रोनोक्लिस ऑफ उन्नाव, ए डिस्ट्रिक्ट इन अवध इलाहाबाद-इलाहाबाद 1862,

22. फोस्टर, जार्ज - जर्नी, फ्रॉम बंगाल टू इंगलैण्ड-गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ 1808,

23. गोखले, बी0जी0- एनशियेंट इण्डिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर-एशिया पब्लिशिंग हाउस लन्दन- 1959, लखनऊ,

24. हई, एस0 अब्दुल -इण्डिया ड्यूरिंग मुस्लिम रूल- एकेडमी ऑफ इस्लामिक, रिसर्च, एण्ड पब्लिकेशन, लखनऊ,

25. हेज, विलियम-हिस्टोरिक लखनऊ- गिरि इंस्टीट्यूट लखनऊ- 1913,

26. हुसैन, शेख तसद्दुक-गाइड टू लखनऊ -टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ,

27. हॉयल, पिजी - इण्डियन म्यूजिक- गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ- 1972,

28. हई, विलियम- मेमोरीस ऑफ डेलही एण्ड फैजाबाद- इलाहाबाद-1888,
29. हई, विलियम- हिस्ट्री ऑफ आसफउद्दौला: नवाब वजीर ऑफ अवध- इलाहाबाद - 1885,
30. जाफरी, एण्डकादरी- गालिब एण्ड हिज पोयट्री-पापुलर प्रकाशन - बम्बई - 1970,
31. किदवई, इकरामउद्दीन - लखनऊ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट- टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ, 1951,
32. किदवई, इकरामउद्दीन- लखनऊ एट द मेडिविल कोर्ट ऑफ अवध- टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ,
33. कादिर, सर अब्दुल - फेमस उर्दू पोएट्स एण्ड राइटर्स- अलीगढ़, विश्व-विद्यालय,
34. लैबी, आर० - एन इंट्रोडक्शन टू परसियन लिटरेचर-गिरि इंस्टीट्यूट लखनऊ- 1923,
35. लतीफ, डॉ० अब्दुल - इन्फ्लूएंस ऑफ इंगलिश ऑन उर्दू लिटरेचर-गिरि इंस्टीट्यूट 1958,
36. मुखर्जी, डॉ० आर०- अवध इन रिवोल्ट-आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, दिल्ली- 1984,
37. मजूमदार, आर० सी० - एन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-मैकमिलन, लन्दन- 1948,
38. मोहम्मद, सादिक- हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर-आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1964,
39. महमूद, सैय्यद -गालिब ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन-पंजाब विश्वविद्यालय- 1964,
40. नेसफील्ड- ब्रीफ रिव्यू ऑफ द कास्ट सिस्टम्स ऑफ द नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध, टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ,

41. पेम्बेल, जॉन - द राज, दइण्डियन म्युटनी एण्ड द किंगडम ऑफ अवध- आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1979,

42. रीब्स, पी0 डी0 - स्लीमन इन अवध आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली- 1971,

43. रोस, सर ई0 डेनीसन-हिन्दू मोहम्मडन फियेस्ट एण्ड फेस्टिवेल- कलकत्ता- 1914,

44. रोस, जी0एच0 लखनऊ एलबम-बैपटिस्ट मिशनप्रेस, कलकत्ता - 1874,

45. श्रीवास्तव, ए0 एल0 - द फर्स्ट टू नवाब्स ऑफ अवध - आगरा - 1954,

46. श्रीवास्तव, ए0 एल0 - नवाब शुजाउद्दौला- द मिडलैण्ड प्रेस - कलकत्ता- 1939,

47. शरर, अब्दुल हलीम- लखनऊ : द लास्ट फेस आफ एन ओरियंटल कल्चर- अंग्रेजी अनुवाद- डॉ0 ई0 एस0 हारकोर्ट, फाकिर हुसैन-गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ - 1975,

48. शंकर, पण्डित रवि- माई -म्यजिक, माई लाइफ- विकास पब्लिशिंग हाउस दिल्ली 1978,

49. सक्सेना, रामबाबू- हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर- राम नारायण प्रेस- इलाहाबाद 1927,

50. स्लीमन, डब्ल्यू. एच0 -ए जर्नी थ्रू द किंगडम ऑफ अवध- टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ, 1890,

51. ट्वेनिंग, थामस- ट्रेवल्स इन इण्डिया-ए हन्ड्रेड इयर एज-टैगोर लाइब्रेरी, लखनऊ- 1892,

52. तलवार, मीना- द मेकिंग ऑफ कोलोनाइल, लखनऊ ,- गिरि इंस्टीट्यूट, लखनऊ

हिन्दी - ग्रंथ :

1. अग्रवाल , श्रीमती शारदा- आधुनिकअवसंस्कृति- एशिया प्रकाशन इलाहाबाद- 1977,

2. अमन, गोपीनाथ - उर्दू और उसका साहित्य- इलाहाबाद - 1981,

3. हुसैन, डॉ० युसूफ मध्य युगीन भारतीय संस्कृति की एक झलक भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ,

4. हुसैन, एहतेशाम- उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988,

5. चोपड़ा, पुरी दास- भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास मैकेमिलन इण्डिया लिमिटेड दिल्ली 1975,

6. चतुर्वेदी, परशुराम- भारतीय संतों की परम्परा-इलाहाबाद विश्व-विद्यालय 1983,

7. गोडबोले, मधुकर, गणेश- तबला शास्त्र अशोक प्रकाशन- इलाहाबाद- 1981,

8. बृहस्पति, आचार्य- संगीत चिन्तामणि - संगीत प्रेस, हाथरस, उ०प्र०,

9. राम सीताराम - अयोध्या का इतिहास - कायस्थ पाठशाला-प्रेस-इलाहाबाद , 1932,

10. राम, सीताराम - श्री अवध की झाँकी, कायस्थ पाठशाला प्रेस, इलाहाबाद- 1933,

11. श्रीवास्तव, प्रो० हरिश्चन्द्र राग -परिचय- संगीत सदनप्रकाशन-इलाहाबाद 1933,

12. वर्मा, डॉ० परिपूर्णानन्द-नवाब वाजिद अलीशाह और अवध राज्य का पतन- प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उ०प्र० इलाहाबाद- 1959,

13. वर्मा, हरिश्चन्द्र- मध्यकालीन भारत -हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय नई दिल्ली- 1983,

14. डॉ0 नगेन्द्र- हिन्दी साहित्य का इतिहास - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1976,